जैन दर्शन और संस्कृति परिषद्

प्रथम अधिवेशन (सन् १९६४)

की

कार्यवाही

संयोजक :

मोहनलाल बांठिया

जैन दर्शन और संस्कृति परिषद्

श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी सभा

के तत्वावधान में हुए

प्रथम अधिवेशन (बीकानेर) की कार्यवाही

दिनांक २५ अक्टूबर १९६४ का

प्रथम खुला अधिवेशन

बीकानेर, २५ अक्टूबर ६४। प्रातः रेलवे स्टेशन के समक्ष 'अणुव्रत पण्डाल' में 'जैन दर्शन और संस्कृति परिषद्' का खुला अधिवेशन आचार्य श्री तुलसी के सान्निध्य में उनके मंगल सूत्रोच्चारण के साथ प्रारम्भ हुआ। कार्यवाही प्रारम्भ करने के पूर्व श्री पारमार्थिक शिक्षण संस्था की बहिनो ने मंगल गीत गाये। सर्वप्रथम श्री शैलकुमारी बोथरा ने संस्कृत पद्यों का वाचन किया; तदनन्तर श्री मोहनलालजी बांठिया ने स्वागत भाषण पढ़ते हुए अपने संक्षिप्त विचार प्रस्तुत किये।

श्री गोपीचन्द जी चोपड़ा ने संयोजकीय वक्तव्य में दर्शन की तुलना गौ के दुग्ध से करते हुए कहा कि जिस प्रकार गौ का दुग्ध स्वयं सुपाच्य होता है किन्तु वह जब हलवाइयो के पास चला जाता है तो दुष्पाच्य बन जाता है, उसी प्रकार दर्शन विद्वानों के पास जाकर जटिल व दुष्पाच्य हो जाता है, वस्तुतः दर्शन अपने आप में सरल व बोधगम्य है; अपेक्षा है उसके हार्द को समझने की।

तदनन्तर श्री मोहनलाल जी बांठिया ने इस अवसर पर आए लगभग २५ स्थानों के जैन व जैनेतर विद्वानों के शुभ कामना-संदेश पढ़कर सुनाये।

तत्पश्चात् श्री छगनलाल शास्त्री ने दर्शन परिषद् के प्रति शुभकामना प्रकट की। नालन्दा तथा वैशाली विद्यापीठों के डायरेक्टर डा० नथमल जी टांटिया डी० लिट्० ने जैनों के दार्शनिक इतिहास पर दीर्घ व गम्भीर विवेचनात्मक भाषण दिया जिसकी जैन व अजैन सभी विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की।

मुनिश्री नगराज के तात्विक प्रवचन के पश्चात् आचार्य प्रवर ने अपने प्रवचन में कहा कि अणुव्रत आन्दोलन के १५ वें वार्षिक समारोह के अनन्तर ही दर्शन परिषद् का यह कार्यक्रम मानस सम्बन्धी अनेक आवश्यक व महत्वपूर्ण समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है। जीवन में संयम किस प्रकार अपनाया जाय या स्वयं को संयमित किस प्रकार बनाया जाय इसे जानने में अणुव्रत आन्दोलन सक्षम बनाता है तो दर्शन परिषद् का कार्यक्रम संयम को स्थिर रखने के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालता है, और इसलिए यह रुचिकर भी है। कुछ लोगों की धारणा में दर्शन का विषय सामान्य जनता की अभिरूचि का नहीं है। पर मेरे विचार में दर्शन को दुष्पाच्य आज बना दिया गया है जिससे वह साधारण जनता की रुचि का विषय नहीं रह पाया है। आज आवश्यकता है कि इसे अधिक से अधिक सुपाच्य बना कर जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत किया जाय। इस प्रकार की मेरी आकांक्षा कई वर्षों से थी। उसीके परिणाम स्वरूप गतवर्ष लाडनूं से यह कार्य प्रारम्भ हुआ जिसमें आंशिक सफलता मिली है। मुझे पूरा विश्वास है कि इसके द्वारा विद्यार्थियों और विद्वानों में एक विशेष अभिरुचि उत्पन्न की जा सकेगी।

आचार्यप्रवर ने अपने भाषण में आगे बोलते हुए कहा—दर्शन का तात्पर्य है दृष्टि। आर्थिक, सामाजिक या राजनैतिक किसी भी क्षेत्र में तत्तद्-विषयक दृष्टि के बिना सफलता संदिग्ध रहती है तो धार्मिक क्षेत्र में इसके बिना सफल होने की कल्पना कैसे की जाय?

दृष्टि-दृष्टि में भी सिद्धान्त की भाषा में 'छट्ठाणवड़िया' अन्तर है—अर्थात् एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति की दृष्टि में अनन्त गुण तारतम्य रह सकता है, इसलिए जैन तीर्थंकरों ने हमें सूक्ष्म दृष्टि देते हुए कहा—सबसे पहिले स्वयं को देखो। जो एक को देख लेता है वह सबको देख लेता है।

अन्य दार्शनिकों ने भी अपने इष्ट देव के लिए कहा है—'सर्वं पश्यतु वा मा वा, तत्वमिष्टं तु पश्यति'। अन्य कीट, पतंगों का ज्ञान भले ही वे करें, अपने इष्ट तत्व को तो देखते ही हैं। तात्पर्य यह है कि अपनी आत्मा से बढ़ कर और इष्ट तत्त्व क्या हो सकता है? इस अपेक्षा से जैन दर्शन को हम आत्म-दर्शन कह सकते हैं।

जैनागमों में बताया गया है—आत्मा के दो प्रकार हैं—द्रव्य तथा भाव। द्रव्य आत्मा असंख्य प्रदेशात्मक होती है, उन असंख्यात प्रदेशों को विभाजित नहीं किया जा सकता। भाव आत्मा के विविध रूप हैं। संक्षेप में द्रव्य आत्मा एक है और भाव आत्माएँ सात हैं। आचार्यश्री भिक्षु स्वामी ने एक 'अनेरी आत्मा' का भी प्रतिपादन किया है जिसमें उपरोक्त आत्माओं के अतिरिक्त अन्य कोई भी भावात्मा समाविष्ट हो सकती है। इस प्रकार आत्मा के विविध रूपों को पहचान लेने के पश्चात् यह जानना उपयुक्त होगा कि आत्मा बद्ध है या मुक्त? यदि वह बद्ध है तो उसे मुक्त करने के क्या उपाय हैं? इन प्रश्नों के समाधान के लिए हमें आश्रव और संवर के भेद-प्रभेदों पर भी विचार करना होगा और यों आत्मा के रहस्यों का अन्वेषण करते-करते हम मोक्ष तत्त्व के प्रांगण तक पहुंच जायेंगे। इसलिए प्रत्येक कार्य का शुभारम्भ अपनी आत्मा से ही करना चाहिये।

आत्मा अमर है या मरणधर्मा? अभी एक वक्ता ने कहा—आत्मा अमर है। पर जैन दर्शन का सिद्धान्त है—प्रत्येक बात को अपेक्षा से समझो। इस दृष्टि से आत्मा क्या, संसार का प्रत्येक पदार्थ अमर है। मृत्यु का अर्थ नाश हो जाना, न कि अत्यन्ताभाव हो जाना है। दीपक बुझ गया तो प्रकाश का अभाव हो गया किन्तु अन्य परमाणु तो विद्यमान ही हैं। इस दृष्टि से आत्मा अमर है और मरणधर्मा भी। इसी प्रसंग का सूक्ष्म विश्लेषण श्रीमज्जयाचार्य ने अपने 'झीणी चरचा' नामक ग्रन्थ में किया है। वहां गुणस्थान के आधार पर यह चर्चा चली है। कर्म विशोधि के आधार पर आत्मा का जो क्रमिक विकास होता है उसे गुणस्थान कहते हैं। उसके १४ भेद हैं। उसमें तीन गुणस्थान—१३ वां, १२ वां और ३रा ऐसे हैं जहाँ पर मृत्यु नहीं होती, क्योंकि १२वें और १३वें गुणस्थान में आने के बाद १४वें गुणस्थान में आना अवश्यम्भावी और ३ रे मिश्र गुणस्थान में अनिर्णायक स्थिति होने के कारण किधर जाना है, यह निश्चय ही नहीं हो पाता और पूर्व निश्चय के बिना मृत्यु भी नहीं होती। अतः इन उपरोक्त

गुणस्थानों की अपेक्षा से आत्मा अमर है। इसी प्रकार दूसरा प्रश्न है—आत्मा शाश्वत है या अशाश्वत ? इसे भी गुणस्थानों के आधार पर ही सुलझायें तो प्रथम, तृतीय, पांचवां, छट्ठा और तेरहवां ये पाँच गुणस्थान शाश्वत हैं अर्थात् इन पांच गुणस्थानों में कोई भी जीव न रहे, ऐसा सम्भव नहीं हो सकता।

इस प्रकार दर्शन सम्बन्धी तत्त्वों में ज्यों-ज्यों गहरे उतरते हैं त्यों-त्यों नई-नई दृष्टियाँ हमारे सामने आती जाती हैं। इन सब दृष्टियों के पीछे लक्ष्य एक ही है—बन्धनमुक्त होना। जिसके लिये धर्म अमोघ साधन है। मेरी दृष्टि में जो आचार, जो विचार, जो व्यवहार और जो चिन्तन संसार के प्रपंचों से ऊपर उठाता है और मोक्ष के निकट ले जाता है वही वास्तविक धर्म है। मैं धर्म को मुक्त तथा सम्प्रदायातीत मानता हूँ।

आचार्यश्री ने अन्त में आशा व्यक्त की कि जैन परिषद् का यह चतुर्दिवसीय कार्यक्रम उपरोक्त दर्शन एवं धर्म जैसे गूढ़ विषयों को सरल व सुबोध रूप देकर सभी लोगों की ज्ञान-मन्दाग्नि को तीव्र बनाने का प्रयास करेगा।

अन्त में परिषद् के संयोजक श्री बांठिया जी द्वारा आभार प्रदर्शन के साथ प्रातःकालीन कार्यक्रम की समाप्ति हुई।

मध्यान्हकालीन अन्तरंग अधिवेशन

दिनांक २५ अक्टूबर ६४ : मध्यान्ह में 'लाल कोटड़ी' में आचार्यश्री के सान्निध्य में दर्शन परिषद् का प्रथम अन्तरंग अधिवेशन हुआ। आचायप्रवर द्वारा मंगल सूत्रपाठ के साथ कार्यवाही आरम्भ हुई। गोष्ठी में विद्वन्मण्डली के अतिरिक्त अन्य अनेक जिज्ञासु भाई बहिनों की उपस्थिति भी काफी संख्या में थी।

इस बैठक में निम्नलिखित ३ शोध-लेखों का वाचन हुआ।

विषय	प्रवक्ता
१—प्राकृत साहित्य	डा० सतरंजन बनर्जी, पी-एच०-डी०
२—'अपभ्रंश साहित्य'	श्री देवेन्द्रकुमार जैन, शास्त्री
३—श्रमण संस्कृति पर एक तुलनात्मक परिशीलन	मुनिश्री दुलीचंदजी 'दिनकर'

(तीनों पत्र इसी रिपोर्ट के साथ प्रकाशित किए जा रहे हैं।) प्रत्येक पत्र के वाचनोपरान्त प्रश्नोत्तर का कायक्रम रहा।

अन्त में आचार्यप्रवर ने अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा—आज अध्ययन का क्षेत्र बहुत विशाल बनता जा रहा है। प्रतिवर्ष अनेकों शोधपत्र हमारे सामने आते हैं। फिर भी अभी तक अगणित ऐसे विषय अछूते पड़े हैं जिनपर अनेकों शोध पत्र तैयार किये जा सकते हैं। इस दृष्टि से परिषद् का यह कार्यक्रम काफी उपयोगी है। इसमें जहां तक एक व्यक्ति का शोध-प्रबन्ध अनेक व्यक्तियों के लिए शोध का पथ प्रशस्त करता है वहां पाठक को अपने शोध में परिमार्जन की प्रेरणा तथा श्रोताओं को श्रुताराधना का विशेष अवसर देता है। इसलिये इस अधिवेशन का होना परम प्रसन्नता का विषय है। किन्तु, साथ ही कुछ खेद भी है कि अभी तक जैनों का ऐसा कोई भी ठोस एवं सुदृढ़ मंच नहीं बन पाया है जिसकी आवाज सर्वत्र समान रूप से पहुँच सके। अतः इसे मैं बहुत कमी और अखरने जैसी बात मानता हूँ। अपेक्षा है, सभी जैन बन्धु सम्मिलित रूप से एक ऐसा प्रयोग जन-साधारण के सम्मुख प्रस्तुत करें जिससे विद्वानों को प्रोत्साहन के साथ-साथ जैन-संस्कृति, कला, इतिहास एवं भाषा सम्बन्धी अनेक गुप्त रहस्यों को प्रकाश में आने का सुअवसर मिलेगा।

अन्त में संयोजक द्वारा आभार प्रदर्शित करने के बाद कार्यक्रम की समाप्ति की गई।

रात्रिकालीन अन्तरंग अधिवेशन

रात्रि में 'लाल कोठड़ी' के पण्डाल में आचार्यश्री के सान्निध्य में 'जैन दर्शन एवं संस्कृति परिषद्' का द्वितीय अन्तरंग अधिवेशन भाषण गोष्ठी के रूप में रखा गया। सर्वप्रथम कमला-विमला बहिनों द्वारा मधुर गान गाये जाने के बाद कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया।

श्री इन्द्रचन्द्रजी शास्त्री ने 'संस्कृति के मूल' विषय पर अपने विचार व्यक्त किये। (यह भाषण निबंध रूप में इसी रिपोर्ट के साथ प्रकाशित किया जा रहा है।)

डा० जैन ने 'राजस्थान में जैन धर्म' विषय पर अपने विचार रखते हुए कहा—राजस्थान में जैन धर्म का प्रचार सबसे अधिक ८ वीं शती में हुआ। यहां पर हरिभद्र, हेमचन्द्र जैसे अनेक बड़े-बड़े आचार्य हुए जिन्होने समाज को नैतिकता या हृदयग्राही उपदेश दिया, लाखों व्यक्तियों को जैन धर्म से प्रभा-

वित कर इस धर्म में शामिल किया और जैन धर्म का बहुल प्रचार प्रसार किया।

राजस्थान में कलात्मक मन्दिर, जैन साहित्य आदि विपुल मात्रा में उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त जितने भी विशिष्ट संघ और गच्छों का वर्णन प्राप्त होता है वे सभी राजस्थान की ही देन है। भ० महावीर के समय में भी राजस्थान में जैन धर्म प्रचलित था ; लेकिन यह बहुत पीछे के आधारों पर मिलता है। ऐसा वर्णन भी मिलता है कि भ०महावीर धर्म-प्रचारार्थ श्रीपाल-नगर पधारे थे और वहां उन्होंने गौतम गणधर को जैन बनाया। अतः इस परिणाम पर पहुँचा जा सकता है कि उस समय भी जैन धर्म का प्रचार यहाँ हुआ था।

जैनों का सबसे प्राचीन शिलालेख 'बड़ले' में मिलता है। इसके अतिरिक्त मथुरा, उदयपुर आदि राजस्थान के सभी प्रमुख-प्रमुख स्थलों में जैन धर्म सम्बन्धी अनेक कलात्मक वस्तुएं देखी जा सकती हैं। मौर्यों के बाद भी यह सिद्ध किया जाता है कि चन्द्रगुप्त भी जैन धर्म का अनुयायी था। १५ वीं शती के एक कवि ने कहा है कि अशोक जैनों का तथा बौद्धों का सम्राट् माना जाता था। यह भी जानने को मिलता है कि जिस प्रकार राजा सम्प्रति ने धर्म का प्रचार किया था। उसी प्रकार अशोक ने जैन धर्म का प्रचार-प्रसार किया था। इससे आगे यूनानी लोगों से भी पश्चिमी भारत में जैन धर्म की क्या स्थिति रही इसके विषय में सम्पूर्ण विवरण मिलता है। सबसे अधिक जैन धर्म का प्रचार जयसिंह कुमारपाल के समय में हुआ था, उनकी यह हार्दिक इच्छा थी कि जैन धर्म एक आदर्श धर्म के रूप में तैयार हो। उन्होंने इस सम्बन्ध में काफी प्रयास किया, जिसके फलस्वरूप जैसलमेर आदि स्थानों में काफी धम-प्रचार कार्य हुआ जिससे यह स्थान जैनों का गढ़ माना जाता है।

इसके अनन्तर प्रश्नोत्तरों का भी कार्यक्रम चला।

द्वितीय दिवसीय कार्यवाही

दिनांक २६-१०-६४ : प्रातः 'लाल कोठड़ी' में आचार्यश्री के सान्निध्य में जैन दर्शन एवं संस्कृति परिषद् के दूसरे दिन का कार्यक्रम रखा गया। आचार्यश्री के मंगल पाठ व मुनिश्री दुलीचन्दजी की गीतिका के पश्चात् कार्य-वाही प्रारम्भ की गई।

कार्यक्रम के अनन्तर ३ शोध लेख पढ़े गये :—

विषय	प्रवक्ता
१—आर्यों का एकीकरण	—श्री रामचन्द्रजी जैन, एडवोकेट
२—अजैन न्याय को जैन दर्शन की देन	—श्री अनन्तलाल ठाकुर
३—आत्मा व पुद्गल की वास्तविकता (अंग्रेजी)	—मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'द्वितीय'

लेखों के वाचनोपरान्त बीच-बीच में प्रश्नोत्तर भी चलाए गए। उपस्थित जनसमूह कार्यक्रम में काफी उत्साह दिखा रहे थे। बड़े शांत वातावरण में सभी दत्तचित्त हो श्रुताराधना का लाभ ले रहे थे।

मध्यान्हकालीन गोष्ठी

मध्यान्ह में पुनः आचार्यश्री के सान्निध्य में एक गोष्ठी रखी गई। कार्यक्रम का प्रारम्भ आचार्यप्रवर के मंगलसूत्र के साथ हुआ।

उक्त अवसर पर ३ शोधपूर्ण लेखों का पठन हुआ :—

१—श्रमण संस्कृति का हार्द —श्री एल० के० भारतीय

२—जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले वृक्ष —साध्वीश्री कनकप्रभाजी

३—उपनिषदों का श्रमण संस्कृति पर प्रभाव —मुनिश्री नथमलजी (वाचक—श्री मोहनलाल बांठिया)

लेखों के वाचन के पश्चात् कई प्रश्नोत्तर चलाए गये। मुनिश्री नथमलजी ने उक्त विषय को अपने लेख में बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया है, जिसके आधार पर कई ऐतिहासिक प्रमाण हमें नवीनता के रूप में प्राप्त हुए हैं। लेख की भाषा-शैली अत्यन्त प्राञ्जल एवं शोध पूर्ण है। इस प्रकार अन्य विद्वानों ने भी अपने लेख में कई नवीन बातों का दिग्दर्शन करवाया है जो बड़ी ही महत्त्वपूर्ण हैं। साध्वीश्री ने अपने लेख में वृक्ष के आधार पर आवश्यकताओं की पूर्ति का वर्णन अत्यन्त शोधपूर्ण ढंग से किया है। आज भी कई ऐसे स्थान मौजूद हैं जहाँ इस पकार के वृक्ष पाए जाते हैं। प्रकृति की अनोखी देन का इस लेख में बहुत ही सुन्दर ढंग से चित्रण किया गया है।

रात्रिकालीन गोष्ठी

रात्रि में पुनः आचार्यश्री के सान्निध्य में भाषण गोष्ठी रखी गई विद्वानों व साधु-सन्तों के अतिरिक्त काफी संख्या में भाई-बहिन भी उपस्थित थे। कार्य-क्रम बड़े ही शान्त वातावरण में प्रारम्भ हुआ।

श्री के०सी० जैन ने 'नव्य श्रमण विचार धारा' विषय पर बोलते हुए कहा—७०-७५ वर्ष पूर्व जब भारत में शोध कार्य प्रारम्भ किया गया था तब ग्रान्थाचें में लिखा था कि जैन धर्म बौद्ध धर्म की ही एक शाखा है। अंग्रेजों का कहना है कि विदेशी विद्वान् ऐसा मानते भी थे। कुछ आगे रिसर्च का कार्य बढ़ा। अंग्रेजी विद्वान् जिनियम ने लिखा है कि जैन धर्म बौद्ध धर्म की शाखामात्र ही नहीं है किन्तु दोनों साष्टांग हैं। जैन समाज में सबसे बड़ी क्रान्ति डा० जेकोबी के समय में हुई थी; वह जर्मन विद्वान था। उस समय प्राच्य विद्वानों में वह सबसे बड़ा विद्वान् माना जाता था। उसने जैन साहित्य और बौद्ध साहित्य द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया है कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से भी प्राचीन है। उस समय यह बात बड़ी आश्चर्यजनक लगी, पर उन्होंने प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध कर दिखाया। हालांकि अभी भी इस पर शोध कार्य चल रहा है।

वैदिक मान्यता के अनुसार कुछ ऐसे विषय मिलते हैं जिससे यह मालूम होता है कि जैनों की संस्कृति पार्श्वनाथ तक ही नही है, उससे पूर्व की भी हो सकती है। शायद बीच की संस्कृति पौराणिक है। तीर्थंकर पौराणिक हैं और यह भी नहीं माना जा सकता कि ऋषभदेव पौराणिक हैं।

आगे उन्होने कहा—विद्वानों द्वारा इसकी अन्तर्राष्ट्रीय खोज की गई है। धीरे-धीरे शोधकार्यों में वृद्धि हुई और विश्वविद्यालयों में इसका अध्ययन होने लगा। आर्यों की जितनी प्रशंसा की जाती है वह महत्व की नहीं है। प्रश्न उठता है, भारत में इतनी ऊँची आदर्श की बातें जो मिलती हैं वे कहाँ से मिलती हैं? अध्यात्म संस्कृति के द्वारा ही तो मिलती हैं। इस सम्बन्ध में काफी खोज हुई है। मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, मेरठ, गुजरात आदि स्थलों में आज से ४॥ हजार वर्ष पूर्व उच्च सभ्यता का निवास था, क्या उस समय सारे कार्य व्यवस्थित थे? आधुनिक कदम बढ़े। आज से ५ हजार वर्ष पूर्व ये सारी लिपियाँ लुप्त हो गईं थीं, यहाँ तक कि नागरिक सभ्यता भी लुप्त हो गई थी, मकान आदि भी कुछ लुप्त हो गये थे; इन सब का आवरण ईसा की ५वी शताब्दी से होता है। अस्तु, इस प्रकार बहुत-सी खोज बाकी है। सभी विद्वानों को चाहिये कि वे इस प्रकार के खुदाई के स्थलों की खोज कर नवीन तथ्यों को प्रकट करें।

श्री रामचन्द्र जैन एडवोकेट ने अपनी 'नव्य श्रमण विचारधारा' पर प्रकाश डालते हुए कहा—इतिहास की पुनर्व्याख्या करने से क्रान्तिकारी तथ्य प्रकाश में आए हैं। मानव जाति का ६००० वर्ष पूर्व का इतिहास उपलब्ध नहीं है।

६००० वर्ष पूर्व जब मानव इतिहास का पहला अध्याय खुलता है तब मानव पूर्णतया स्वतंत्र, विकसित, सभ्य व सुसंस्कृत था। वह कला और विज्ञान में पारंगत था। वह जंगली या बर्बर नहीं था। वह सम्यक् अन्तर्क्रियाओं से प्रेरित था। वह अहिंसा और सत्य में विश्वास रखता था और इस आधार पर इसके आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व शासनिक संस्थानों का निर्माण हुआ था। व्यक्ति स्वतन्त्र और प्रबुद्ध था। समाज में तनाव न था। हिंसा पर आधारित राजनैतिक सत्ता न थी। शासक आत्मानुशासित, निर्लोभी, अपरिग्रही और सच्चे जनसेवक थे। मानव समाज सम्यक् आत्मा-क्रियावाद यानी श्रमण विचारधारा में विश्वास रखता था। इस क्षेत्रमें भारत, पश्चिमी एशिया मिश्र, यूनान व दक्षिणी अमरीका सम्मिलित थे। इस श्रमण समाज से प्रायः ४००० वर्ष पूर्व सामूहिक शोषण पर आधारित भौतिकवादी कबीलीय आर्य-समाज का संघर्ष प्रारम्भ हुआ जो १००० साल तक चल कर वैदिक आर्य-सत्ता की विजय में परिणत हुआ। इसके बाद मानवता ३००० साल से कबीलावाद, सामन्तवाद, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, और साम्यवाद में से गुजरी है। आज भौतिकवाद थक कर समाप्ति के कगार पर खड़ा है। आज अहिंसा और सत्य की शक्तियों के लिए अनूठा अवसर है। विद्वानों को नव्य श्रमणवाद शोध में लगाना चाहिये जिससे वे मानव स्वातन्त्र्य, मानव सुख व मानव शान्ति का सत्य पथ मानव जाति को दिखा सकें।

आचार्यश्री तुलसी ने कहा—मैं श्री जैन की शोध वृत्ति से प्रारम्भ से परिचित हूँ। विद्वानों ने भी इस शोध कार्य का समर्थन किया है, यह हर्ष की बात है। इस समाज में श्री जैन प्रथम व्यक्ति है जो इस प्रकार के तुलनात्मक व आलोचनात्मक शोध कार्य में लगे हैं। इस शोध के दूरगामी प्रभाव हो सकते हैं। यदि समाज इस शोध कार्य को आगे नहीं बढ़ाता है तो यह उसकी जड़ता है। आपने आगे कहा कि जिस समाज में विद्वान को बल व सहयोग नहीं मिलता वह समाज हानि उठाता है। इस शोध को सभी का बल मिलना चाहिये।

दिनांक २७-१०-६४ : प्रातः तृतीय दिवस का प्रथम आयोजन गंगाशहर (बीकानेर) में श्री ईश्वरचन्दजी चौपड़ा की कोठड़ी में आचार्यश्री के सान्निध्य में उनके मंगल सूत्रोच्चारण के साथ प्रारम्भ किया गया।

सर्वप्रथम श्री नथमलजी टाँटिया ने अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा—

मुझे आज जैन दर्शन के बारे में और अपनी संस्कृति के सम्बन्ध में कुछ बोलना है। जैनोंका मुख्य मार्ग है—मोक्ष। सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग्

चरित्र—इन तीन तथ्यों के आधार पर ही बोलना चाहूँगा। मैं यह देखता हूँ कि जैन धर्म में वर्तमान में जो तत्त्व विकसित हुए हैं, संस्कृति की जो देन रही है वह इन तीनों तथ्यों को केन्द्र में रखने से ही हुई है। सम्यग् दर्शन—तत्त्वार्थ-दर्शन अर्थात् तत्त्वार्थ में श्रद्धा। श्रद्धा का सम्बन्ध हृदय से जुड़ा हुआ है। श्रद्धा के विषय, जीव-अजीव, पदार्थ आदि क्या हैं ये सब बताने वाले बहुत हैं। जैन जीव, द्रव्य, संवर आदि को मानता है। एक बात है इन तत्त्वों को श्रद्धा का रूप दिया गया है पर विज्ञान उसे इस रूप में नहीं लेता। सम्यग् दर्शन ही श्रद्धा है। कुछ ऐसे तथ्य हैं कि भ० महावीर के समय बुद्ध जीव को नहीं मानते थे, इस प्रकार सम्यग् दर्शन को मिथ्या दृष्टि भी कहते हैं। बुद्ध ने कहा—सम्यग् दृष्टि है, पर सम्यग् दृष्टि का विषय है—तत्त्व। हम देखें दर्शन क्या है? बुद्ध ने कहा – मध्यमा प्रतिपद् है वही दर्शन है। वास्तव में हम कार्य-कारण के आधार पर ही विश्व की व्याख्या कर सकते हैं। जैनों ने क्या किया – द्रव्यार्थ व परमार्थ—इन दो तत्त्वों का निर्माण किया। इनका समन्वय करने के लिये द्रव्यार्थी और परमार्थी का आधार लिया गया। ये दो दृष्टियाँ प्राचीन से प्राचीन आगमों में मिलती हैं। बुद्ध ने इन दो दृष्टियों की जगह एक ही तत्त्व दिया। संसार की उत्पत्ति कहाँ है? तीनों अभिधा में पहुँचे। द्रव्यार्थी परमार्थी दो दृष्टि रही उधर प्रतिसंवाद की दृष्टि रही। जैसे हमारे सात तत्त्व हैं और उन्हीं के मुख्य तीन-चार अर्थ है—दुःख, दुःख के कारण, दुःखों से मुक्ति और मोक्ष। इनका ढंग दूसरा है। सम्यग् दृष्टि प्रतिसंवाद की दृष्टि है। विज्ञान के आधार पर उन्होंने यह दृष्टि दी है। द्रव्यार्थी परमार्थी के विकास के बाद जब कुन्द-कुन्द तक पहुँचे तो कुन्द-कुन्द ने एक बड़ी चीज दी। मैं यह नहीं कहता कि वह कुन्द कुन्द की नई सूझ थी, जो पृष्ठभूमि बौद्ध दर्शन को मिली थी। बुद्ध ने मध्यमा प्रतिपद् का निर्माण किया तथा एक तरफ शाश्वत उच्छेदवाद था। इस तरह दोनों के मार्गों को छोड़कर मध्यम मार्ग का निर्माण किया गया। अर्थात् द्रव्यार्थी परमार्थी का मेल करके समन्वय कर दिया गया।

एक विचार आया हम किसी को नहीं मानते और शून्यवाद पर आ जाएं। दूसरा प्रश्न है आत्म की कल्पना है वह क्या तत्त्व एक है?

मेरे ख्याल से परतंत्र, परमार्थ ये परिकल्पित तत्त्व होते हैं। जो शाश्वत स्वभाव है वह परमार्थ है। परतंत्र का अर्थ है—कारण से उत्पन्न। कार्य-कारण में जो बद्ध है वह परतंत्र है, वह स्व स्वरूप नहीं रखता। परतंत्र जो है वह

स्वभाव रहित होता है। इन्द्रजाल की दृष्टि होती है उसे हम परिकल्पित कहते हैं। कुन्दकुन्द ने देखा द्रव्यार्थी परमार्थी तो हैं, पर हम व्याख्या नहीं कर सकते।

नयों का विकास हुआ, वह साथ में हुआ। वह क्यों हुआ? आखिर जितने आए समावेश हो गये। यह सम्यग् दर्शन की देन है। जैसे पुनर्जन्म, आत्मा, मुक्ति आदि हैं, यानि जहाँ थोड़ा भी संशय रहे उसे हम सम्यग्-दर्शन की उक्ति में डाल देते हैं।

ज्ञान तीन हैं—सम्यग्ज्ञान, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। मतिज्ञान के आधार पर हम बाह्य वस्तु को देख सकते हैं। आक्षेप होने लगा। जैसी वस्तु रहेगी वैसा ही तो मतिज्ञान का विश्लेषण हो सकता है। बुद्ध ने कहा—वस्तु का जो स्वभाव है उसे हम नित्य क्यों कहें? सम्यग् दर्शन से दृष्टि मिलती है। कुछ है, हम जानते नहीं—एक अज्ञान की बात हुई। सर्वथा अतीत है तो वर्तमान क्या है? भविष्य क्या है? वर्तमान किसको कहेंगे? जैनों ने कहा—क्षणिक वस्तु है उसमें कार्य की क्षमता न रहे तो वर्तमान वस्तुतः वर्तमान में आ ही नहीं सकता। वेदान्त ने कहा—जो वस्तु शाश्वत है उसीको वस्तु का स्वरूप मानें। बौद्ध ने कहा—जो अनित्य है वही वस्तु का स्वरूप है। जैनों का कहना है कि जितने भी दर्शन हैं उसमें साम्य ढूंढ़ना। स्याद्वाद, अनेकान्तवाद आदि के लिये जैनो का मतिज्ञान जो है उसके आधार पर कहते हैं। वस्तुतः देखा जाए तो दर्शन की पृष्ठभूमि के आधार पर ही ज्ञान का विकास हुआ है।

श्रुतज्ञान—श्रुत अनन्त है। प्रश्न है—जैन धर्म को केन्द्र में रखकर विश्व की कल्पना करें कि विश्व क्या है? यह मति हमें आ गयी जिससे प्रत्येक वैज्ञानिक ढंग में प्रवेश हो सकते हैं। समावेश करने का पथ जैनों ने प्रशस्त बना दिया है। जैन इन तीनों के समावेश से विश्व के सारे विषयों को समाहित करना चाहते हैं।

उपरोक्त तीनों ज्ञान में जितने भी शास्त्र हैं सब समाहित हो सकते हैं और किया भी है। ध्यान, तप, स्वाध्याय आदि ये सारे इसीके ही रूप है। संयम का विकास किया जाए। चरित्र भी शास्त्रों में ध्यान की अवस्था में आता है। ध्यान का विषय क्या है? जो विघ्न मानने लगे तो तुरन्त अपनी मूर्ति की उत्पत्ति हो गई। बुद्ध मूर्ति पूजा नहीं करते थे लेकिन बौद्ध धर्म में ध्यान प्रतिमा थी। एक भी आधार लीजिये, अपने चित्त को उसमें स्थिर कीजिए। वास्तव में देखा जाए तो चित्त की स्थिरता के लिए ही मूर्ति की उत्पत्ति हुई है। धीरे-धीरे मूर्ति की पूजा होनी भी शुरू हो गई, तप भी शुरू हो गया।

इन सबका मूल है—धर्म। धर्म की पृष्ठभूमि में ही ये सारी बातें प्रस्फुटित होती हैं। आप देखिये, जितना भी साहित्य तैयार हुआ है रघुवंश आदि का, अगर उसमें धर्म की, चरित्र की पुट नहीं होती तो इन सारे साहित्य का भारत में कोई भी सम्मान नहीं करता। ये सारे के सारे साहित्यिक ग्रन्थ धर्म आधार पर ही प्रसिद्ध हुए हैं। चरित्र इन सबका केन्द्र-बिन्दु है, सचमुच इस को केन्द्र में रखकर ही साहित्य का विकास किया जा सकता है।

आज का युग बुद्धिप्रधान है। इसलिए प्राचीन साहित्य की खोज हो रही है। पर जैन समाज पर जब मैं नजर पसारता हूँ तो मुझे कुछ कुण्ठित होना पड़ता है। जहाँ आज विद्वानों को सम्मान मिलना चाहिए, उन्हें प्रश्रय देना चाहिए वहाँ स्पर्धा की जाती है। अस्तु, सभी जैन बन्धुओं से अपील करूँगा कि वे दर्शन साहित्य की साधना में लगें और युवकों को इस ओर प्रेरणा देकर आगे बढ़ाएं, इसीसे हमारा सर्व विकास संभव है।

अनन्तर शोधपत्रों का वाचन हुआ—

१—श्री इन्द्रचन्दजी शास्त्री—व्युत्सर्ग, जैन साधना का केन्द्र बिन्दु

२—मुनिश्री नगराजजी—तिरुकुरल (तामिलवेद, एक जैन रचना)

श्री रामचन्द्रजी जैन एडवोकेट ने अपनी अंग्रेजी पुस्तक The Most Ancient Aryan Society" आचार्यश्री के चरणों में सादर समर्पित की।

मध्याह्नकालीन गोष्ठी गंगाशहर में ही आचार्यश्री के सान्निध्य में रखी गई।

गोष्ठी के अनन्तर कई शोध-पत्रों का वाचन हुआ :—

१—मुनिश्री रूपचन्दजी - क्या व्रात्य श्रमण थे ?

२—साध्वीश्री संघमित्राजी - शब्द- (ध्वनि) विज्ञान।

३—श्री छगनलालजी शास्त्री - पुण्य और पाप।

शोध-पत्र के वाचनोपरान्त तद् विषयक कई प्रश्नोत्तर भी चले।

रात्रि में प्रार्थना के पश्चात् आचार्यश्री के सान्निध्य में एक मुक्त-चिन्तन गोष्ठी का विशेष कार्यक्रम रखा गया। जिसमें सभी विद्वानों ने अपने-अपने उन्मुक्त विचार प्रस्तुत किये। इस अवसर पर परिषद् सम्बन्धित अनेक विषयों पर भी विचार विमर्श हुआ।

अन्त में इस अवसर पर समागत विद्वानों को विशेष संदेश देते हुए आचार्यप्रवर ने कहा—परिषद् का अभी शैशव काल है, इसलिए यह अब तक सुव्यवस्थित नहीं हो पाई है पर ज्यों-ज्यों कार्य आगे बढ़ रहा है त्यों-त्यों

इसके संयोजकों का उत्तरदायित्व भी विशाल हो रहा है, अतः पहले से ही विशेष ध्यान देने की अपेक्षा हो जाती है।

कई वर्षों से मेरे मस्तिष्क में यह चिन्तन चल रहा था कि जैन-विद्वानों का एक ऐसा समन्वय-मंच हो, जिसमें सभी विद्वान् मुक्त रूप से अपने विचारों का आदान-प्रदान कर सकें और जैन दर्शन के तत्व-चिंतन को सम्मिलित रूप से प्रकाश में ला सकें।

प्राचीन इतिहास के सिंहावलोकन से ऐसा लगता है कि पहले जैन धर्म बहुत व्यापक था किन्तु बाद में जातिवाद आदि कई कारणों से वह वर्ग विशेष तक ही सीमित रह गया और विकास अवरुद्ध हो गया। जब जब जैन संस्कृति के उस व्यापक रूप पर मेरा ध्यान जाता तो मैं मन-ही-मन में बेचेन सा हो उठता था, इसलिए मैंने उस पर गहराई से चिन्तन किया। साधु-साध्वियों में वातावरण बनाया और अणुव्रत आन्दोलन के द्वारा उसे क्रियान्वित कर दिखाया। मैं उसी का ही सुपरिणाम मानता हूँ कि परिषद् का यह कार्यक्रम दूसरे वर्ष में प्रविष्ट हो रहा है। मेरा यह निश्चित मत है कि धर्म और दर्शन जैसे विशाल तत्त्वों को हम छोटे दायरे में नहीं बांध सकते। ये उतने ही व्यापक हैं जितना कि सूर्य का प्रकाश और चन्द्रमा की चाँदनी। इन उन्मुक्त तत्त्वों पर किसी सम्प्रदाय, जाति या व्यक्ति विशेष का अधिकार करना संकीर्ण मनोवृत्ति का द्योतक है। हमने उस दायरे को लांघकर सोचने का प्रयत्न किया है। उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रथम कड़ी के रूप में बम्बई में जैन एकता के लिए पंचसूत्री कार्यक्रम का सूत्रपात किया था। मुझे प्रसन्नता है कि उनके प्रचार-प्रसार से अन्य सम्प्रदायों से काफी निकटता का सम्बन्ध स्थापित हुआ है और तेरापंथ समाज के प्रति होने वाली अनर्गल आलोचना की वृत्ति प्रायः नामशेष ही रही है। हमारे साधु-साध्वियों ने नव निर्मित साहित्य तथा प्रचार-प्रसार की प्रणाली के द्वारा इस विषय को काफी पुष्ट किया है। देखा जाय तो तत्त्व चिन्तन काफी गहरा है, लोगों में उसे जानने की भूख भी जगी है। अतः अब आवश्यकता है उन्हें प्रामाणिक एवं आधुनिक ढंग से जन-साधारण के सामने प्रस्तुत करने की। हमारे साधु-साध्वी इस कार्य में तत्परता से लगे हैं। आप लोग भी युग को पहचान कर ऐसे साहित्य सृजन की ओर ध्यान दें, जो प्रत्येक को विशिष्ट खुराक देने के साथ-साथ जीवन-परिमार्जन की पद्धति पर भी प्रकाश डाल सके।

कुछ चिन्तनीय विषय

आज जैन विद्वानों के लिए विशेष चिन्तन का विषय है कि सभी जैन सम्प्रदाय अलग-अलग रहते हुए भी एकत्व के धागे में कैसे बँध सकते हैं? उसके अभाव में कई ऐसे महत्वपूर्ण कार्य हैं जो इतने प्रभावोत्पादक नहीं बन पा रहे हैं। संवत्सरी और महावीर जयन्ती ये दो पर्व तो ऐसे हैं जो समस्त जैनों के लिए मान्य एवं अत्यन्त महत्त्व के हैं। पर अलग-अलग होने के कारण दूसरे लोगों में असमंजस पैदा करते हैं। यद्यपि इन वर्षों में महावीर जयन्ती तो अब एक सामूहिक रूप से मनाई जाने लगी है परन्तु पर्यूषण-पर्व के लिए चिन्तन की अपेक्षा है। मेरे विचार से संवत्सरी की एक तिथि निश्चित हो जानी चाहिये, फिर चाहे उस पर्व को कितने ही दिन मनाया जाय कोई आपत्ति नहीं।

क्या इसी तरह अन्य पर्वों तथा ऐतिहासिक स्थलों के लिए भी चिन्तन हो सकता है? मेरी तो दृढ़ मान्यता है कि यदि सामूहिक रूप से यह काम प्रारम्भ हुआ तो बहुत ही शीघ्र सौहार्दपूर्ण वातावरण तैयार हो जाएगा। मैं आशा करता हूँ कि समागत विद्वान् इन विचारों पर विशेष मनन करेंगे और इस कार्य को आगे बढ़ाने के लिए कटिबद्ध होंगे। सभी के सहयोग तथा श्रम से सफलता निश्चित है।

अन्तिम अन्तरंग अधिवेशन

दिनांक २८-१०-६४ मध्यान्हकालीन समय (कालकोठड़ी में) जैन दर्शन एवं संस्कृति परिषद् का अन्तिम अन्तरंग गोष्ठी का कार्यक्रम आचार्यश्री के तत्त्वावधान में उनके मंगल सूत्रोच्चारण के साथ प्रारम्भ हुआ, जिसमें केवल विद्वद्-मण्डली एवं साधु-साध्वियाँ आदि ही उपस्थित थे।

गोष्ठी के प्रारम्भकाल में अन्यान्य विद्वानों के शोध-पत्र पढ़े गये—

(१) श्री एल० एम० जोशी M. A., Ph. D. (युनिवर्सिटी ऑफ गोरखपुर) (वाचक श्री रामचन्द्र जैन) — Antiquity And Origin of Jain Iconography

(२) साध्वीश्री फूलकुमारीजी —जैन धर्म को कुन्दकुन्द की देन

(३) साध्वीश्री यशोधराजी —महावीर कालीन धार्मिक परम्पराएं

(४) साध्वीश्री मञ्जुलाजी —जैन दर्शन और पाश्चात्य दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन

(५) श्री अगरचन्दजी नाहटा (वाचक श्री मोहनलाल बांठिया) — प्रश्न व्याकरण—एक अध्ययन

(६) श्री ज्योतिप्रसाद जैन M.A., LL.B., Ph.D. · Director, The World Jain Mission) — जैन और बौद्ध

(वाचक— सत्यरंजन बनर्जी)

कुछ प्रश्नोत्तर का भी कार्यक्रम चला।

लेखों के वाचनोपरान्त श्री मोहनलालजी बाँठिया ने समागत विद्वानों को परिषद् के निमित्त अग्रिम नये सुझाव पेश करने हेतु आह्वान किया।

विचार-विमर्श के पश्चात् प्रथम अधिवेशन में गृहीत निम्नलिखित प्रस्ताव पुनर्गृहीत हुए।

१—यह निश्चय हुआ कि दर्शन परिषद् के इस अधिवेशन में जो शोध-पत्र पढ़े गये हैं, उनको सम्पूर्ण या संक्षिप्त रूप में कार्य-विवरणी के साथ प्रकाशित किया जाए।

२—यह निश्चय हुआ कि विदेशी प्राच्य विद्वानों तथा शोधकों से सम्पर्क स्थापित किया जाए और उनको इस परिषद् की कार्य विवरणी भी प्रकाशित होने से भेजी जाए।

३—यह निश्चय हुआ कि शोध के विषयो की सूची प्रस्तुत की जाए और उसका वितरण और प्रचार किया जाए।

४—यह निश्चय हुआ कि प्रकाशित पुस्तकों की भूल, भ्रान्ति की तरफ सम्पादक, लेखक और प्रकाशक का ध्यान आकर्षित किया जाए।

५—यह निश्चय हुआ कि जैन बिबलिओग्राफी भी यथा—पेरिस बिबलिओग्राफी या बौद्धो के अनुरूप प्रस्तुत की जाए।

६—यह निश्चय हुआ कि जैनेतर साहित्य में जैन सम्बन्धी निर्देशों को एकत्रित करना चाहिए।

७—यह निश्चय हुआ कि जैन दर्शन तथा प्राकृत भाषा की शिक्षा भारतीय विश्वविद्यालयों में, स्नातकोत्तर श्रेणियों में प्रारम्भ हो, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।

८—यह निश्चय हुआ कि जैन प्रकाशन-संस्थाओं तथा जैन पत्रों की सूची प्रस्तुत की जाए।

९—यह निश्चय हुआ कि जैन विद्वानों या जैन विषयों में रुचि लेनेवाले जैनेतर विद्वानों की सूची प्रस्तुत की जाए।

१०—यह निश्चय हुआ कि इस परिषद् को एक संस्थान का रूप दिया जाए तथा इसका नाम 'जैन दर्शन और संस्कृत परिषद्' रखा जाए।

११—यह निश्चय हुआ कि परिषद् का अगला अधिवेशन यथासम्भव आचार्यश्री तुलसी के सान्निध्य में हो।

१२—यह निश्चय हुआ कि परिषद् का जो संस्थान या रूप (फारम) बने उसका संचालन या व्यवस्था वर्तमान में श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता करे।

१३—यह निश्चय हुआ कि पठित शोध-पत्रों के १५ पुनर्मुद्रण (रीप्रिंट) गृहस्थ-शोध वाचकों को भेजी जाए।

१४—यह निश्चय हुआ कि परिषद् के संजोजकों में से एक संयोजक श्री मोहनलाल बांठिया रहें।

१५ - यह निश्चय हुआ कि दर्शन परिषद् का 'आदर्श वाक्य' (मोटो) 'अप्पणा सच्चमेसिज्जा' रहेगा।

१६—यह निश्चय हुआ कि सदस्यों का एक रजिस्टर रखा जाए, जिसमें सदस्यों के नाम वास-स्थल और कार्य-स्थल के ठिकाने रहें।

१७—यह निश्चय हुआ कि राजकीय शिक्षा विभागों को परिषद् के अधिवेशन की सूचना भेजी जाए।

१८—यह निश्चय हुआ कि भारत सरकार के संस्कृति-विभाग तथा विदेशी राजदूतों के सांस्कृतिक अटैची को भी परिषद् की सूचना भेजी जाए।

१६—यह निश्चय हुआ कि परिषद् में पढ़े जाने वाले सभी शोध-पत्र लिखित हों तथा वे (समरी) सार सहित अग्रिम प्राप्त होने चाहियें।

२०—यह निश्चय हुआ कि दो हजार पाँच सौ वर्ष की महावीर जयन्ती विशेष रूप से मनाई जाए। ऐसी व्यवस्था परिषद् कार्यालय करे।

तदनन्तर निम्नलिखित प्रस्ताव सर्वसम्मति से गृहीत हुए।

(२१) शोध कार्य के लिए आगम और सिद्धान्त ग्रन्थों की उपलब्धि की व्यवस्था परिषद् शोधक के लिए करे।

(२२) भारत के बाहर जैन धर्म सम्बन्धित जो तत्त्व पाये गये हैं उस विषय का अलग एक विषय भी विवेचनों के विषयों में रखा जाय।

(२३) परिषद् में पढ़े जानेवाले शोध पत्र मौलिक तथा अन्य जगह पठित या प्रकाशित न हों।

(२४) परिषद् के निम्नलिखित उद्देश्य पुनः समर्थित हुए।

(1) To bring together scholars interested in Jainism or in any of its aspects.

(2) To get information about various activities of scholars, Indian and Foreign, regarding Jainism.
(3) To arrange exhibitions of manuscripts, articles of art, and of books published during the year on subjects relating to Jain and Jainism.
(4) To facilitate co-operation between various scholars working on Jain Literature or otherwise throughout the world.
(5) To encourage learning in Jainim and Prakrita.
(6) To arrange for exchange of views between scholars on subjects pertaining to Jainism.
(7) To take such actions as may be deemed necessary to promote the advancement of learning in Jainism.

(२५) परिषद् के अधिवेशनों के लिए निम्नलिखित विषय-विभाग हों। तथा यथेष्ट संख्या में शोधपत्र आने पर प्रत्येक विषय की अलग बैठक हो।

विषय विभाग

(१) जैन दर्शन।
  (क) औधिक दर्शन।
  (ख) आचार नीति।
  (ग) न्याय।
(२) जैन आगम, पाहुड, नियुक्ति, चूर्णी आदि साहित्य।
(३) जैन साहित्य विषय नं० २ के पश्चात्, प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश में।
(४) आधुनिक भाषाओं में जैन साहित्य।
(५) जैन भाषातत्त्व।
(६) जैन इतिहास व सामाजिक अध्ययन।
(७) जैन साहित्य में तकनीकी विज्ञान।
(८) जैन पुरातत्त्व।
(९) कला।
(१०) धर्म और दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन।
(११) भारत के बाहर जैन धर्म और उसका अध्ययन।

(२६) यह निश्चय हुआ कि अगले अधिवेशनके लिए सूचनार्थं प्रथम विज्ञप्ति महावीर-जयन्ती के आस-पास तक विद्वानों को भेजी जाए।

(२७) यह निश्चय हुआ कि अधिवेशन की दूसरी सूचना (विज्ञप्ति) चातुर्मास के प्रारम्भिक काल में ही स्थान व तिथि निर्णय के साथ भेजी जाए।

(२८) यह निश्चय हुआ कि अधिवेशन के अवसर पर पढ़े जाने वाले शोध पत्र साधारणतया १० टाईड फुलस्केप पेज से अधिक न हों तथा समरी भी ३०० शब्दों से अधिक की न हो।

(२९) यह निश्चय हुआ कि अग्रिम वर्ष के लिये संयोजक का भार श्री मोहनलालजी बांठिया को दिया जाए।

कार्यवाही सम्पन्नता पर श्री इन्द्रचन्द्र जी शास्त्री ने विद्वानों की ओर से श्री बांठियाजी के संयोजन भार को सुचारु एवं व्यवस्थित ढंग से चलाने पर आभार प्रदर्शित किया।

तदन्तर श्री बांठियाजी ने आगत विद्वानों के प्रति हार्दिक आभार प्रदर्शन करते हुए शुभ कामना व्यक्त की।

अन्त में आचार्यप्रवर ने भी अधिवेशन की सफलता पर हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त की।

कार्यक्रम बहुत ही सुचारु एवं शान्त वातावरणके साथ सानन्द सम्पन्न हुआ।

जैन दर्शन और संस्कृति परिषद्

के

बीकानेर अधिवेशन (१९६४)

में

पठित हिन्दी शोध-पत्र

विषय-सूची

अपभ्रंश कथाकाव्य

[डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री]

मूलतः अपभ्रंश-साहित्य पुराण, चरित और कथाकाव्य है। पुराणकाव्य में जहाँ महापुरुषों का अलौकिक जीवन वर्णित है वहीं चरितकाव्यों में प्रसिद्ध पुरुषों के लौकिक जीवन का सुन्दर चित्रण उपलब्ध होता है। विषय-विस्तार, विभिन्न आख्यानों की जटिलता, कार्यान्विति का अभाव और पंच लक्षणों से समन्वित पौराणिक शैली विशेष रूप से पौराणिक काव्यों में लक्षित होती है। स्वयम्भूकृत पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ, पुष्पदन्त विरचित "महापुराण" धवल रचित "हरिवंसपुराण" तथा यशःकीर्तिकृत "पाण्डवपुराण" आदि पौराणिक काव्य हैं, जिसमें विविध राजवंशों, ऐतिहासिक वंशावली तथा महापुरुष राम, कृष्ण एवं पाण्डव आदि का सविस्तार वर्णन रहता है। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के साहित्य में पुराणकाव्य की यह विधा निश्चय ही धार्मिक आस्था तथा रीति-नीति से गुम्फित होती है। इसीलिए महापुरुषों के जीवन के साथ ही उनके पूर्व भवों, प्रासंगिक विभिन्न घटनाओं, व्रत-महात्म्य, अवान्तर कथाओं और जीवन से सम्बन्धित विभिन्न कार्य-व्यापारों का अतिशयोक्ति पूर्वक वर्णन किया जाता है। परन्तु चरित-काव्य में नायक के सम्पूर्ण जीवन की विभिन्न घटनाओं तथा संघर्षों का वर्णन किया जाता है। इसलिए आचार्य आनन्दवर्धन ने इसे सकलकथा कहा है और आचार्य हेमचन्द्र सकलकथा को ही चरितकाव्य कहते हैं[1]। आ० हरिभद्रसूरि रचित "णेमिणाहचरिउ" चरितकाव्य है। परन्तु उसके अन्तर्गत वर्णित सनत्कुमार की कथा है, जिसे खण्डकथा कहा जा सकता है[2]। अतएव किसी भी रचना के पीछे "चरिउ" "कहा" "पुराण" या— "कव्व" शब्द जुड़ा होने से वह उस कोटि की रचना नहीं मानी जा सकती। और इसीलिए पुराण नाम से प्रचलित कुछ काव्य ग्रन्थों को चरितकाव्य ही माना जाना चाहिए; पौराणिक नहीं। उदाहरण के लिए—कवि

१—"सकलकथेति चरितमित्यर्थः।" काव्यानुशासन, ८, ८ की वृत्ति।

२—ग्रन्थान्तरप्रसिद्धं यस्यामितिवृत्तमुच्यते विबुधैः। मध्यादुपान्ततो वा सा खण्डकथा यथेन्दुमती॥ वही।

पद्मकीर्ति विरचित "पार्श्वपुराण" अठारह-सन्धियों में निबद्ध होने पर भी केवल एक महापुरुष तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित वर्णित होने के कारण चरितकाव्य ही कहा जायगा। इसी प्रकार जयमित्रहल्ल के "वड्ढमाणकव्व" और "मल्लिणाहकव्व" काव्यसंज्ञक होने पर भी चरित-काव्य हैं। और "उपमसिरिचरिउ" के पीछे चरित शब्द जुड़ा होने पर भी वह चरितकाव्य न हो कर कथाकाव्य है। वस्तुतः पुराणकाव्य की भाँति कथाकाव्य और चरितकाव्य में कई बातो में अन्तर है।[१]

अर्थ प्रकृतियाँ, कार्यावस्थाएं, नाटकीय सन्धियाँ, कार्यान्विति तथा कथा-तत्त्वों की संयोजना में इन दोनों में अन्तर देखा जाता है। यथार्थ में चरित तो लोक में देखा जाता है, काव्य में तो वस्तु ही प्रधान होती है परन्तु चरितकाव्य में मूल चेतना कथा न हो कर कार्य—व्यापार होती है, जिसमें नायक का प्रभावशाली चरित्र चित्रित किया जाता है।

डा० शम्भूनाथ सिंह ने अपभ्रंश काव्यों की दो शैलियाँ मानी हैं—पौराणिक और रोमांचक। इन दोनो शैलियों में लिखे गये काव्यों को चरितकाव्य कहा गया है। संस्कृत के चरितकाव्य चारों शैलियो (शास्त्रीय, पौराणिक, रोमांचक, ऐतिहासिक) में तथा प्राकृत के तीन शलियो में हैं[२]। परन्तु तथ्य यह है कि अपभ्रंश के चरितकाव्य अधिकतर पौराणिक शैली में लिखे गये हैं और कथाकाव्य रोमांचक शैली में। "विलासवई कहा" रोमांचक शैली में लिखा हुआ उत्कृष्ट कथाकाव्य है। यद्यपि शैली ही भेदक-रेखा नहीं मानी जा सकती है पर कही-कही शैलीगत यह अन्तर अवश्य मिलता है। अपभ्रंश के अधिकतर काव्य पौराणिक शैली में लिखे गये हैं। इसलिए कथाकाव्यों से चरितकाव्यो की संख्या अधिक है। सामान्यतया कथाकाव्य उपन्यास की भाँति रोचक तथा कुतूहलवर्द्धक शैली में लिखे गये हैं। इनमें वर्णित कथावस्तु लोककथा एवं कल्पित हैं जो विस्मय, औत्सुक्य, कुतूहल तथा भावनातिरेक से अनुरंजित लक्षित होती हैं। कथाकाव्य के नायक लोक जीवन के जाने-पहिचाने साधारण पुरुष हैं जो सुख-दु.ख से अनुप्राणित तथा आशा-निराशा, हर्ष-विषाद के हिंडोलो में झूलते हुए दिखाई पड़ते हैं। जहाँ उनके जीवन में अन्धकार है वहीं प्रकाश की उज्ज्वल किरणें मुस्कराती

१—विशेष द्रष्टव्य है—"भविसयत्तकहा और अपभ्रंश-कथाकाव्य" शीर्षक लेखक का शोध-प्रबन्ध।

२—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—डा० शम्भूनाथ सिंह, पृ० १७४

हुई दिखाई पड़ती हैं और प्रकृति अनुराग से अनुरंजित तथा सहानुभूति प्रकट करती हुई जान पड़ती है। अधिकांश चरितकाव्यों में आदर्श की प्रधानता है और कथाकाव्यों में यथार्थ की। यद्यपि दोनों में ही नायक या नायिका के असाधारण कार्यों का वर्णन मिलता है परन्तु एक में वह दैवी संयोग और धार्मिक विश्वासों से सम्बद्ध होता है और दूसरे में अतिलौकिक एवं असम्भव घटनाओं से अनुरंजित। यही कारण है कि चरितकाव्यों में आदर्श चरित्रों की प्रधानता रहती है और उनके जीवन की सिद्धि तथा पूर्णता का वर्णन किया जाता है। निश्चय ही चरितकाव्य का नायक लौकिक जीवन की सीमाओं से ऊपर असाधारण गुण, शक्ति, ज्ञान, आदि से समन्वित पूर्ण पुरुष के रूप में चित्रित किया जाता है। यथार्थ में चरितकाव्य पुराणों से विकसित हुए हैं इसलिए आख्यान तथा इतिवृत्त के साथ ही पौराणिक पुरुष के रूप में उनका असम्भव तथा अकल्पित रूप भी वर्णित रहता है। कथाकाव्य में भले ही आदर्श पुरुष का जीवन विन्यस्त हुआ हो परन्तु पूर्ण पुरुष के रूप में उसका चित्रण नहीं होता। और फिर, चरितकाव्य की कथावस्तु अधिकतर पुराणों से अधिगृहीत होती है परन्तु कथाकाव्य की वस्तु लोक-जीवन तथा लोक-कथाओं से समन्वित होती हैं।

भारतीय साहित्य में कथाकाव्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। काव्य के मूल में जीवन की लिपिबद्ध कथाएं ही हैं जो श्रुति रूप में वर्षों तक प्रचलित रही हैं और देश-देशान्तरों में अपने मूल रूप में स्थानान्तरित होती रही हैं। अपभ्रंश में महाकाव्यों की कड़ी में साहित्य की अन्यतम विधा कथाकाव्य भी लक्षित होती है जिसमें मानवीय संवेदना कतिपय घटनाओं के विग्रह में सजीव एवं चारित्रिक सन्धान में अनुस्यूत रहती है। कथा ही उसमें मुख्य होती है जो किसी उद्देश्य को ले कर कही जाती है। ये कथाएं प्रायः वक्ता-श्रोता-शैली में कही गई हैं। कहीं-कहीं सुनने वाला जिज्ञासा और उत्सुकता प्रकट करता चलता है और लेखक उसका समाधान करता हुआ आगे की घटनाओं का उल्लेख करता है। चरित्रकाव्यों में नायक के जीवन का समूचा इतिवृत्त अभिव्यक्त करना ही कवि का उद्देश्य जान पड़ता है जिनमें अभिप्राय विशेष न हो कर समूचे जीवन का प्रभाव और नायक के आदर्श तथा असाधारण गुणों का प्रकाश रहता है। जिन कथाकाव्यों में वस्तु उद्देश्य-विशेष से नियोजित नहीं है वे लोक कथाएं हैं जो साहित्यिक रूढ़ियों के साथ कालान्तर में काव्य के सांचे में प्रबन्ध के रूप में ढाल दी गई हैं। कुछ कथाएँ लोक-कथा या जनश्रुति के रूप में प्रचलित होने

पर भी व्रत-माहात्म्य तथा अनुष्ठानों से संबद्ध होकर काव्य-बंध का अंग ही नहीं, प्राण बन गई हैं। महाकवि धनपाल कृत "भविसयत्त कहा" ऐसी ही कथा है जो पहले श्रुति के रूप में वर्षों तक जन-मानस में प्रचलित रही और फिर परम्परागत प्रबन्ध काव्य की शैली में लिखी गई।

भारतीय साहित्य में कदाचित् प्राकृत और अपभ्रंश में इस साहित्यिक विधा का सूत्रपात हुआ जिसमें कथा और काव्य मिल कर लोक-जीवन के परिपार्श्व में यथार्थ रीति से गतिशील तथा मनुष्य-जीवन में घटनाओं का रोमांचक एवं वास्तविक प्रभाव दर्शाते हैं। यद्यपि कहीं-कहीं पौराणिक प्रवृत्ति के अनुगमन से घटनाओं में अस्वाभाविकता-सी जान पड़ती है परन्तु प्रबन्ध-संघटना और वस्तु-निर्वाह में शिथिलता नहीं देखी जाती। अपभ्रंश के इन-कथाकाव्यों का विशिष्ट गुण है—प्रेम की मधुर व्यंजना। अधिकतर नायक पवित्र प्रेम से प्रेरित एवं संचालित दिखाई पड़ते हैं। कहीं-कहीं प्रेम की उदात्त व्यंजना धार्मिक वातावरण में हुई है और कहीं-कहीं शुद्ध मानवीय। इस रूप में हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्य वस्तु एवं शिल्प-रचना की दृष्टि से ही नहीं, शैली और भावों में भी अपभ्रंश के कथाकाव्यों से प्रभावित जान पड़ते हैं।

कथा पहले आख्यान थी जो शुद्ध इतिवृत्त थी। परन्तु ज्यों-त्यों काव्य-तत्त्वों से उसका सम्बन्ध जुड़ता गया त्यों-त्यों वह कहानी का रूप लेती गई। लेकिन हम उसे कथा ही कहते रहे। संस्कृत में लिखी गई कथाएं गद्य में हैं। परन्तु प्राकृत और अपभ्रंश में छन्दोबद्ध लिखने की प्रवृत्ति रही है। गुणाढ्य की "बृहत्कथा" से लेकर आज तक न जाने कितनी तरह की कथाएं और कहानियाँ लिखी गईं जो नीति, रीति, शैली आदि विभिन्न विषयों में और विविध रूपों में लिखी जाती रही हैं और आज वह प्रवाह किन-किन परिवर्तनों के बीच विभिन्न विधाओं में प्रस्फुटित हो गया है।

अपभ्रंश के उपलब्ध कथाकाव्यों में महाकवि धनपाल विरचित "भविष्यदत्तकथा" बहुत ही सुन्दर रचना है। कथा तथा चरितकाव्यों में यह सबसे बड़ी रचना है। अपभ्रंश में इससे बड़ी रचनाएं पौराणिक प्रबन्धकाव्यों के रूप में मिलती हैं जो निश्चय ही संस्कृत-साहित्य की परम्परा का अनुसरण करती प्रतीत होती हैं। इनमें पुराणों के पंच लक्षण किन्हीं तथ्यों के साथ चरितार्थ मिलते हैं। परन्तु कथाकाव्य पौराणिकता से हट कर लिखे गये हैं। कहीं-कहीं प्रभाव रूप में या परम्परागत प्रवृत्ति के निर्वाह मात्र के लिए अवश्य कुछ प्रभाव लक्षित होता है। अपभ्रंश का अधिकतर साहित्य चरित तथा

कथाकाव्य मूलक है। चरितकाव्य और कथाकाव्य में कई बातों में मौलिक अन्तर है[१]।

यदि हम दसवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक के भारतीय साहित्य का अनुशीलन करें तो ज्ञात होगा कि इस मध्ययुगीन भारतीय काव्यों की मुख्य प्रवृत्ति उदात्त प्रेम की मधुर व्यंजना रही है। यद्यपि इस युग के काव्यों में वर्णित प्रेम अतिलौकिक भाव-भूमिकाओं में चित्रित हुआ है परन्तु काव्य का सामान्य धरातल लौकिक प्रेम में ही अभिव्यक्त हुआ है। इसलिए अतिलौकिक प्रेम और आदर्शों को समझने के लिए हमें किन्हीं प्रतीकों और रूपकों की संयोजना करनी पड़ती है। वस्तुतः ये कथाकाव्य मध्ययुगीन भारतीय साहित्य की देन हैं जो लोक-जीवन की परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतएव हम इस युग का पुनर्जागरण का काल (Renaissance) कह सकते हैं, जिसमें जन-वादी प्रवृत्तियाँ जन्म ले रही थीं और लोक-चेतना का विकास हो रहा था। इस युग के साहित्य में एक विशेषता यह भी लक्षित होती है कि साहित्य की भाव-भूमि सामन्तवादी धरातल से हट कर लोक-जीवन की ओर बढ़ रही थी। इसलिए कथाकाव्य का नायक आदर्श पुरुष ही नहीं, राजा, राजकुमार, बनिया, राजपूत या अन्य कोई साधारण से साधारण पुरुष हो सकता था जो अपने पुरुषार्थ से असाधारण व्यक्तित्व तथा गुणो को प्रकट कर मानव बन सकता था। इससे देश के साहित्यिक विकास की एक नवीन उत्थानिका का पता लगता है जो मध्ययुगीन साहित्य में व्याप्त दिखाई पड़ती है।

अपभ्रंश और हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों में निम्नलिखित बातों मे बहुत कुछ समानता मिलती है :—

१—कथा-वस्तु एवं घटनाओ में कही-कही अद्भुत समानता मिलती है। प्रत्येक कुंवर या राजकुमार की समुद्र-यात्रा और सिंहलद्वीप में सुन्दरी का वरण करना एक ऐसी सामान्य घटना है जो लगभग सभी प्रेमाख्यानक काव्यों में मिलती है। इसी प्रकार चित्र-दर्शन, रूप-दर्शन, प्रथम-मिलन व दर्शन में ही प्रेम हो जाना आदि बातें समान रूप से मिलती हैं।

२—सामन्तयुगीन वैभव, भोग-विलास तथा युद्ध के चित्रण भी इन काव्यों में वर्णित हैं। किसी-किसी कथाकाव्य में सुन्दरी के लिए भी युद्ध

१—विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य है—लेखक का "भविसयत्तकहा और अपभ्रंश कथाकाव्य" शीर्षक शोध-प्रबन्ध।

किया जाता है, जैसे कि भविष्यदत्तकथा में भविष्यदत्त सुमित्रा की रक्षा के लिए युद्ध करता है और अपनी शूर-वीरता प्रदर्शित करता है।

३—कथानक-रूढ़ियों के साथ ही प्रबन्ध-रचना एवं संघटना में भी साम्य लक्षित होता है। ईश-वन्दना, नम्रता-प्रदर्शन, कवि या काव्य-रचनाओं का उल्लेख, काव्य पढ़ने का अधिकारी, काव्य विषयक संकेत तथा मान्यता आदि बातों का उल्लेख परम्परागत रूढ़ियाँ हैं जिनका प्रचलन सम्भवतः प्राकृत-युग से हुआ है।

कहा जाता है कि हिन्दी के सूफी काव्यों की रचना "मसनवी" शैली में हुई है। मसनवी का अर्थ "दो" है। इस में प्रत्येक शेर के दो मिसरे होते हैं। इसका प्रत्येक शेर छन्द और भावकी दृष्टि से पूर्ण होता है। मुक्तक की भाँति इनमें भाव या चित्र पूर्ण होता है तथा वाक्य-रचना भी कसी हुई रहती है। मिसरे समतुकान्त होते हैं, जिनका आगे की पंक्तियों से तुक की दृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं होता। काव्य सर्गों में या परिच्छेदों में विभक्त न होकर विषयानुरूप शीर्षकों में तथा घटनाओं में आबद्ध रहता है। और फिर, इस शैली में लिखा गया किसी भी प्रकार का प्रबन्ध काव्य क्यों न हो वह मसनवी माना जायगा।[1] फिरदौसी का "शाहनमा" और "यूसुफजुलेखा" मसनवी काव्य माने जाते हैं। किन्तु अपभ्रंश कथाकाव्य तथा चरितकाव्य की रचना सन्धिबद्ध होती है और सन्धि या परिच्छेद "कडवकबद्ध" होते हैं। 'कडवक' पद्धड़िया, अडिल्ला या उसी आकार के किसी छन्दों का समूह होता है जिसमें किसी एक दृश्य या भाव का वर्णन रहता है। अपभ्रंश में कडवकों तथा उनमें विहित छन्दों की संख्या नियत नहीं है। साधारणतः एक कडवक में आठ यमक या सोलह पंक्तियों का प्रयोग किया जाता रहा है। परन्तु कई काव्यों में अठारह, बीस, बाईस, चौबीस, तीस, बत्तीस और छत्तीस तक पंक्तियाँ तथा छन्द एक कडवक में लक्षित होते हैं। कडवक द्विपदी या दुवई अथवा दोहा या दोहा के आकार के किसी छन्द से जुड़े रहते हैं। कहीं-कहीं कडवक के आदि में और कहीं-कहीं अन्त-आदि दोनों में दोहा के आकार का कोई न कोई छन्द संयुक्त रहता है। अधिकतर अन्त में ही जुड़ा देखा जाता है। प्रबन्ध रचना की यह शैली अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों में समान रूप से मिलती है। वस्तु, घटना, कथानक-रूढ़ि तथा चरित्र-चित्रण के ही नहीं प्रबन्ध-रचना में भी सूफी काव्य अपभ्रंश-काव्यों की परम्परा से प्रभावित जान

१—देखिये, हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० ४१६।

पड़ते हैं। स्पष्ट रूप से हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों की रचना चौपाई-दोहा शैली में हुई है जो अपभ्रंश काव्यों की देन है। यह अवश्य है कि अपभ्रंश के काव्यों की रचना सन्धि, परिच्छेद, विक्रम या भास आदि में की गई है और सूफी तथा प्रेमाख्यानक काव्यों की रचना शीर्षकबद्ध है। परन्तु प्राकृत की 'गउडवह', "कुवलयमालाकहा" और अपभ्रंश में हरिभद्रसूरि रचित "णेमिणाहचरिउ" सर्गहीन रचनाएं हैं। संभव है कि इस प्रकार की रचनाएं और भी लिखी गई हों पर काल-प्रवाह में बच न पाई हों। इस सम्बन्ध में श्री परशुराम चतुर्वेदी द्वारा निष्कर्ष रूप में अभिव्यक्त विचार ही उचित जान पड़ते हैं—"जिस समय हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानों की रचना आरम्भ हुई। उस समय तक उनके रचयिताओं के लिए ऐसी अनेक बातें प्रस्तुत की जा चुकी थीं जिनका वे किसी न किसी रूप में बड़ी सरलता से उपयोग कर सकते थे। क्या कथा-वस्तु, क्या काव्यरूप, क्या रचना-शैली, और कथा-रूढ़ियों जैसी सामग्री, इनमें से कदाचित् किसी के लिए भी उन्हें न तो कोई सर्वथा नवीन मार्ग निर्मित करने की आवश्यकता थी और न अधिक प्रयास ही करने की।"[१] और यह सर्वमान्य सत्य है कि सूफी प्रेमाख्यानकों में प्रयुक्त अधिकतर कथाएँ भारतीय लोक जीवन की हैं। उदाहरण के लिये—अपभ्रंश की "विलासवती कथा" और दुःखहरनदास कृत "पुहुपावती" में अद्भुत साम्य है। इसी प्रकार पद्मावती तथा मृगावती की कथाएं भी जैन कथाओं से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं[२]। परम्परागत प्रचलित भारतीय लोक कथाओं को ग्रहण कर सूफी कवियों ने प्रेम अभिव्यंजना तथा अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए कहीं-कहीं उनमें परिवर्तन भी किया और अन्तर्कथाओं को जोड़ जन-मानस में अपने आदर्शों की प्रतिष्ठा करने का भी प्रयत्न किया। वस्तुतः वे रीति को छोड़ कर भारतीय जनता के बीच लोकप्रिय नहीं बन सकते थे। इसलिए कथा, चरित्र, शैली, भाषा और अभिव्यक्ति के अन्य उपादानों को भी उन्होने ग्रहण कर आदर्शों का प्रचार किया। अपभ्रंश के कथा तथा चरितकाव्यों से ये केवल एक बात में ही भिन्न परिलक्षित होते हैं और वह है—चलते हुए कथानक में अलौकिक प्रेम की व्यंजना। परन्तु यह विशेषता जायसी के 'पद्मावत'

१—'लोकगाथा और सूफी प्रेमाख्यान' शीर्षक लेख, प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी' भाग २३, अंक २, पृ० ३८।

२—देखिए, कुतुबन कृत मृगावती—डा० शिवगोपाल मिश्र, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

में ही मिलती है। अपभ्रंश की अभी तक ऐसी कोई रचना नहीं मिल सकी है।

अपभ्रंश में प्राकृत की भाँति धार्मिक वातावरण में ही नहीं लोक-जीवन की उन्मुक्त दशाओं में भी स्वतन्त्र भाव-भूमि पर लोकगाथाओं को प्रेम एवं रसमयी वाणी प्रदान की गई है। उनमें लोक-चेतना का सहज प्रवाह लक्षित होता है। तथा सामन्तकालीन आभिजात्य वर्ग के सामाजिक रूप का स्पष्ट दर्शन होता है। अपभ्रंश के कथाकाव्यों में प्रयुक्त अधिकतर कथाएं प्रेम गाथाएं हैं जो किन्हीं विभिन्न उद्देश्यों से कई उपकथाओं के साथ जुड़ी हुई हैं और उद्देश्य-प्रधान होने के कारण कई स्थलों पर धार्मिक वातावरण में अभिव्यक्त की गई हैं। चरितकाव्यों की कथाओं में मोड़ तथा परिवतन कम है। क्योंकि उनमें आरम्भ से ही नायक को असाधारण एवं अतिलौकिक रूप में चित्रित किया जाता है। देव लोग उनका स्नान-अभिषेक करते हैं। तरह-तरह के साधन जुटाते हैं और उनके अतिशय रूप तथा स्वरूप से ही पहले से ही प्रभावित एवं आकर्षित रहते हैं। किन्तु कथाकाव्य में दुःख-सुख झूली में झूलते हुए, संघर्ष-विघर्षों से टकराते हुए, आशा-निराशा में डूबते-उतराते हुए नायक अपने जीवन का स्वयं निर्माण करते हैं और साधारण से साधारण पुरुष की भांति दुःख तथा वेदनाओं को झेलते हैं।

यद्यपि चरितकाव्यों में भी नायक के साहस तथा शूर-वीरता के कार्य व्यापारों का वर्णन रहता है पर वह अतिलौकिक शक्तियों से प्रेरित तथा समन्वित होता है। इसलिये उसमें सहज ही दैवी भाव लक्षित होता है। पुराणों की भांति चरितकाव्यों में प्रायः एक से अधिक कथाएं एक साथ वर्णित देखी जाती हैं। कथा में से कथा फूट कर जन्म-जन्मान्तरों की घटनाओं तथा इतिवृत्तों से इस प्रकार संयुक्त हो जाती हैं मानो कथा का ही मुख्य अंग हों। चरितकाव्यों की अपेक्षा कथाकाव्यों में इस प्रकार की चिप्पियां कम लगी मिलती हैं और कम से कम पूर्वार्द्ध कथाओं तथा घटनाओं में ऐसा व्यवस्थित क्रम मिलता है कि क्रियान्विति का सूत्र कहीं से भी विच्छिन्न नहीं जान पड़ता है। परन्तु चरितकाव्यों में क्रियान्विति का निर्वाह नहीं देखा जाता है। चरितों के माध्यम से अपभ्रंश कवियों ने किसी-किसी चरितकाव्यों में धार्मिक उद्देश्य भी प्रकट किया है। महाकवि पुष्पदन्त ने "जसहरचरिउ" की रचना "अहिंसा परम धर्म है" इस मान्यता को प्रभावशाली ढंग से प्रकट करने के लिए की है। और इस उद्देश्य के साथ ही ग्रन्थ की भी समाप्ति हो जाती है। हिन्दी के प्रेमाख्यानकों में भी यही प्रवृत्ति मिलती है।

अपभ्रंश के कथा तथा चरितकाव्यों में जिस सामन्तकालीन वातावरण का चित्रण मिलता है वही आगे चल कर कुतुवन कृत 'मृगावती' तथा अन्य सूफी एवं प्रेमाख्यानक काव्यों में दिखाई पड़ता है। राजकुमार का बहुपत्नीत्व, समुद्र-यात्रा, आदर्श प्रेम, रोमांस तथा धन-यौवन आदि वैभव एवं समृद्धि से उल्लसित जीवन इसी तथ्य की ओर संकेत करता है।

इस प्रकार मध्ययुगीन साहित्य में विकसनशील पौराणिक तथा लोकाख्यानों से एक नवीन ही काव्यधारा का प्रचलन हुआ, जो आगे चलकर सूफी प्रेमाख्यानक तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानकों में पल्लवित तथा पुष्पित हुई। वस्तुतः अपभ्रंश-कथाकाव्य की यह धारा चिर-प्रचलित प्राकृत लोकाख्यानों की परम्परा में विकसित हुई है जो मूलतः नायकों के चरित तथा धार्मिक प्रभाव को प्रकाशित एवं प्रसारित करने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। और यही कारण है कि अपभ्रंश के प्रत्येक कथा तथा चरितकाव्य में किसी न किसी आदर्श की प्रतिष्ठा हुई है। भारतीय मान्य सिद्धान्तों की भांति इन का मूल स्वर आदर्श का है, यथार्थ का नहीं। यद्यपि व्यक्तिवादी आदर्शों तथा मान्यता की अवहेलना नहीं की गई है और कहीं-कहीं उनका प्रभाव भी दर्शाया गया है किन्तु अन्त धार्मिक वातावरण तथा आदर्श सिद्धान्तों के पालन और पूर्णता के साथ हुआ है। स्पष्ट ही अपभ्रंश के कथा तथा चरितकाव्यों का प्रारम्भ और अन्त शान्त रस में पर्यवसित हुआ है। इसलिए इन काव्यों के अध्ययन से कभी-कभी यह प्रतीत होने लगता है कि जीवन के मूल्यों की उपेक्षा की गई है परन्तु दूसरे ही क्षण शान्ति और वैराग्य की झलक बहिर्मुखी लोक से अन्तर्लोक की ओर आकर्षित किये बिना नहीं रहती है। और यही इनकी सामान्य विशेषता है। *

---

* डा० देवेन्द्रकुमार जैन, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, शासकीय विज्ञान महाविद्यालय, रायपुर (म० प्र०)

संस्कृति के भूत

डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०

संस्कृति शब्द का अर्थ है, वे तत्व जो हमारे व्यक्तित्व का संस्कार करते हैं। आत्मा, बुद्धि, मन, वाणी तथा शरीर सभी व्यक्तित्व के अंग हैं, सामाजिक व्यक्तित्व में धन सम्पत्ति, प्रतिष्ठा आदि बातें भी आ जाती हैं। संस्कार दो प्रकार के होते हैं। विध्यात्मक और निषेधात्मक। सुन्दर वेशभूषा, शारीरिक स्वास्थ्य, वाणी का प्रभावशाली होना, साहस, उदारता, विवेचनशक्ति, सूक्ष्म-निरीक्षण आदि विध्यात्मक संस्कार हैं। स्नान आदि क्रियाओं द्वारा शरीर, वाणी, मन आदि को निर्मल बनाना निषेधात्मक संस्कार हैं।

प्रायः देखा गया है कि समय बीतने पर संस्कार के रूप में स्वीकृत तत्व अपने असली लक्ष्य को छोड़ देते हैं और अपने आप में जीवन का अंग बन जाते हैं। उनकी आत्मा लुप्त हो जाती है और निर्जीव शरीर रह जाता है। फिर भी हम उन्हें संस्कृति का अनिवार्य तत्व मानते रहते हैं। ऐसा लगता है जैसे उनके बिना हम असभ्यता के युग में पहुँच जाएंगे। चेतना इन तत्वों के बंधन में जितनी अधिक जकड़ी रहती है, उतना ही हम अपने को उच्च समझते हैं। तथाकथित उच्च अतीत के साथ सम्बन्ध जोड़कर गौरव का अनुभव करते हैं। फलस्वरूप विकास रुक जाता है। चेतना अवरुद्ध हो जाती है। संगठन एक निर्जीव ढाँचा रह जाता है। इन्हीं तत्वों को संस्कृति के भूत कहा जाता है।

उदाहरण के रूप में स्नान शरीर शुद्धि का साधन है। किन्तु जब वह धर्म का अंग बन गया तो यह माना जाने लगा कि जितनी अधिक डुबकियां लगाई जायेगी, उतना ही पुण्य अधिक होगा। मैल दूर करने का लक्ष्य विस्मृत हो गया। उस लक्ष्य से स्नान करने वाले को नास्तिक कहा जाने लगा। तीर्थ पर साबुन लगाने और अंगों को रगड़ने तक की मनाई कर दी गई।

भूत शब्द का अर्थ है वे बातें जो बीत चुकीं, जिनका उपयोग या जीवन समाप्त हो चुका। दूसरा अर्थ है प्रेत आत्माएं। अर्थात् वे व्यक्ति, जिनका मूर्त अस्तित्व नहीं रहा। जीवित व्यक्तियों की अपेक्षा भूत अधिक भयानक होते हैं। वे हमारी चेतना पर छाए रहते हैं। उन्मुक्त होकर सांस नहीं लेने देते। उनसे अभिभूत व्यक्ति में तरह तरह के मानसिक तथा शारीरिक रोग घर कर

लेते हैं और अंत में प्राण लेकर छोड़ते हैं। इतना ही नहीं, एक का जीवन समाप्त करके वे दूसरे के साथ चिपक जाते हैं।

व्यक्ति के समान संस्कृतियों के भी भूत होते हैं। और वैयक्तिक भूतों की अपेक्षा अधिक भयानक होते हैं। वे सामूहिक चेतना को अवरुद्ध किए रहते हैं। उनसे अभिभूत समाज नए प्रकाश को बुरी दृष्टि से देखता है। उसे मिथ्यात्व, नास्तिकता, समाजद्रोह या देश द्रोह कहकर दूर रखना चाहता है। इस पर भी जब वह नहीं रुकता तो अपनी आंखें बन्द कर लेता है। सन्तान तथा अनुयायियों को भी आंखें बन्द रखने की कड़ी आज्ञा देता है। खोलने पर कड़ा दंड दिया जाता है। धर्म, समाज, राजनीति, विद्या आदि संस्कृति का प्रत्येक क्षेत्र इस प्रकार की आज्ञाओं और दंडों से भरा है। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि प्रत्येक संस्था का जीवन उन क्रांतिकारियों का इतिहास है जो इन भूतों से नही डरे और साहस करके सामने खड़े हो गए। उन्होंने अन्धकार का पर्दा फाड़कर प्रकाश का स्वागत किया। नेता के रूप में वे स्वयं प्रकाश बन गए। किन्तु धीरे-धीरे उनके भी चारों ओर अन्धकार घनीभूत हो गया। अनुयायी वर्ग अन्धकार को भी उनके व्यक्तित्व का आवश्यक तत्व मानता चला गया। एक दिन प्रकाश बुझ गया और अन्धकार ही अन्धकार रह गया। प्रकाश के नाम से उस अन्धकार की पूजा होने लगी।

धर्म के क्षेत्र में वे भूत वेशभूषा, क्रियाकांड, शुष्क अनुष्ठान, अन्धविश्वास आदि के रूप में बुद्धि को घेरे रहते हैं। एक ऐसा वर्ग खड़ा हो जाता है जो अतीन्द्रिय तत्वों की दुहाई देकर परम्परा की रक्षा के लिए कहता है। शास्त्रो के पाठ को तोड़ मरोड़ कर सच्चे-झूठे अर्थ करता रहता है और पद-पद पर उनकी दुहाई देता है। जो उनकी बात नहीं मानते, उन्हें बदनाम करता है। प्रत्येक धर्म में परम्परा को न मानने वालों के लिए गालियां बनी हुई हैं। मिथ्यात्व, नास्तिक, काफिर, एथीस्ट आदि शब्द इसी प्रकार के हैं। इन भूतों की रक्षा के प्रयत्न में धर्म संगठन मिथ्या प्रदर्शन तथा दंभ का घर बन जाता है। खान-पान, छूआछूत, तिलक, वेशभूषा तथा थोथी क्रियाएं चर्चा का मुख्य विषय बन जाती हैं। उनके लिए अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि सदाचार के मुख्य तत्वों की उपेक्षा होने लगती है।

पुरोहित वर्ग तथा साधु-संस्था का इतिहास इन तथ्यों का साक्षी है। ब्राह्मण वर्ग आत्मचिंतन को छोड़कर थोथे क्रियाकाण्ड को महत्व देने लगा। यज्ञ में वेदी कितनी बड़ी होनी चाहिए? उसमें लगाई जानेवाली प्रत्येक ईंट

कितनी लम्बी, कितनी चौड़ी और कितनी मोटी होनी चाहिए ? चम्मच का अगला भाग कितना बड़ा होना चाहिए और पिछला कितना ? मंत्रपाठ करते समय किस अक्षर को जोर से बोलना चाहिए और किसे मंद स्वर से ? यजमान और पुरोहित को कैसे कपड़े पहिनने चाहिए आदि बातें महत्वपूर्ण हो गईं। कहा जाने लगा कि इनमें तनिक-सा भी फर्क होने पर देवता नहीं आयेंगे और यज्ञ का फल नहीं मिलेगा।

जैन धर्म सैद्धांतिक दृष्टि से ऐसी बातों को महत्व नहीं देता। वहाँ सिद्धों के १५ भेद बताये गए हैं, उनसे पता चलता है कि साधक, स्त्री हो या पुरुष जैन साधु के वेश में हो या अन्य किसी में, अपेक्षित जीवन शुद्धि होने पर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अनेकांतवाद प्रत्येक दृष्टि का समन्वय करने के लिए कहता है और एकान्तवाद को मिथ्यात्व मानता है। जैन विद्वान् तथा साधु दूसरों के सामने अपनी उदारता दिखाने के लिए यही रूप उपस्थित करते हैं किन्तु अपने जीवन में उसे कहाँ तक अपनाते हैं यह विचारणीय है। जैन साधु संस्था भी वेशभूषा तथा बाह्य क्रियाकांड को कम महत्व नहीं देती। मुख वस्त्रिका कितनी लम्बी चौड़ी होनी चाहिए, उसे मुँह पर बांधे रखना चाहिए या हाथ में, रजोहरण की डंडी कितनी बड़ी होनी चाहिए, मूर्ति की पूजा करनी चाहिए या नहीं। यदि करनी चाहिए तो वह नग्न होनी चाहिए या सवस्त्र इत्यादि बातें चर्चा का विषय बनी हुई हैं और उनके पीछे आत्मसाधना की उपेक्षा होती जा रही है।

सामाजिक क्षेत्र में ये भूत रूढ़ियों के रूप में चिपके रहते हैं। कर्णधारों को भय लगा रहता है कि उन्हें छोड़ देने पर प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल जायगी। समाज रसातल में चला जाएगा। मृत्युभोज, छुआछूत, जात-पांत, नारी के प्रति हीन भावना आदि इसी प्रकार के भूत हैं।

राजनीति में इन भूतों का प्रभाव समाज से भी अधिक भयंकर है। उपयोगिता न होने पर भी कमर में तलवार बांधकर चलना, वर्षा या धूप न होने पर भी छत्र लगाये रहना, मक्खियां न होने पर भी चँवर का घूमते रहना, हाथी, घोड़े, रथ आदि का मिथ्या प्रदर्शन, अहंकारपूर्ण वेशभूषा आदि बातें अब भी राजघरानों को घेरे हुए हैं। इनमें से बड़ा भूत है राष्ट्रीयता, जिसके कारण एक व्यक्ति सीमा-विशेष के इस ओर बसे हुए नागरिकों को अपना मित्र मानता है और उस तरफ वालों को शत्रु। यह वृत्ति उस समय का संस्कार है जब मानव छोटे-छोटे कुलों में रहता था और वे आपस में लड़ते

थे। दो ग्राम या बस्तियों का सम्बन्ध, 'मित्रतापूर्ण' नहीं होता था। 'संग्राम' शब्द का अर्थ है दो ग्रामों का इकट्ठा होना, जो युद्ध के रूप में ही होता था। इसी प्रकार संकुल शब्द का अर्थ है दो या अधिक कुलों का एकत्र होना जो सारी व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर डालता था। अब भी मानव भौगोलिक परिधियों की उस थोथी अस्मिता को लिए हुए है।

विद्या का क्षेत्र भी इन भूतों के प्रभाव से मुक्त नहीं है। विज्ञान अनुभवों के आधार पर प्रगति कर रहा है और नई-नई धारणाएं बना रहा है। दूसरी ओर धर्म संस्था पुरानी बातों को दुहरा रही है और नई धारणाओं को मिथ्यात्व कह रही है। यथाशक्ति यह प्रयत्न किया जाता है कि बालक उन बातों को न सीखे और पुरानी धारणाओं से चिपका रहे। तर्क या अपनी बुद्धि का वहीं तक उपयोग करे जहां तक वह परम्परागत विश्वासों का समर्थन करती है। जो जातियां तथा राष्ट्र इन मानसिक परिधियों को लांघ गए, वे विश्व का नेतृत्व कर रहे हैं। दूसरी ओर उन धारणाओं से चिपके रहने वाले केवल धर्मस्थानों में बैठकर अपनी उत्कृष्टता की डींगें हांकते हैं। प्रगतिशील विश्व में उनका कोई स्थान नही है। वे उन प्राणियों के समान हैं जो सूर्योदय होने पर किसी अंधेरी जगह में जा छिपते हैं।

शवपूजा :

जीवन का अर्थ है शरीर और आत्मा का सम्बन्ध। जहाँ शरीर आत्मा के लिये होता है, आध्यात्मिक विकास में सहायता देता है, उस व्यक्तित्व को प्राणवान कहा जाता है। इसके विपरीत जहाँ शरीर अपने आप में साध्य बन जाता है, उसके लिये आत्मा की उपेक्षा होने लगती है, वहाँ चेतन के स्थान पर जड़ की उपासना प्रारम्भ हो जाती है। जीवन के स्थान पर मृत्यु की पूजा होने लगती है।

व्यक्ति के समान धर्म, राजनीति, समाज आदि सभी क्षेत्रों में पूजा के दोनों रूप मिलते हैं। जो धर्म इस बात को ध्यान में रखकर चलता है कि जड़ चेतन के लिये है, बाह्य क्रियाकांड, वेशभूषा आदि बातें आत्मा के विकास के लिये हैं। साथ ही जब यह देखता है कि वे आत्म-विकास में बाधा डाल रही हैं, मिथ्या अहंकार तथा राग-द्वेष को बढ़ा रही हैं तो उन्हें परिस्थिति के अनुसार बदलने या छोड़ने के लिये तैयार रहता है; उसकी शक्ति क्षीण नहीं होती। इसके विपरीत जो धर्म रूढ़ि तथा परम्परा के नाम पर इन बातों को महत्व देने लगता है तब उसकी प्राणशक्ति क्षीण होती चली जाती है। वह

आत्म-साधना का मार्ग न रहकर अहंकार पोषण का मार्ग बन जाता है, आत्म विकास के स्थान पर उसका आवरण हो जाता है। वहाँ प्राण के स्थान पर शव की पूजा प्रारम्भ हो जाती है।

कुछ दिन पहले कश्मीर में मुहम्मद के बाल को लेकर तूफ़ान खड़ा हो गया। मुहम्मद ने परमात्मा पर विश्वास और विश्व-बन्धुत्व का सन्देश दिया था। उन्होंने अपने शरीर, वस्त्र या अन्य किसी जड़ वस्तु को पूजने के लिये नहीं कहा था। इस्लाम जड़ वस्तुओं की पूजा को कुफ्र या नास्तिकता कहता है किन्तु उसका झंडा लेकर चलने वाले मुहम्मद के बाल को लेकर पड़ौसी का गला काटने को तैयार हो गये। चेतन के स्थान पर शव के पुजारी बन गये। मन सन्देह में पड़ जाता है कि उन्हें मुसलमान कहा जाय या नहीं।

ईसाई धर्म में चार सौ वर्ष पहले ग्जेवियर नाम के सन्त हुये थे। गोवा में उनकी लाश रखी हुई है। समय-समय पर उसका प्रदर्शन किया जाता है और लाखों ईसाई दर्शन करने के लिये इकट्ठे हो जाते हैं। ईसा ने दुखियों की सेवा करने और शत्रु को भी गले लगाने का सन्देश दिया था। किन्तु अनुयायिओं के लिये उस लाश का जितना महत्व है उतना उन सन्देशों का नहीं रहा।

बुद्ध का एक दांत सांची के खंडहरों में मिला था। अंग्रेज शासक उसे इंग्लैंड ले गये और लंदन के संग्रहालय में रख दिया। भारत के स्वतन्त्र होने पर बहुमूल्य निधि के रूप में उसे वापिस लाया गया। एक वर्ष तक वह स्थान स्थान पर घूमता रहा। स्वागत में बड़े-बड़े जुलूस निकलते रहे। सांची के विहार का पुनरुद्धार किया गया और वहाँ अत्यन्त सम्मान के साथ उसे स्थापित कर दिया गया। वह दाँत बहुत बड़ा है, इस आधार पर कुछ विद्वानों की मान्यता है कि वह मनुष्य का नहीं हो सकता।

इसी प्रकार पटने के संग्रहालय में एक सिर रखा हुआ है। कहा जाता है कि वह बुद्ध के प्रधान शिष्य सारिपुत्र का है। प्राणीशास्त्रियों को इसमें भी सन्देह है। उनकी धारणा है कि मनुष्य की खोपड़ी उस प्रकार की नहीं हो सकती।

कुछ भी हो, भगवान बुद्ध का सन्देश था कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी बुद्धि से सोचकर चले। वे यह भी नहीं चाहते थे कि सर्वसाधारण उनकी बातों को बिना सोचे-समझे मान ले। फिर भी अनुयायियों द्वारा दाँत और खोपड़ी को महत्व देना समझ में नहीं आता।

भारतीय संस्कृति में शव को जला देने की प्रथा है। उसकी धारणा है कि जो शरीर आत्मा का अधिष्ठान नहीं रहा, जिसका उपयोग समाप्त हो गया उसे सुरक्षित नहीं रखना चाहिये। ऐसा शरीर भूत-प्रेतों का अड्डा बन जाता है।

वैयक्तिक शव जला देने की प्रथा होने पर भी सांस्कृतिक क्षेत्र में वह परम्परा नहीं आई। वहाँ अब भी उन बातों को घसीटा जा रहा है जिनकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है। प्राचीनता के नाम पर व्यर्थ की बातों को मानव-बुद्धि पर लादा जा रहा है। संस्कृति के शव हमारे जीवन को घेरे हुये हैं और नई प्राण शक्ति का विरोध कर रहे हैं। इतना ही नहीं, उन शवों को आधार बना कर अनेक मिथ्या धारणायें पनप रही हैं जो भूत-प्रेतों के समान साधारण जनता को डराती हैं। ऐसा लगता है जैसे उन शवों की पूजा न करने पर वे खा जावेंगी। नई बात को सोचने तक में 'भय' होता है।

धर्म एक प्रदीप के समान है किन्तु प्रदीप का अर्थ है वह अग्निशिखा जो चारों ओर प्रकाश फैलाती है। तेल और बत्ती प्रतिक्षण अपनी आहुति देकर उस ज्योति को प्रज्वलित रखते हैं। मिट्टी का पात्र जिसमें तेल और बत्ती रखे जाते हैं केवल बाह्य आधार होता है। वह मिट्टी या सोना, चांदी, पीतल आदि किसी धातु का हो सकता है किन्तु यदि मिट्टी का दिया जलाने वाला इस बात का आग्रह करे कि सोने के पात्र में प्रज्वलित शिखा प्रकाश नहीं दे सकती अथवा सोने के पात्र वाला अग्निशिखा की उपेक्षा करके इस बात का गर्व करे कि उसका पात्र सोने का है तो दोनों को जड़ पूजक कहा जायगा। दोनों प्रकाश को छोड़ कर अन्धेरे में भटकते हैं। एक को गुदड़ी का अहंकार है और दूसरे को मुकुट का। दोनों सत्य से दूर चले जाते हैं। प्रकाश के स्थान पर अहंकार के उपासक बन जाते हैं।

आत्म-साधना में बाह्य आचार का स्थान पात्र के समान है। कोई गेरुए कपड़े पहिन कर उस ज्योति को प्रज्वलित करने का दावा करता है, कोई सफेद कपड़े पहनकर, कोई जटा बढ़ाकर, कोई उस्तरे से मुँडाकर और कोई बाल नोंचकर। किन्तु यदि आत्म-ज्योति प्रज्वलित नहीं होती तो सब व्यर्थ है। उनकी उत्कृष्टता तथा हीनता का मापदंड 'ज्योति' है, अपने आप में उनका कोई मूल्य नहीं है। 'ज्योति' न होने पर भी उन्हें महत्व देना 'शवपूजा' है।

तेल और बत्ती के स्थान पर हम उन साधना-पद्धतियों को रख सकते हैं जो आत्मा का मालिन्य दूर करती हैं। कोई घी का दिया जलाता है, कोई तेल का और कोई मोम का उपयोग करता है। प्रकाश प्राप्त होने पर किसी

को भी हेय नहीं कहा जा सकता। व्यक्ति को अपनी सुविधानुसार सभी का उपयोग करने की छूट है। इसी प्रकार आत्मा की ज्योति को प्रज्वलित करने के लिये कोई स्वाध्याय का मार्ग अपनाता है, कोई ध्यान का, कोई दुखियों की सेवा का और कोई तपस्या का। सर्वत्र यह आवश्यक है कि व्यक्ति कषाय, मोह की बत्ती को जलाता चला जाय। बत्ती जितनी जलेगी, प्रकाश उतना ही अधिक होगा। इसके विपरीत उसे जितना सुरक्षित रखा जायगा, प्रकाश की मात्रा उतनी ही शून्य होगी। प्रकाश प्राप्त होने पर भी दूसरे के तेल या बत्ती की निन्दा करना एकांतवाद है जो मिथ्यात्व का रूपांतर है।

किन्तु प्रायः देखा गया है कि हम अपने अहंकार को जलाने के स्थान पर सिद्धान्त की आड़ लेकर उसका पोषण करने लगते हैं। धर्माचार्यों में अपने-अपने सिद्धान्त को उत्कृष्ट सिद्ध करने की होड़ चल पड़ती है। उन्हें जीवन में उतारने की इतनी चिन्ता नहीं रहती जितना उसका ढोल पीटकर दूसरे को चुप करने की। इस प्रकार सिद्धान्त आत्मा के आवरण बनकर गर्व का पोषण करने लगते हैं। जीवन के प्रेरक तत्व नहीं रहते। वास्तव में देखा जाय तो सिद्धान्त कितना ही ऊंचा हो जब तक जीवन में नहीं उतरता उसका कोई मूल्य नहीं है। ऐसा सिद्धान्त निष्प्राण शव के समान होता है और उसका नाम लेकर हम आत्म-विकास के स्थान पर अहंकार की पुष्टि करने लगते हैं।

उदाहरण के रूप में अनेकांत को प्रस्तुत किया जा सकता है। यह एक सिद्धान्त है जो झगड़ों का अन्त कर सकता है। उसका तकाजा है कि हम अपनी मान्यता या दृष्टिकोण को दूसरे पर लादने के स्थान पर उसके दृष्टिकोण को समझने का उपाय करें। उसकी भावनाओं और अनुभूतियों को अपनी भावनाएं एवं अनुभूतियां बनाकर देखें। इसीका दूसरा नाम समता है जो कि जैन साधना का एक मात्र लक्ष्य है। किन्तु यदि कोई समता की घोषणा पर भी अपने को दूसरे से उत्कृष्ट समझता है, प्रत्येक बात पर दूसरे को शिथिल या पतित कहता है तो वह समता को छोड़कर विषमता के मार्ग पर चल पड़ता है। मौखिक घोषणा मात्र से समता का उपासक नहीं कहा जा सकता। समता की उपासना का ही दूसरा नाम 'सामायिक' है। यह साधु का जीवन व्रत होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में आया है कि श्रमण का अर्थ है समता का उपासक। इसे छोड़ देने पर किसी को यह अधिकार नहीं रहता है कि अपने आपको श्रमण कह सके। यह समता की शवपूजा है, चेतन पूजा नहीं।

अनेकांत दूसरे के दृष्टिकोण को समझने पर बल देता है। लोकतन्त्र के इस युग में इस बात को बहुत महत्व दिया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने

विचार प्रकट करने का पूरा अधिकार है किन्तु वस्तुस्थिति भिन्न है। हमारी इच्छा यह रहती है कि सर्वसाधारण दूसरे के विचारों को न सुने। धार्मिक जगत् में यह सिखाया जाता है कि विरोधी विचारों को सुनना मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व पाप है। धर्म में श्रद्धा रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को इस पाप से बचना चाहिये। सावधान रहने पर भी यदि विरोधी की बात कान में पड़ जाय तो उसे हृदय में स्थान नहीं देना चाहिए। उसके गुणों पर ध्यान न देकर दोष निकालने का प्रयास करते रहना चाहिए। सम्यक्त्व की रक्षा के नाम पर किया जाने वाला यह प्रयत्न अनेकान्त को छोड़कर एकांत की उपासना है। जैन परिभाषा में इसे मिथ्यात्व कहा जायगा।

हम प्रतिदिन सर्वमैत्री की घोषणा करते हैं। मित्रता का अर्थ है दूसरों के प्रति घृणा के स्थान पर प्रेम की स्थापना किन्तु यदि हम अपने साथी के दोष प्रगट करने में लगे रहते हैं, उसे सम्मान या सत्कार नहीं देना चाहते तो इसका अर्थ है कि हमारी मित्रता की घोषणा वंचना है, दम्भ है। उसके द्वारा हम अपने आपको ठगते हैं। जो व्यक्ति प्रतिदिन प्रातः और सायं दोनों समय सच्चे मन से मित्रता की घोषणा करते हैं, उसके मन में किसी के प्रति घृणा नहीं रह सकती। वह सब से प्रेम करेगा, सभी का आदर करेगा, सर्वत्र दोषों को छोड़ कर गुण-ग्रहण करने का प्रयत्न करेगा। इसके बिना मित्रता की घोषणा केवल शवपूजा है।

विचारों के दो रूप

हम जो भोजन करते हैं वह दो प्रकार से परिणत होता है। जो पच जाता है वह रक्त, मांस आदि धातुओं में परिणत होकर शरीर का पोषण करता है। जो नहीं पचता शरीर उसे मल के रूप में बाहर निकाल देता है। यदि वह बाहर नहीं निकलता तो विकार उत्पन्न करता है, शरीर को विषाक्त कर डालता है।

यही बात विचारों की है। विश्व एक पाठशाला है, उससे नये-नये विचार मिलते रहते हैं। पुस्तक तथा विद्वानों से भी विचार प्राप्त होते हैं। जो हमारे जीवन में घुल जाते हैं।

कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें पचाना सम्भव नहीं होता। वे जीवन में नहीं उतरते। उन्हें भुला देना चाहिये या तटस्थ वृत्ति रखनी चाहिये। ऐसा न होने पर वे दुराग्रह उत्पन्न करते हैं जो कि मन का रोग है।

धर्म के क्षेत्र में यह दुराग्रह उन्माद बन जाता है और अनेक रूपों में प्रगट होता है।

इसका पहला रूप अहंकार है। प्रत्येक धर्म ने सत्य, अहिंसा आदि उच्च सिद्धान्त उपस्थित किये हैं। वे ज्यों-ज्यों जीवन में उतरते हैं व्यक्ति अधिकाधिक विनम्र तथा शांत होता चला जाता है उसकी दृष्टि अपने दोषों पर रहती है और दूसरे के गुणों पर। किन्तु जब वे नहीं पचते तो उनका नारा लगाकर अपने को ऊंचा सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। हमारा लक्ष्य आत्म-शुद्धि के स्थान पर अहंकार की पूर्ति बन जाता है। यह दो प्रकार से की जाती है। पहला प्रकार साम्प्रदायिक घृणा का है। प्रत्येक धर्म नायक तथा उसका अनुयायी दूसरे सम्प्रदाय के प्रति घृणा प्रगट करके अपने अहंकार का पोषण करता है। दूसरा रूप वैयक्तिक अहंकार का है, जहां आध्यात्मिक गुण न होने पर भी वेश-भूषा आदि के आधार पर एक व्यक्ति अपने को दूसरे व्यक्ति से उत्कृष्ट समझने लगता है। एक जगह उन्माद साम्प्रदायिकता का रूप ले लेता है और दूसरी जगह बाह्य प्रदर्शन का। दोनों परिस्थितियों में सत्य पीछे छूट जाता है और मिथ्या अहंकार जीवन का संचालन करने लगता है।

अनपचे विचारों का दूसरा रूप अन्धश्रद्धा है। उपनिषदों में सत्य के साक्षात्कार की तीन दशाएं बताई गई हैं। पहली दशा श्रवण की है, इसका अर्थ है, शास्त्र या गुरु की बात को श्रद्धापूर्वक सुनना। उस समय, उसके सत्या-सत्य की ओर ध्यान नहीं दिया जाता, केवल यह जानने का प्रयत्न रहता है कि वे क्या कह रहे हैं। दूसरी दशा मनन की है, इसका अर्थ है युक्तिपूर्वक विचार करना कि वह बात कहाँ तक ठीक है। तीसरी दशा निदिध्यासन की है अर्थात् उस सत्य का साक्षात्कार करना या जीवन में उतारना। इस दशा में विचारों का परिपाक हो जाता है। जो व्यक्ति दूसरी दशा को नास्तिकता कहकर पहली ही में बैठा रहता है उसका विकास नहीं होता। धारणाएं अपने आप में सत्य होने पर भी उसके लिये मिथ्यात्व का रूप ले लेती हैं क्योंकि वह उन्हें कदग्राह पूर्वक पकड़ता है। उसकी बुद्धि प्रकाश प्राप्त करने के स्थान पर अन्धकार में भटकती रहती हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में सम्यग्ज्ञान का यही भेद किया गया है। एक ही धारणा जब समझ कर बनाई जाती है तो वह सम्यग्ज्ञान में आती है। उसीका आधार यदि दुराग्रह है तो मिथ्या हो जाती है। यह दुराग्रह कहीं प्रवर्त्तक, कहीं शास्त्र, कहीं परम्परा और कहीं बाह्य आचार को लेकर खड़ा होता है।

प्रायः देखा गया है कि विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायी प्रत्येक विचार

के लिये अपने-अपने प्रवर्त्तक के शब्दों को पकड़े रहते हैं और उन्हें पद-पद पर दोहराते रहते हैं। वे अपनी बुद्धि से सोचना और अपनी आंखों से देखना बन्द करके अचेतन वस्त्र के समान उन्हीं के प्रवाह में बह जाना चाहते हैं। इस प्रकार के प्रवाह को प्रगति नहीं कहा जा सकता। प्रगति का अर्थ है स्वयं सोच समझ कर स्वतन्त्रता पूर्वक कदम बढ़ाना।

महापुरुष के पीछे आश्रम या अन्य प्रकार की संस्थाओं का जाल खड़ा हो जाता है। वे उसके शब्दों को दोहराते रहते हैं और स्वतन्त्र विचारों को दण्डित करने का प्रयत्न करते रहते हैं। विचारों का अजीर्ण उन्हें उन्मत्त बना देता है। धर्म का रक्त रंजित इतिहास अनपचे विचारों का इतिहास है।

डकार उसी भोजन की आती है जो नहीं पचता और छाती पर रखा रहता है। दूषित वायु ऊपर उठती है और तब तक चैन नहीं पड़ता जब तक वह बाहर नहीं निकल जाती। इसी प्रकार अनपचे विचार हमारी छाती पर धरे रह जाते हैं। अहंकार मिश्रित वायु बेचैनी पैदा करती है और उन्हें उगलने के लिए उकसाती रहती है। जब उगल देते हैं तो क्षणिक शांति मिलती है। इस उगलने के लिए श्रोताओं की आवश्यकता होती है और उन्हें एकत्रित करने के लिए मिथ्या आडम्बर एवं प्रपंच रचे जाते हैं, जिन्हें 'प्रभावना' कहा जाता है।

प्रदीप को अपने प्रकाश के लिए घोषणा करने की आवश्यकता नहीं होती। वह जलता है और प्रकाश अपने आप फैलता है। घोषणा की आवश्यकता केवल बुझे हुए मिट्टी के पात्र की होती है, जो इस आधार पर सम्मान प्राप्त करना चाहता है कि उसका कभी प्रकाश के साथ सम्बन्ध रहा है। प्रायः देखा गया है कि जो व्यक्ति वर्तमान को उज्ज्वल नहीं बना सकता, वही अतीत की डींगें हांकता है। यही बात धार्मिक परम्पराओं की है।

आदर्श और अहंकार

जैन धर्म का कथन है कि वस्तु का अपने आप में कोई मूल्य नहीं होता। उसका निर्धारण ग्रहण करने वाले की मनोवृत्ति के आधार पर किया जाता है। वही व्यक्ति एक के लिये आत्म-शुद्धि का प्रेरक हो सकता है, दूसरे के लिये क्रोध या द्वेष का और तीसरे के लिए राग या मोह का। ऐसी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि उसे स्वीकार करने वाले सभी मनुष्यों को एक-सा लाभ होगा।

धर्म संस्था के घटक तीन तत्त्व माने जाते हैं—देव, गुरु और धर्म। देव तत्त्व उस लक्ष्य को प्रगट करता है जहाँ हमें पहुँचना है, वह आत्म शुद्धि

की चरम सीमा है। गुरु उस लक्ष्य को सामने रखकर चलने वाले पथिक हैं, वे अपने जीवन तथा उपदेशों द्वारा वहाँ पहुँचाने वाले पथ को आलोकित करते रहते हैं। धर्म उस पथ का नाम है, जिसे अहिंसा, संयम, तप आदि शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है। प्रत्येक जैन अपने जीवन व्रत के रूप में इन तीनों तत्त्वों को स्वीकार करता है और उससे आशा की जाती है कि अपनी प्रत्येक हलचल में उनका ध्यान रक्खे। इनकी उपेक्षा करने पर किसी व्यक्ति को जैन होने का अधिकार नहीं है। पारिभाषिक शब्दों में इसे सम्यक्त्व कहा जाता है, जो आध्यात्मिक विकास की पहली सीढ़ी है।

किन्तु यहाँ यह समझने की आवश्यकता है कि इन्हें अपनाने का क्या अर्थ है? उदाहरण के रूप में हम भगवान महावीर को लें, वे देव तत्त्व में आते हैं। उन्हें अपनाने का एक अर्थ है उनके जीवन को आदर्श मान कर तदनुसार चलने का प्रयत्न करना। वे वीतराग थे। आत्मा के समस्त दोषों को दूर कर चुके थे, उसी प्रकार हम भी अपने दोषों और दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करने का अभ्यास करें।

दूसरा अर्थ है उनके साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध जोड़ कर अपने को दूसरे से उत्कृष्ट समझना। यदि कोई उन्हें गाली देता है या अपमान करता है तो हम इसे अपना अपमान समझते हैं। इसी प्रकार उनकी प्रतिष्ठा को अपनी प्रतिष्ठा मानते हैं। जब कोई उन्हें बुरा कहता है तो उससे लड़ने को तैयार हो जाते हैं। और जब कोई उनके गुणगान करता है तो मन ही मन प्रसन्न होते हैं।

भगवान का मान और अपमान, निन्दा और स्तुति सभी के प्रति समभाव था। यही उनकी जीवन-साधना थी और यही उपदेश। किन्तु हम उनका नाम लेकर राग-द्वेष के अधीन हो जाते हैं। क्या इसे वीतराग की भक्ति कहा जायगा? वस्तुस्थिति यह है कि हम वीतराग की आड़ लेकर अपने अहंकार की पुष्टि करने लगते हैं। वहां भगवान आदर्श न रह कर अस्मिता या अहंकार के प्रतीक बन जाते हैं।

इस प्रकार मनोवृत्ति बदलने पर हम सत्य से दूर हटने लगते हैं। शास्त्रीय शब्दों में सम्यग्दर्शन के स्थान पर मिथ्यात्व का प्रवेश होने लगता है। अपने देवता के सच्चे-झूठे गुण गाये जाते हैं और दूसरे देवता के दोष निकाले जाते हैं। जाति, कुल, धन-सम्पत्ति आदि जिन बातों के अभिमान को उन्होंने हमें बताया उन्हीं को लेकर उनका गुण गान करने लगते हैं।

देव के समान गुरु की उपासना भी दोनों प्रकार से हो सकती है। सच्चा साधक गुरु के जीवन से प्रेरणा प्राप्त करता है और उसके उपदेशों पर चलने के लिये प्रयत्नशील रहता है। ऐसी स्थिति में गुरु आदर्श का काम करता है। वही जब अहंकार का प्रतीक बन जाता है तो अनुयायी आचरण के स्थान पर प्रदर्शन की ओर झुक जाता है। गुरु के नाम के साथ सच्चे-झूठे विशेषण लगाकर ढोल पीटता है, उनके जीवन के साथ अनहोनी घटनाओं का सम्बन्ध जोड़कर प्रचार करता रहता है। दूसरे गुरुओं में दोष निकालकर अपने गुरु को उत्कृष्ट बताता है। यदि गुरु के विरुद्ध कोई बात सुनता है तो कहने वाले के साथ लड़ने के लिये तैयार हो जाता है। इस प्रकार आत्मशुद्धि के स्थान पर कषायों का पोषण करने लगता है।

यहां एक बात और है। देव अतीत की वस्तु हैं। वे अपने आप कुछ नहीं करते। उनका नाम लेकर सब कुछ अनुयायी द्वारा किया जाता है। किन्तु गुरु का अस्तित्व वर्तमान काल में होता है। यदि अनुयायी के समान वह भी कषायों से अभिभूत है तो बुद्धि पर गहरा आवरण छा जाता है। ऐसी स्थिति में सत्य का भान होना अत्यंत कठिन है। गुरु अपने अहंकार का पोषण करने के लिये अनुयायी को पथभ्रष्ट करता रहता है और पूजा प्रतिष्ठा आदि के मिथ्या प्रलोभन गुरु को सत्य नहीं प्रकट करने देते। मिथ्या प्रदर्शन धर्म का आवश्यक तत्त्व बन जाता है और संस्कृति, प्रभावना आदि शब्दों द्वारा सचाई पर परदा डालने का प्रयत्न किया जाता है।

तीसरा तत्त्व धर्म या पथ है। इसकी चर्चा भी दोनों रूपों होती है। सच्चे साधक अहिंसा, सत्य, संयम आदि को जीवन में उतारते हैं फिर भी सभी के प्रति नम्र रहते हैं। दूसरा रूप विद्याजीवी वर्ग में मिलता है। वे उन बातों की भारी भरकम शब्दों में चर्चा करते हैं। छोटी-छोटी बातों पर शास्त्रार्थ करते हैं और दूसरे को पराजित करके गौरव का अनुभव करते हैं। उनके लिये सिद्धान्त जीवन में उतारने के स्थान पर अहंकार तृप्ति के साधक बन जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवन को ऊँचा उठाने वाले तत्त्व भी अहंकार के साथ मिलकर पतन का कारण बन जाते हैं। जब तक अहंकार धन-सम्पत्ति आदि किसी जड़ वस्तु के साथ मिला रहता है तब तक उसकी निन्दा की जाती है। उसका प्रदर्शन करते हुये कुछ झिझक या संकोच भी होता है। किंतु जब वही अहंकार आध्यात्मिकता का चोंगा पहिन लेता है तो भांपना कठिन हो जाता है। वर्तमान विश्व का यही अभिशाप है। अहंकार राष्ट्री-

यता, धर्म संस्कृति आदि का चोगा पहिनकर विकराल तांडव कर रहा है। मानव चेतना कुंठित हो रही है। समझ में नहीं आता कि उसे हेय समझें या उपादेय।

सन्त और नेता

धर्म, राजनीति, समाज, शिक्षा, कला आदि प्रत्येक क्षेत्र में दो प्रकार के व्यक्ति मिलते हैं। पहला प्रकार उनका है जो सच्चे साधक होते हैं। उनका एकमात्र लक्ष्य साधना होता है। उसके पीछे अपने आपको भूल जाते हैं। ऐसे साधकों को 'सन्त' कहा जाता है। उन्हें न अनुयायियों की चिंता रहती है और न इस बात की फिक्र रहती है कि कोई उनकी बात माने। लक्ष्य को प्रज्वलित रखने के लिये अपनी आहुति देते चले जाते हैं। तपस्या उनका स्वभाव बन जाता है। वे उसके द्वारा किसी बाह्य वस्तु को नहीं प्राप्त करना चाहते। यश-कीर्ति की कामना भी नहीं रहती। प्रत्युत उसे साधना में विघ्न मानते हैं। स्वयं जलकर 'प्रकाश' देना उनका जीवन बन जाता है।

दूसरा प्रकार उन व्यक्तियों का है जो सन्तों को केन्द्र बना कर दीवारें खड़ी करते हैं। प्रत्येक को यह चिन्ता रहती है कि उसकी दीवार दूसरे से ऊँची दिखाई दे। वे ढोल बजाते हैं। प्रत्येक यह चाहता है कि उसका ढोल दूसरे की अपेक्षा अधिक सुनाई दे। इस प्रकार ढोलों में प्रतिस्पर्धा चल पड़ती है। सर्वसाधारण के कान फूटने लगते हैं। वाध्य होकर उसे कानों में उँगली लगाकर चलना पड़ता है। धर्म के प्रति वर्त्तमान मानव की उपेक्षा का मूल कारण यही है। इन ढोल बजाने वालों को नेता कहा जाता है। वे न स्वयं जलना चाहते हैं और न यह चाहते हैं कि कोई दूसरा जलकर प्रकाश फैलाए। उन्मुक्त प्रकाश को मिथ्यात्व, नास्तिकता, अनुशासनहीनता, उच्छृंखलता आदि शब्दों द्वारा गालियाँ देते रहते हैं। प्रज्वलित प्रदीप के स्थान पर वे बुझी हुई बत्ती और मिट्टी के पात्र को अधिक पसन्द करते हैं। इस बात के गीत गाते हैं कि वह किस रूई की बनी हुई है, कहाँ-कहाँ जली और कितने दिन जली? दिया कितना बड़ा है उसके अन्दर कितना तेल आ सकता है और वह मिट्टी, पत्थर, सोना, चाँदी या अन्य किस वस्तु का बना हुआ है। जलते हुए अंगार को छूने का उनमें साहस नहीं होता, उसके स्थान पर बुझे हुये कोयले के गीत गाते रहते हैं। उसकी रक्षा के लिये बड़े-बड़े मकान बनाते हैं, मूर्ति स्थापित करते हैं, पुस्तकें छापते हैं, सभा सम्मेलनों में उसके अतीत के गुण गाकर गौरव का अनुभव करते हैं।

संत के लिये जीवन का प्रेरक तत्त्व धर्म होता है और नेता के लिये पंथ। धर्म अन्तरात्मा की ज्योति है और पंथ उसका आवरण, जिसका जन्म अहंकार से होता है। धर्म उस प्रकाश स्तम्भ के समान है जो पथ को आलोकित करता रहता है। किंतु पथिक उसका सहारा लेकर स्वयं आगे बढ़ते चले जाते हैं। वह न किसी को बुलाता है और न अपने आलोकित होने की घोषणा करता है। इसके विपरीत पन्थ निरन्तर घोषणा करता है, इस बात का दावा करता है कि उसके पास जो मृत्पात्र है वह तो प्रकाश देता है और दूसरों के पास जो मृत्पात्र हैं वह वैसा नहीं देते। वस्तुतः देखा जाय तो प्रकाश को घोषणा की आवश्यकता नहीं होती। यह आवश्यकता अंधकार को ही होती है।

संत अनुयायियों की चिन्ता नहीं करता। प्रत्युत साधना में विघ्न समझकर उनसे कतराता है। दूसरी ओर नेता अनुयायिओं का संग्रह करने के लिये आडंबर एवं प्रदर्शन करता है, नये-नये जाल रचता है दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है—अनुयायी उसके अनुयायी नहीं रहते वह स्वयं उनका अनुयायी बन जाता है।

सन्त ज्ञान का उपासक होता है और नेता शक्ति का। सन्त आवरणों को हटाना चाहता है और नेता अनुशासन के नाम पर नये-नये आवरण खड़े करता जाता है। संत स्वतंत्रता का उपासक होता है और नेता बन्धन का, जिसे वह संगठन, अनुशासन, मर्यादा आदि शब्दों द्वारा प्रगट करता है। दूसरी ओर स्वतन्त्रता को उच्छृंखलता कहकर उसकी निन्दा करता है।

नेतृत्व का आधार सर्वत्र वास्तविक गुण नहीं होते। एक व्यक्ति, त्याग, तपस्या, जनसेवा, विद्वत्ता, प्रतिभा आदि वास्तविक गुणों के कारण सम्मान प्राप्त करता है। उसके पीछे एक ऐसा वर्ग खड़ा हो जाता है जो वास्तविक गुण न होने पर भी तरह-तरह से उसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है और इस प्रकार प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहता है। कोई अपने को उसका वंशज बताता है, कोई उसकी गद्दी का अधिकारी, कोई उस सरीखी वेशभूषा बनाकर यह दावा करता है कि मुझ में वे सभी गुण आ गये हैं। कोई दिन रात उसके नाम की रट लगाये रहता है। इस प्रकार विविध प्रदर्शनों द्वारा अनुयायियों की विचार शक्ति को मूर्छित करने का प्रयत्न किया जाता है। ऐसा भी होता है कि एक व्यक्ति निजी गुणों के कारण सम्मान प्राप्त करता है और सर्व साधारण को अपना सन्देश सुनाने लगता है। अनुयायिओं की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है। एक दिन उसे भान होता है कि मुझे अपनी धारणाओं में कुछ

परिवर्त्तन करने की आवश्यकता है। सत्य की स्फूर्ति होने पर भी उसमें परिवर्त्तन करने का साहस नहीं रहता।

प्रतिष्ठा का व्यामोह अंतरात्मा को दबा देता है। फलस्वरूप वह उसी असत्य का समर्थन करता चला जाता है। अनुयायी नेता को सत्य पर नहीं आने देते। दूसरी ओर अनुयायियों में यदि कोई मतभेद प्रकट करता है तो उसको नास्तिक, मिथ्यात्वी, काफिर आदि शब्दों द्वारा भर्त्सना की जाती है। सामाजिक बहिष्कार किया जाता है। धर्मसंस्था हिंसक तथा व्यभिचारी को सहन कर सकती है किन्तु ऐसे व्यक्ति को सहन नहीं करती।

मुंडकोपनिषद् में सन्त की उपमा पक्षी और जलचर से दी गई है। आकाश में उन्मुक्त विहार करने वाला पक्षी लक्ष्य को सामने रखकर सहज प्रेरणा से आगे बढ़ता चला जाता है। किसी पूर्व निर्मित मार्ग का अनुसरण नहीं करता। साथ ही अपने पीछे कोई चिन्ह नहीं छोड़ता। इसीको परमहंसगति कहा जाता है। जल में विहार करने वाले प्राणी प्रत्येक हलचल के साथ नये मार्ग की रचना करते हैं। वास्तव में देखा जाय तो साधना के क्षेत्र में संघर्ष का ही महत्व है, वह जितना कठोर होगा, व्यक्ति उतना ही ऊँचा उठेगा। इसके विपरीत जो व्यक्ति संघर्ष से बचने के लिये बने-बनाये मार्ग पर चलता है, आध्यात्मिक क्षेत्र में उसे साधक नहीं कहा जाता, अनुयायी भले ही कहा जाए। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति की अपनी राह होती है और उस पर कांटे बिछे रहते हैं। सन्त उन कांटों से युद्ध करता हुआ बढ़ता चला जाता है, पीछे मुड़कर नहीं देखता, कि उसका कोई अनुसरण कर रहा है या नहीं।

इसके विपरीत नेता सीधी सड़क का प्रलोभन देकर अनुयायियों को इकट्ठा करता रहता है। चलने वालों को धन, सम्पत्ति, विमान तथा अप्सराओं के आकर्षण उपस्थित करता है। इस बात को भूल जाता है कि सड़क भूतल पर ही बनती है। आत्म-विकास का क्षेत्र उससे ऊपर है वहाँ सड़क नहीं बनती।

संत आकाश में विचरण करने वाले बादलों के समान होते हैं। नदी, सरोवर तथा गड्ढों में पड़ा भूतल का पानी तपस्या करता है और सूर्य की किरणों का सहारा लेकर ऊपर उठता जाता है, सारी गन्दगी और मैल नीचे छोड़ देता है। बादलों का रूप लेकर आकाश में विचरण करता है और तपे हुए भूतल को देखकर बरसने लगता है। सन्तों का भी यही क्रम है। राजा हो या रंक, ब्राह्मण हों या शूद्र प्रत्येक व्यक्ति तपस्या द्वारा सन्त बन सकता है, वहाँ वंश-परम्परा या अतीत नहीं देखा जाता किन्तु वर्तमान देखा जाता है।

वही पानी जब गिरि शिखरों पर बरसता है तो जमकर बर्फ बन जाता है। हिम धवल ऊँचे शिखर दूर से सुहावने दिखाई देते हैं, किन्तु वास्तव में वे पत्थर के बने होते हैं, पानी को भी पत्थर बना देते है। वहाँ उपयोगिता के स्थान पर प्रदर्शन या शोभा की मात्रा अधिक होती है, उनकी तुलना नेताओं के साथ की जा सकती है। जो बाहर से यह घोषणा करते हैं कि: हम सिद्धान्त के अनुयायी हैं, किन्तु अन्तर से अपने अहंकार को पोषण करने में लगे रहते हैं। संत सिद्धान्त को जीवन में उतारने के लिए स्वयं पिघलता है और नेता सिद्धान्त के द्वारा अपने अहंकार का पोषण करते हैं। सिद्धान्त उनका आवरण होता है, अन्तरात्मा नहीं।

शिखरों से बहने वाला पानी धारा का रूप ले लेता है और वह उपत्यकाओं तथा मैदानों को लांघती हुई समुद्र में जा मिलती हैं। धारा में जितना वेग होता है उतनी ही वह अधिक शक्तिशाली मानी जाती है। वह मनुष्य तथा अन्य वस्तुओं को बहा ले जाती है, किन्तु उस प्रवाह को प्रगति नहीं कहा जा सकता। प्रगति का अर्थ है अपने पैरों पर खड़े होकर लक्ष्य की ओर बढ़ना। स्वतंत्रता उसका आवश्यक तत्त्व है और प्रवाह में विवशता या पराधीनता रहती है। वह कहीं मानसिक होती है और कहीं शारीरिक।

नेता अपने भाषणों तथा प्रदर्शनों द्वारा धारा की सृष्टि करता है जिसे आन्दोलन कहा जाता है। सर्वसाधारण उसमें बहा चला जाता है, उसकी प्रगति विचार शक्ति कुंठित कर दी जाती है। स्वतन्त्र चेतना लुप्त हो जाती है, इसे प्रगति नहीं कहा जा सकता।

सन्तों की परम्परा में साधक पथ प्रदर्शक को खोजता है, वह उसकी वाणी से उतनी प्रेरणा नहीं प्राप्त करता जितनी जीवन से। दूसरी ओर नेता अनुयायी को खोजता है, वहाँ भाषण एवं प्रदर्शन का जितना महत्व है, उतना जीवन का नहीं।

श्रमण संस्कृति का हार्द

लक्ष्मीनारायण भारतीय, एम० ए०, साहित्यरत्न

जब किसी संस्कृति का मूल्यमापन किया जाता है, तब दो प्रकार से विचार किया जाता है। एक तो ऐतिहासिक दृष्टि से कि उसका स्थान क्या रहा है और दूसरे भविष्यत् दृष्टि से कि उस स्थानके कारण उसमें कुछ सम्भावनाएं भी निहित हैं या नहीं, या वह केवल पुरातत्व की वस्तु मात्र बन गयी है।

संस्कृति की व्याख्या जितनी सरल है, उतनी ही कठिन भी। परन्तु साधारणतः वह समाज के आन्तरिक विकास की वाहिनी होती है और व्यक्ति एवं समाज के बीच समन्वयकारी सम्बन्ध बढ़ानेवाली तथा प्रकृति को विकृति से बचाकर सुसंस्कृत बनानेवाली होती है। संस्कृति के अलग-अलग प्रकार भी होते हैं, जैसे भारतीय संस्कृति, पूर्वीय संस्कृति, पश्चिमी संस्कृति आदि, यद्यपि ये सब एक मानव संस्कृति के ही अंग होते हैं। उसी तरह किसी धर्म या दर्शन के अनुसार भी संस्कृति के प्रकार बन जाते हैं, यथा जैन संस्कृति, बौद्ध संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति, इसाई आदि। भारत की संस्कृति ऐसी अनेक-प्रवाही रही है कि ये सब धाराएँ या तो उससे निकली होती हैं या उसमें कहीं न कहीं जाकर मिली होती हैं एवं सबसे समन्वित होकर वह आगे ही बढ़ती रही है। इसलिए वह गत्यात्मक भी रही है और केवल पुरातत्व की वस्तु मात्र बनकर नहीं रह सकी है। स्पष्ट है कि उसकी इस पुण्ययात्रा में जैन संस्कृति का भी महत्व-पूर्ण साथ रहा है और यह जैन संस्कृति ऐसे तत्त्वज्ञान से आवेष्टित है, जो युग की आकांक्षा से विपरीत नहीं है।

जैन संस्कृति अहिंसाधिष्ठित मानी जाती है और अहिंसा की चर्चा यद्यपि हर युग में होती आयी है, लेकिन इस अणु-युग में यह चर्चा अब वास्तविक आधारों पर ही चल सकती है। भारत के सम्मुख एक चुनौती है कि या तो वह परम्परा-गत नैतिक और प्रकारान्तर से अहिंसक राह छोड़ दे या अणु-युग का सामना अपनी संस्कृति व उसके विविध अंगों के साथ करे। जो संस्कृतियाँ अहिंसा की बात कहती हैं, स्पष्ट है कि उनके लिए यह प्रश्न उपस्थित है कि वह इस चुनौती के लिए कितना सामान जुटा सकती है, उसमें ऐसी क्षमता है या नहीं और उसमें युगानुकूल परिवर्तन करने की योग्यता हो सकती है या नहीं। इसके

लिए यह देखना होगा कि जैन संस्कृति का हार्द क्या है, उसका अंतर क्या बताता है ?

जैन-धर्म या जैन-दर्शन विद्वान चिंतक श्री जैनेन्द्र कुमार "जैन-दर्शन" कहना ही ज्यादा पसंद करते हैं—कि जो मोक्ष-साधना है, उसमें तप और संयम का स्थान अनुपमेय है। अहिंसा-चिंतन की अतिसूक्ष्मता तक जैन दर्शन पहुँचा है। अतः जैन संस्कृति, जो श्रमण-संस्कृति का ही महत्वपूर्ण अंग है, अहिंसानिष्ठ कही जाती है। इस जैन संस्कृति को महात्मा भगवानदीन "मानवतावादी" कहा करते थे। मुनि नथमलजी ने इसकी आत्मा, स्थायोभाव "उत्सर्ग" माना है। इसमें तप-लीन होकर साधक अपने को शरीर से इतना अलग कर लेता है, और वह भी साधारण से साधारण व्यक्ति ही होता है, कि उत्सर्ग की भावभूमि पर पहुँचकर वह अपना बलिदान तक दे देता है। यह सारी व्यक्ति-साधना तो होती है और वैयक्तिक मोक्ष ही जैन धर्म का लक्ष्य है, लेकिन इस निवृत्तिपरक धर्म में कुछ ऐसी भी बातें हैं, जो उसे समाज से विच्छिन्न नहीं कर पाती एवं जैन संस्कृति का गुण-प्रधान, तप-प्रधान और संयम-प्रधान होना भी उसे समाज से बांधे रखता है। पं० इन्द्रचंद्र शास्त्री ने "गुणव्रतों को अणुव्रतों के साथ जोड़े रखना" आवश्यक माना है, क्योंकि जैन-दर्शन वही करता है। ये अणुव्रत या गुणव्रत यद्यपि आज विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, लेकिन जिस महावीर स्वामी के धर्म में वे मान्य किये जाते हैं, वे स्वयं अपने में इतने क्रान्तिकारी थे कि कालनुसार वे उन अर्थों को मोड़कर ही रहते, यदि वे आज होते। शब्द सजीव तब बने रहते हैं, जब उनके अर्थ विकसित होते जाते हैं। अन्यथा वे शब्द भी पुरातत्व की वस्तु ही बने रह जाते हैं। महापुरुष अर्थों को विकसित करते रहते हैं, आगे बढ़ाते हैं, उनमें प्राण-संचार कराते हैं, ताकि आधार तो कायम रहे, पर स्थिति स्थापकता न जाने पाये। स्वयं "अहिंसा" शब्द ही इस बात का प्रतीक है कि हर युग में उसने नवीन अर्थ पाया है और अपने को व्यापक बनाया है। इसलिए जैन संस्कृति को भी उन अर्थों को ग्रहण करना होगा, जो मूलके विपरीत न हो, पर युगानुसारी हो। ऐसा परिवर्त्तन स्वयं जैन धर्म में होता रहा है। उदाहरणार्थ, भगवान् पार्श्वनाथ ने चार ही मत बताये थे, तो भगवान् महावीर ने एक और उसमें जोड़ दिया। आज भी कई बातें छूट गई हैं, तो कई जुड़ गई हैं। यह परिवर्तन ही किसी संस्कृति का प्राण होता है एवं जीवितावस्था का प्रतीक होता है। करना इतना ही होता है कि नीर-क्षीर-विवेक न्याय को लागू करते रहें। हम स्वीकार्य अंश लेकर यदि शेषांश न छोड़ें तो उस भार से

वह संस्कृति दबकर पुरातत्व की वस्तुमात्र बनी रहती है। भगवान् महावीर जिस धर्म और संस्कृति के पोषक रहे हैं, वह इसीलिए जीवित है, क्योंकि ऐसे लचीलेपन की गुंजाइश स्वयं उन्होंने उसमें कर रखी है। फ्रीमर ने लिखा है कि "जैन धर्म गुप्तता लिए नहीं रहा।" इसलिये कि महावीर ने उसे समाज में पेश किया एवं वैयक्तिक मोक्षवाद को समाज के साथ जोड़ दिया।

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान व सम्यक् चारित्र्य जैन दर्शनानुसार मोक्ष के साधन हैं। मोक्ष तो साध्य है व ये हैं साधन, जो समाज के आधार से ही चलाये जा सकते हैं। अन्यथा दोनों ही यदि वैयक्तिक बने रहें, तो वह धर्म ऐसी निजी वस्तु बन जाती है, जिनकी समाज में चर्चा करने की भी जरूरत नहीं है। मोक्ष-साधना जब समाज-निरपेक्ष होकर चलती है, तो वह उपासना तक ही सीमित रह जाती है। अतः यह साधना-त्रयी लौकिक ही रह सकती है। इसकी 'अल्प' 'मध्य' व 'पूर्ण' आराधना के विधान का मर्म भी यही है। वस्तुतः 'सम्यकत्व' स्वयमेव इस बात का निदर्शक है कि वह समाज के लिए, जगत् के लिए है। जीवन यदि "प्रवृत्ति-निवृत्ति का समन्वय है," तो क्रियात्मक पक्ष में प्रवृत्ति के असत् अंश को छोड़कर 'सत्'-अंश ग्रहण करने की भी बात इसीलिये कही गयी है।

सत्-अंश को 'सत्य' से अलग नहीं किया जा सकता और सत्य 'सम्यकत्व' का भी वाहक होता है। अमर कोष ने 'सत्य' के चार पर्याय बताए हैं। 'सत्यम्, तथ्यम्, ऋतम् और सम्यक् (सम्यंच)। 'सम्यक् चारित्र्य' में हिंसा-त्याग अनिवार्य है एवं भगवान् महावीर के शब्दों में "सच्चं लोगंमि सारभूयं।" अतः सत्य एवं अहिंसा साथ-साथ चलते हैं। तब सत्य और अहिंसा को एक से कम या अधिक मानना अथवा किसी को गौण या मुख्य मानना सम्यक्त्व के विपरीत प्रतीत होता है। जैन-मान्यता में सत्य को कभी-कभी गौणत्व देने की जो प्रवृत्ति दीख पड़ती है, स्वयं जैन दर्शन सारतत्व के विपरीत है। तर्क यथार्थता से चलता है और यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतर। "यथार्थता" लोक-पक्ष को लेकर चलती है। 'सत्' भावतत्व से च्युत न हो, इसलिए 'नित्य' माना गया है और नित्यता भी उस यथार्थता का ही समर्थन करती है। 'गुप्ति' में असत् क्रिया का निषेध इसलिए है कि असत् क्रिया यथार्थता के विपरीत होती है। सारांश, 'सत्य' को गौण मानने का समर्थन कहीं नहीं दिखाई देता, अतः उसे 'ही' और 'भी' से मर्यादित करना विरोधाभास है। यह चिंतनीय इसलिए है कि लोकपक्ष से अलगाव की वृत्ति उसमें से जन्म ले सकती है।

श्री सन्तबालजी ने कहा है, सत्यभाषा हिंसा रहित हो तो बोलें, अन्यथा नहीं !' किसी को काना-कुबड़ा-कोढ़ी कह देनेवाला 'सत्य भाषण' यदि यहाँ अभिप्रेत हो, तो चिंता नहीं, पर उस अर्थ को खींचकर सत्य स्थिति से भी यदि मुंह मोड़ लिया जाय, तो वह सत्य का अपलाप बनकर अहिंसा को भी गौण बना देगा। गाय को बचाने के लिये कसाई से हम कुछ कहें ही नहीं, यह जहाँ हो सकता है, वह यह भी तो हो सकता है कि हम यह कहकर निर्भयता बताएँ कि "मुझे मालूम है, पर मैं नहीं बताऊँगा, तू चाहे जो कर ले।" यह निर्भयता-मूलक सत्य जैन-अहिंसा के विपरीत नहीं। अहिंसा में अभयदान गृहीत है ही। अतः सत्य व अहिंसा, दोनों में स्थायी तत्व बन जाता है इसी अभय की साधना, अपने को व्यापक बनाने से, समाज के साथ रखने से और लोकपक्ष को संभालने से होती है।

जैन-विचार की अहिंसा में जो एकांगिता आ गयी है, वह उसके सूक्ष्म चिंतन के कारण नहीं, इस सत्य-अहिंसा की जोड़ी को तोड़ने से आयी है, फलतः एक ओर कर्मकाण्ड का अत्यधिक प्रभाव बढ़ रहा है, तो दूसरी ओर अहिंसा कीट-पतंग, पशु-पक्षी आदि की रक्षा तक ही सीमित हो गयी है। जैन-संस्कृति के यह विपरीत बात हो जाती है, क्योंकि फिर 'जैन धर्मानुसार गुलामी हिंसा है' कहना या श्रमण (जैन) संस्कृति को 'साम्यवादी" बताना या 'साम्यस्थित' कहना उसमें नहीं बैठ सकते। इंद्रिय-विजय समाज में ही हो सकती हैं, याने उसकी परीक्षा व्यवहार क्षेत्र में रहकर ही हो सकती है। साम्य-साधना तो स्पष्ट ही सामाजिक हो जाती है। 'समता-अभेदावस्था जैन धर्म का यदि आधारतत्व' है, तो ऐसी अहिंसा, जो उस अभेदावस्था का आवाहन करती है, एकांगी रह नहीं सकती। इसीलिये यदि उसे पुरुषार्थी बनाना है, तो उसे व्यापक भी बनाना ही होगा। जीव (पशु-पक्षी) की दया तक ही सीमित रखना तो उसका सत्वहरण ही है। यह स्वयं महावीर स्वामी की जीवन-शिक्षा के विपरीत है, क्योंकि उन्होंने अपने जीवन से ही यह उदाहरण प्रकट कर दिया था कि हिंसा, क्रोध, संघर्ष के बीच रहकर ही, उससे प्रेमपूर्ण सामना ही वे अपना काम करते रहे। उस महावीर की अहिंसा को सीमित व संकुचित बना डालना हमारी श्रद्धा को भले ही संतुष्ट कर दे, उनके प्रति वह न्याय नहीं हो सकता। अहिंसा को अतिसीमा पर पहुँचा देने का मतलब होता है, उसके 'पुरुषार्थ' को सिद्ध करना। लेकिन जब कीमर यह कहते हैं कि 'जैनों में अहिंसा अतिसीमा पर पहुँचा दी गई है', तो उनका और अन्य लोगों का भी

मतलब यही होता है कि हम कर्मकांड को सीमा पर पहुँचाकर एकांगिता में ही डूब गये हैं।

यह तो प्राचीन काल के हस्तितापस तपस्वी के समान उदाहरण हो जाता है, जिसके अनुसार 'फूल-फलों में तो हिंसा अधिक हो जाती है, क्योंकि ज्यादा संख्या में जन्तु मरते हैं, अतः कम संख्या की दृष्टि से हाथी-हत्या समर्थनीय है। 'इसी पर श्री अमर मुनिजी ने कहा है कि जीव-गणना द्वारा हिंसा-अहिंसा आंकना जैन धर्म नहीं है। श्री महावीर स्वामी ने तो यह सब अनुचित माना ही था और द्वेषहीनता पर ही वे जोर देते थे। जिस सूक्ष्म-चिंतन से पुरुषार्थ होता हो और विषय की स्पष्टता होती हो, वह तो उचित है, लेकिन जिस सूक्ष्मता के कारण जड़ता और कर्मकांड बढ़ता हो, वह उचित नहीं होता है। उदाहरणार्थ, खेती से परहेज हिंसा के आधार पर किया जाता है या कूआं खोदने से भी एतराज किया जाता है एवं उन्हें 'स्फोट कर्म' तक भी कभी कह दिया जाता है। दूसरी ओर, उसी भूमि-कूप से उत्पन्न अन्न-जल हम ग्रहण करने में तनिक भी संकोच नहीं करते। यह व्यवहार 'न करो, न कराओ ओर न अनुमोदना दो' की सीख से विपरीत है, क्योंकि दशवैकालिक सूत्र में या अन्यत्र असत्य-हिंसा आदि का 'अनुमोदन' भी न देने की जो बात कही गई है, उसका सीधा-साधा अर्थ है, उस पाप में हम भी हिस्सेदार न बनें जिसे हम पाप मानते हैं। मैं घूस देना तो पाप मानूं परन्तु घूस देकर ली गई चीज ले लूँ, भले ही औरों ने वह घूस दी हो—ऐसी ही यह बात हो जाती है। 'हमने हिंसा नहीं की या हमारे लिए नहीं की गई,' इतना काफी नहीं होता है, जब कि वह हिंसा सामाजिक अन्याय और असत्य के रूप में प्रकट होती है। स्पेगेल वर्ग फ्रेडरिक ने कहा है कि जैन धर्मानुसार 'मैन इज टोटली रिस्पान्सीबल फॉर हिमसेल्फ एन्ड पार्श्यली रिस्पान्सीवल फॉर अदर्स'। यह, उन्हीं के शब्दों में, 'डाक्ट्रीन आफ इनडायरेक्ट रिस्पान्सिबिलिटी विथ इट्स सोशल इम्प्लीकेशन्स अँड कन्ट्रोल्स' हो जाता है, जो जैन धर्म-सम्मत ही है। तब 'स्फोट कर्म' कहाँ है व कहाँ नहीं है, इसका विवेक करना जरूरी हो जाता है। आज हमारे कहने से, हमारे रक्षणार्थ अणुबम का परीक्षण यदि जमीन में किया जाता है, जो कि करना अनिवार्य है, तो दरअसल वह महा स्फोट कर्म हो जाता है एवं हमारे रक्षणार्थ वह है, तो हम भी उसके लिए जिन्मेवार बन जाते हैं। तब 'न करो, न कराओ, न अनुमोदना दो,' का सारा मर्म ही खत्म हो जाता है। इसलिए जरूरी है कि हम सामाजिकता के तत्व को उचित स्थान दें।

अहिंसा का सामाजिक 'अप्लीकेशन' जैन दर्शन के विपरीत भी नहीं है,

इसीलिए फ्रेडरिक ने कहा है कि 'इट्‌ प्लेसेज् एंफैसिस अपान पर्सनल साल्वेशन (बट) धिस साल्वेसन केन बी अकांपलिस्ड ओन्ली बाइ सोशल कंसिडरेशन्स फॉर अदर्स।' स्पष्ट है कि वैयक्तिक तप, मोक्ष-साधना, संयम आदि से तो विरोध है ही नहीं, लेकिन जहाँ पद-पद पर अहिंसा का ध्यान है, वहाँ औरों का अर्थात् समाज का भी ख्याल रखना लाजिमी होता है और समाज का ख्याल रखने का मतलब ही है कि आप सामाजिकता से अछूते नहीं रह सकते, समाज-धर्म को छोड़ नहीं सकते। 'निग्रंथ' रागद्वेष से अलिप्त रहता है या नहीं, इसकी परीक्षा समाज में ही होगी और 'तवे सूरा अणगारा' के अनुसार तपोधर्म का विकास भी समाज में ही हो सकता है।

शंकराचार्य की "दानं संविभागः" उक्ति के अनुरूप जैनों में भी "असंविभागी नहु तस्स मुक्खो" उक्ति प्रचलित है। इस उक्ति को हम बहुत सीमित भी रख सकते हैं, व्यापक भी बना सकते हैं। पर सीमित रखने से वह सत्वहीन बन जाएगी और व्यापक बनाने से पुरुषार्थयुक्त—जैसे भूदान में शंकराचार्य की उक्त उक्ति को लेकर विनोबाजी ने उसमें क्रांतित्व ला दिया। "प्राप्त सामग्री का समविभाजन" केवल एक या कुछ व्यक्ति तक ही मर्यादित नहीं माना जा सकता। अतः जैन दर्शन का "समता" तत्त्व इस तरह जब "समविभाजन" के साथ आ जाता है, तो कोई आश्चर्य नही कि उसमें से सामाजिक एवं अर्थशास्त्रीय क्रांतितत्त्व प्रकट हो, बशर्ते कि इस तत्त्व की परिणति कार्यरूप में हम कर सकें। सम-विभाजन के बिना तो मुक्ति में भी रोक लगा दी गयी है। तब सम-विभाजन का कार्यक्रम, जो सेवा से संलग्न हो, समाज में ही अमल में आ सकता है और भगवान महावीर का इसमें अनुमोदन भी रहा है। गौतम से सम्वाद में भगवान् से पूछा गया कि सेवा और भक्ति को अलग अलग समय न दिया जा सके, तो क्या करें? तब भगवान ने उत्तर दिया कि "सेवा वाला धन्य है। मेरी भक्ति से दीनों की सेवा श्रेयस्कर है।" रत्नकरंड श्रावकाचार में आचार्य सामंत भद्र द्वारा गृहस्थ से चार अंग वैयक्तिक, तो चार सामाजिक अंग भी बताये गये हैं, जो इसी तथ्य का समर्थन करते हैं। तीन गुणव्रतों में से "दिग्व्रत" में सार्वभौम अनाक्रमण वृत्ति का स्वीकार इसी बात की व्याख्या करता है। जैन दर्शन मोक्ष का दर्शन तो है, पर "मोक्ष का पुरुषार्थ' यदि "अहिंसा" में है, तो अहिंसा समाज शास्त्रीय रूप से विच्छिन्न नहीं हो सकती, फलतः अर्थ और काम रूपी पुरुषार्थ से भी विच्छिन्न नहीं हो सकती। "मेत्ति भएसु कप्पए" को प्रकट रूप तभी मिल सकता है, जब समाज से सम्पर्क रहे। "पापी की

यहीं, 'पाप की आलोचना" का मर्म समाज में ही प्रकट हो सकता है, पर भावभूमि व क्रियाभूमि का समन्वय उसके लिए अनिवार्य है। इससे वैयक्तिक मोक्ष-साधना का विरोध नहीं है। 'समिति-मर्यादा' साधु के लिए भी है, जो प्रवृत्ति मूलक है और प्रवृत्ति-निवृत्ति समन्वित रूप में ही समष्टिभाव की रक्षा की जा सकती है।

जैन-प्रणीत अहिंसा करुणामूलक है या नहीं, इसके सम्बन्ध के वाद में न जाते हुए वह उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है, जो अक्सर कहा जाता है कि भगवान् महावीर गर्भ में तक हिलते-डुलते न थे, क्योंकि मां को उससे कहीं कष्ट न हो। यह उदाहरण तो करुणा-मूलकता का ही समर्थन करता है, क्योंकि कष्ट न देने की भावना का करुणा के साथ सीधा सम्बन्ध है। "जे अप्पा से परमप्पा" की भाव-रक्षा करुणा के बिना हो नहीं सकती। तभी तो भगवान् ने "सव्व जग जीव रक्खण दयट्ठया ए भगवया सकहियं पवयणं"— दया व करुणा का प्रवचन— किया था। दया "भगवति" तभी तो है, जब वह करुणावान् है। पर दुर्भाग्य से यह करुणा स्रोत आज कर्मकांड की काई से ऐसा ढँक गया है कि मानव के लिए वह उपलब्ध हो नहीं पा रहा है और केवल नकारात्मक रूप में ही पशु-पक्षी-कीट-पतंग को स्पर्श कर जाता है। जंतु-समाज ने मानव-समाज को तो साधकों के हृदय में से हटा दिया है, पर स्वयं भी "न मारो" से ही केवल सुरक्षित है, "बचाओ" की कृति से रक्षित नहीं है। व्याध द्वारा हुए क्रौंच वध ने आदि महाकवि के हृदय में प्रेरणा-सृजन किया था। यज्ञ में होनेवाली क्रूर हिंसा को देखकर और उसे तत्त्वज्ञान से आवेष्टित पाकर भगवान् महावीर और बुद्ध का हृदय तिलमिला उठा और और अहिंसा का सन्देश उन्होंने दिया। वह करुणा में उत्पन्न तत्त्वज्ञान यदि अपनी मूल प्रेरणा को ही छोड़ दे, तो तत्त्वज्ञान शुष्क रह जाएगा। अहिंसा करुणाधारित न हो, तो वह इतनी व्यापक हो नहीं सकती। अतः इस करुणा के स्रोत को न सिर्फ जीवित करना होगा, अपितु उसे व्यापक भी बनाना होगा, क्योंकि उस समय यज्ञ में पशु-हिंसा होती थी, आज सत्ता-स्वार्थ-लोभ, असमता के द्वारा मानव-हिंसा होती है और अणुबम तो सारी मानव जाति को ही निगलने के लिये तैयार बैठा है। इसीलिए मानव पुकार रहा है कि तुम्हारी जीवरक्षा व पशुरक्षा से मेरा विरोध नहीं है, न ही जीव-जन्तु मेरी रक्षा के मार्ग में बाधक हैं।

जैन दर्शन में सम्यकादि तत्त्वों के साथ स्याद्वाद का भी विशिष्ट स्थान

है, जिसपर आरोप है कि वह अर्धसत्यों के पास लाकर पटक देता है, जबकि सीधे सादे शब्दों में इसका उत्तर दिया गया है कि "यह बौद्धिक अहिंसा है।" बौद्धिक अहिंसा आज के युग में अति आवश्यक कर्तव्य है, क्योंकि एक ज़माने में जैसे शस्त्र व सत्ता के आधार पर तत्वज्ञान पनपते थे, वैसे ही आज हिंसा वैचारिकता एवं तत्त्वज्ञान के आधार पर पनप रही है। दरअसल कहाँ तत्त्व-विचार समाप्त होता है एवं कहाँ हिंसा शुरू होती है, पता ही नहीं चलता। उदाहरणार्थ साम्यवाद का तत्त्वज्ञान हिंसा आवश्यक नहीं मानता, फिर भी दोनों साथ-साथ ही चलने लगे हैं। धार्मिक-विचार आदि भी पहले महापुरुषों के आधार से प्रकट होते हैं, फिर पंथ-सम्प्रदाय और उनकी चोखटों में आबद्ध होकर बौद्धिक हिंसा का रूप ले लेते हैं। अतः अहिंसक बुद्धि या बौद्धिक अहिंसा आज आवश्यक हो गई है और जो 'स्याद्वाद' बौद्धिक अहिंसा का सन्देश देता है, उसके सामने तो चुनौती ही उपस्थित है कि वह वैचारिक हिंसा की राह बंद करने में अग्रसर हो। अनेकान्तवाद जैन दर्शन का प्राण इसलिए है कि उसमें सर्व संग्राहकता है, बौद्धिक स्वतन्त्रता है। तब आपस में भी समन्वय से क्यों भयभीतता उत्पन्न होती है, क्यों साम्प्रदायिकता का जोर चलता है, यह सब विद्वानों के लिए विचारणीय प्रश्न हैं। एक तरफ उसमें "कालवाद, स्वभाववाद, कर्मवाद, पुरुषार्थवाद, नियतिवाद और समन्वयवाद का भी समावेश है," तो दूसरी ओर ऐसी असहिष्णुता पनप जाती है कि करुणा उसमें से खो जाती है। जैन धर्म की लोक-संग्राहकता के लिए बाधक बातों में अन्य बातों के साथ-साथ मुनिश्री नथमलजी ने "सूक्ष्मसिद्धांतवादिता" एवं "सामाजिक बन्धन का अभाव" भी गिनाया है। उसके साथ यह जोड़ने की भी इच्छा होती है कि समष्टि को छोड़कर चलने की भी जो प्रवृत्ति "निवृत्ति-वाद" के कारण बढ़ रही है, वह भी एक बड़ी बाधा है। आज का समाज-शास्त्रीय युग इस बात की इजाजत नहीं देता कि व्यक्तिवाद अपने को ही एक-मेव मानकर चले, अर्थात् अहिंसा व्यक्ति तक ही सीमित रहे या जीव-जन्तु तक ही बन्धी रहे। इसके लिए आवश्यक है कि अनुकम्पा को, करुणा को व्यापक एवं सक्रिय रूप दें, जिसके लिए जो तप व संयम अपेक्षित है, वह तो जैनों का प्राण ही है। साधारण व्यक्ति भी असह्य कष्ट सहज ही सह लेता है। "अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्व भूएसु संजमो" का आदर्श प्रस्तुत करनेवाली "जैन संस्कृति" के लिए यह असम्भव नहीं कि वह अहिंसा को पुरुषार्थी बनाने की राह में औरों के साथ चल सके एवं अहिंसा पर अणुबम से छाये हुए संकट को टालने में स्वयं भी शक्तिभर योग दे सके, जिसके लिए आवश्यक है कि अहिंसा

का और महावीर स्वामी के जीवन का मर्म समझकर हम जैन संस्कृति का हार्द प्रकट करें। इसकी उसमें क्षमता भी है। आवश्यकता इतना ही है कि जैन विचार को वैज्ञानिक रूप देकर समाजशास्त्रीय आधार से आगे बढ़ाया जाय एवं विभिन्न मानव-समूहों के आंतर सम्बन्धों को इस तरह करुणा-शक्ति से अनुप्राणित किया जाय कि विग्रह नहीं, संग्रह हो, विघटन नहीं, संगठन हो, तनाव नहीं, सारल्य हो और सामाजिक वृत्तियों के पोषण के साथ श्रमण संस्कृति के लिए प्राण स्वरूप "साम्य" का जीवनगामी अनुसरण हो। जहाँ संस्कृति है, वहाँ संस्कारयुक्त सामाजिक कृति अनिवार्य है। इसी के साथ जब साम्यभाव, समता जुड़ जाती है, तो समाज-शास्त्र, मानस-शास्त्र व अर्थशास्त्र से युक्त मानव-शास्त्र की निर्मिति होती है, जो आज के युग की मांग है। श्रमण संस्कृति मानवता से युक्त संस्कृति है, पर उसका हार्द आज प्रकट नहीं हो पा रहा है। उसी का आह्वान आज का युग कर रहा है।

आधार भूत संदर्भ ग्रन्थ

१. Living Relegions of the world, —Fredre spiegelberg
२. Philasophis of India —Zimmer
३. Relegions of India —Max Weber
४. दशवैकालिक सूत्र
५. दशवैकालिक सूत्र (संतबालजी)
६. सूत्रकृतांगम्—संपादक अंबिकादत्त ओझा
७. निर्ग्रन्थ प्रवचन : मुनि चौथमलजी
८. अनुकंपा चौपाई : आचार्य भिक्षु
९. अमर कोष :
१०. तत्वार्थ सूत्र : पं० सुखलालजी
११. जैन दर्शन के मौलिक तत्व : मुनि नथमलजी
१२. महावीर सिद्धांत, अमर मुनिजी
१३. महावीर वाणी (गुजराती)
१४. महावीर वर्धमान : डा० जगदीशचन्द्र जैन
१५. धर्म और संस्कृति : सम्पादक जमनालाल जैन
१६. भारतीय संस्कृति की दो धाराएं : डा० इन्द्रचन्द्र, एम० ए०

१७. जैन दर्शन : डा० मेहता मोहनलालजी
१८. अहिंसा तत्त्व दर्शन : अमर मुनिजी
१९. शील की नववाड़ : श्रीचन्दजी रामपुरिया
२०. अहिंसा विवेक : मुनि नगराजजी
२१. जैन सिद्धांत दीपिका
२२. सूत्र कृतांग सूत्र : अनु० राहुल सांस्कृत्यायन
२३. Sociological Theories —Den Martandale

इत्यादि.

श्रमण संस्कृति पर एक तुलनात्मक अध्ययन

[मुनिश्री दुलीचन्द 'दिनकर']

भारतीय साधु परम्परा दो भागों में विभक्त है। वैदिक संस्कृति में विकास पाने वाले साधु संत-परम्परा के नाम से प्रसिद्ध हैं और जैन तथा बौद्ध संस्कृति में विकसित होनेवाली साधु-परंपरा श्रमण-परम्परा के नाम से विख्यात है। भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध दोनो समकालीन थे। बहुत बड़ी संख्या में उनके शिष्य-प्रशिष्यों के समकालीन होने के कारण दोनो परम्पराओ की संस्कृति बहुत कुछ मिलती जुलती सी है। जैसे—

बौद्ध—यम्हि सच्चं च धम्मो च, अहिंसा संयमो दमो।
स वे वन्तमलो धीरो, सो थेरोति पवुच्चति॥
[धम्मपद १९।६]

जैन—धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसन्ति, जस्स धम्मे सयामणो॥
[दशवै० १।१]

बौद्ध—कतिहं चरेय्य सामञ्ञं, चित्तं चे न निवारये।
पदे-पदे विसीदेय्य, सङ्कप्पानं वशानुगो॥
[संयुत्त० दुक्करसुत्त०]

जैन—कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए।
पए पए विसीयन्तो, संकप्पस्स वसं गओ॥
[दशवै० २।१]

बौद्ध—कालपब्बङ्गसङ्कासो, किसो धम्मनिसन्थतो।
मत्तञ्ञू अन्नपानम्हि, अदीनमनसो नरो॥
[थेर गाथा २४३]

जैन—कालीपव्वंगसंकासे, किसे धमणिसंतए।
मायन्ने असणपाणस्स, अदीणमणसो चरे॥
[उत्तराध्ययन २।३]

बौद्ध—पुट्ठो डंसेहि मकसेहि, अरञ्ञस्मि महावने।
नागो संगामसीसे व, सतो तत्राधिवासये॥
[थेर० ३४]

जैन—पुट्ठो य दंसमसएहिं, समरे व महामुणी।
नागो संगामसीसे वा, सूरो अभिहणे परं॥
[उत्तरा० २।१०]

इस प्रकार दोनों संस्कृति के नियम-उपनियम अधिकांशतः एक सरीखे हैं। दोनों संस्कृतियों के साहित्य का गहराई से अनुशीलन करने से मालूम होता है कि इन दोनों में कितना सामञ्जस्य है। प्रस्तुत निबंध में जैन वाङ्मय के दशवैकालिक सूत्र के भिक्खुअज्झयण की प्रत्येक गाथा के साथ सौगत प्रतिपादित गाथाओं से तुलना की जा रही है।

जैन वाङ्मय में साधु के लक्षण बतलाते हुए कहा गया है—मुनि वह है जो तीर्थंकरों के उपदेशों पर अभिनिष्क्रमण कर अपने मन को समाधि में रखे, स्त्रियों के वशवर्ती न हो और न ही वमे हुए भोगों को वापिस स्वीकार करे।

निक्खम्ममाणाए[1] बुद्धवयणे, निच्चं चित्तसमाहिओ हविज्जा।
इत्थीण वसं न यावि गच्छे, वंतं नो पडियायई जे स भिक्खू॥

बौद्ध साहित्य में उपर्युक्त गाथा के प्रथम चरण 'निक्खम्ममाणाए बुद्धवयणे' से साम्य रखने वाले पद्य इस प्रकार हैं—

संसेवित[2] बुद्धसीलिना, निब्बाणं न हि तेन दुल्लभं।

उपर्युक्त गाथा के दूसरे और चौथे अर्थात् 'निच्चं चित्तसमाहिओ हविज्जा' और 'वंतं नो पडियायई जे स भिक्खू' को निम्नोक्त गाथा से मिलाएं—

"सन्तकायो[3] सन्तवाचो, सन्तवा सुसमाहितो।
वन्तलोकामिसो भिक्खु, उपसन्तोति वुच्चति॥

उपर्युक्त गाथा के तीसरे चरण 'इत्थीण वसं न यावि गच्छे' की तुलना में:

सुखं[4] सुपन्ति मुनयो, ये इत्थीसु न बज्झरे।

१—दशवैकालिक अ० १० गा० १। २—थेर गाथा ७४।
३—धम्मपद भिक्खु० गा० १६। ४—थेर गाथा १४०।

यहां पहले उद्धरण में बुद्ध, दूसरे उद्धरण में सुसमाहित और दन्त, तीसरे में इसिं आदि में शब्द का साम्य है।

जैन वाङ्मय में कहा है—पृथिवी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और बीज आदि की हिंसा न करे और न करवाए वह मुनि है—

पुढविं[1] न खणे न खणावए, सीओदगं न पिए न पियावए।
अगणिसत्थं जहा सुनिसियं, तं न जले न जलावए जे स भिक्खू॥
अनिलेण न वीए न वीयावए, हरियाणि न छिंदे न छिंदावए।
बीयाणि सया विवज्जयन्तो, सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू॥

तथागत के साहित्य में उपर्युक्त पद्यों की भावाभिव्यक्ति निम्नोक्त प्रकार से उपलब्ध होती है—

अलंकतो[2] चेपि समं चरेय्य, सन्तो दन्तो नियतो ब्रह्मचारी।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं, सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खू॥

भगवान् महावीर ने जहाँ व्यष्टि रूप से षट् जीविनीकाय के समारम्भ का निषेध किया है वहाँ तथागत ने समष्टि रूप से। इसके अतिरिक्त वहाँ भिक्खु शब्द से शाब्दिक तुलना भी है।

जैन वाङ्मय में कहा है—मुनि औद्देशिक आहार न खाए तथा न पकाए और न दूसरों से पकवाए। क्योंकि उसके पकाने में त्रस और स्थावर प्राणियों का वध होता है, अतः वह औद्देशिक भोजन न करे।

वहणं[3] तसथावराण होइ, पुढवितणकट्ठनिस्सियाणं।
तम्हा उद्देसियं न भुंजे, नो वि पए न पयावए जे स भिक्खू॥

जिस किसी प्रवृत्ति में आन्तरिक व पारम्परिक हिंसा संभावित हो वह कार्य मुनि न करे, क्योंकि हिंसा उसके लिए अकरणीय है।

ज्ञातपुत्र के वाक्यों को हृदयङ्गम करने वाला षट्जीवनीकाय को आत्म-तुल्य समझे और महाव्रतों का अनुशीलन करता हुआ, जो पाँच आश्रव द्वारों को रोकता है वह मुनि है; ऐसा आगम साहित्य में माना गया है—

१—दशवैकालिक अ० १० गा० २-३।

२—धम्मपद दण्ड० गा० १४।

३—दशवैकालिक अ० १० गा० ४

रोइय[1] नायपुत्तवयणे, अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पि काए।
पंच य फासे महव्वयाइं, पंचासवसंवरे जे स भिक्खू॥

इस गाथा के प्रथम चरण 'रोइयं नायपुत्तयणे' की तुलना बौद्ध साहित्य में निम्न प्रकार से अभिव्यक्त हुई है—

यो[2] वे गरुवं वचनञ्ञु धीरो, वसे च तम्हि जनयेथ पेमं।
सो भत्तिमा नाम च होति पण्डितो, ञत्वा च धम्मेसु विसेसि अस्स॥

यहाँ 'गरुवं वचनञ्ञु धीरो' और 'रोइय नायपुत्तवयणे' की समानोक्ति है। इसके अतिरिक्त भावसमानोक्ति तो प्रायः सम्पूर्ण गाथा से है ही। उपर्युक्त आगम साहित्य की गाथा का दूसरा पद्य जो 'अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पि काए' है, उसके समान कोटि की गाथा बौद्ध साहित्य में इस प्रकार व्यक्त की गई है—

'अत्तानं उपमं कत्वा न हन्नेय्य न घातये'

यहाँ अत्त शब्द की तुलना भी है—क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों को छोड़े, बुद्ध वचनों पर स्थिर हो, रौप्य रजत आदि से रहित—अधन हो और सर्वथा गृहयोग को परित्याग करने वाला हो, वह मुनि कहलाता है।

चत्तारि[3] वमे सया कसाए, धुवयोगी हवेज्ज बुद्धवयणे।
अहणे निज्जायरूवरयए, गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू॥

तथागत के साहित्य में इस गाथा के अनुरूप निम्नोक्त गाथा व्यक्त की गई है—

कोधं जहे[4] विप्पजहेय्य मानं, सञ्ञोजनं सब्बमतिक्कमेय्य।
तं नामरूपस्मिं असज्जमानं, अकिञ्चनं नानुतपन्ति दुक्खा॥

उपर्युक्त पद्यों में तुलना की दृष्टि से शाब्दिक व भावाभिव्यञ्जना बहुतांशों में व्यक्त हुई है। जैन वाङ्मय में क्रोधादिक को कषायगत मानकर समष्टि के रूप में ग्रहण किया है और यहाँ व्यष्टि के रूप में। इसके अतिरिक्त "सञ्ञोजनं सब्बमतिक्कमेय्य" गृहयोग के परित्याग स्वरूप लिया गया है; ऐसा मानना चाहिये और अकिञ्चन में केवल शब्द भेद ही है।

१—दशवै० १०।५
२—थेर० ३७०
३—दशवै० १०।६
४—धम्मपद क्रोध० गा० १

निर्ग्रन्थ प्रवचन में कहा है—जो सम्यग् दृष्टि है, अमूढ़ है, ज्ञान दर्शन चारित्र, तप आदि का अस्तित्व स्वीकार करता है, पूर्व कर्मों को तपस्या के द्वारा नाश करता है और जिसके मन, वचन काया—ये तीनो संवृत्त हैं, वह भिक्षु है।

सम्मद्दिट्ठी[1] सया अमूढे, अत्थि हु नाणे तवे संजमे य।

तवसा धुणइ पुराणपावगं, मणवयकायसुसंवुडे जे स भिक्खू॥

उपर्युक्त गाथा की तुलना में सौगत साहित्य में निम्नोक्त पद्य पाए जाते हैं। प्रथम चरण "सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे" के अनुरूप—

वज्जञ्च[2] वज्जतो ञत्वा, अवज्जञ्च अवज्जतो।

सम्मादिट्ठिसमादाना, सत्ता गच्छन्ति सुग्गतिं॥

इसके अतिरिक्त चतुर्थ पद्य 'मणवयकायसुसंवुडे" के साथ समता रखनेवाले पद्य इस प्रकार परिस्फुट हुए हैं—

कायेन[3] संवुता धीरा, अथो वाचाय संवुता।

मनसा संवुता धीरा, ते वे सुपरिसंवुता॥

जैन वाङ्मय में कहा है कि विभिन्न प्रकार के अशन, पान, खादिम और स्वादिमादि द्रव्य प्राप्त होने पर कल या परसों काम आयेगा, इस अध्यवसाय से जो संचय नही करता वह मुनि है।

तहेव[4] असणं पाणगं वा, विविहं खाइमसाइमं लभित्ता।

होही अट्ठो सुए परे वा, तं न निहे न निहावए जे स भिक्खू॥

उपर्युक्त गाथा के अनुरूप सौगत साहित्य में निम्नलिखित गाथा प्रतिपादित की गई है जो कि आगम गाथा से अधिकांशतः तुलना रखती है—

अन्नानमथो[5] पानानं, खादनीयानमथोपि वत्थानं।

लद्धा न सन्निधिं कयिरा, न च परित्तसे तानि अलभमानो॥

यहाँ आगमोक्त व सौगत साहित्य में प्रतिपादित इन दोनों गाथाओं की सन्निधि नहीं करने का जो मूल ध्येय है, वह तो एक है ही, इसके अतिरिक्त अन्न, पान, खाद आदि की शाब्दिक तुलना भी है। जैन वाङ्मय में यह भी उप-

---

१—दशवै० १०।७ २—धम्मपद निरय० १४

३—धम्मपद क्रोध० गा० १४ ४—दशवै० १०।८

५—सुत्तनिपात ५२।१०

लब्ध होता है कि मुनि विविध अशन, पान, खादिम स्वादिमादि को प्राप्त कर अपने साधार्मिक बन्धुओं को आमन्त्रित कर पीछे खाए। इस प्रकार भोजन कर जो स्वाध्याय में अनुरत रहता है वह भिक्षु है—

तहेव[1] असणं पाणगं वा, विविहं खाइमं साइमं लभित्ता।
छंदिय साहम्मियाण भुंजे, भोच्चा सज्झायरए जे स भिक्खू॥

तथागत के साहित्य में एक जगह मनुष्य के पराभवों का उल्लेख करते हुए भी ऐसा कहा है। अर्थात् विविध प्रकार की भोजन सामग्री प्राप्त कर जो अकेला खाता है उसे पराभव कहा गया है।

एको[2] भुञ्जति सादूनि, तं पराभवतो मुखं।

आगमोक्त गाथा में जहाँ अपने साधार्मिकों को आमन्त्रित कर भोजन करनेका विधान है वही तथागत के साहित्य में अकेले के भोजन करने को पराभव बतलाया है, अर्थात् अकेले भोजन करना उसकी संस्कृति के अनुरूप नहीं है। अतः अन्ततः दोनों की भावनाओं का फलित एक ही है। आमन्त्रण, मनुहार आदि वहाँ ही होती है जहाँ पारस्परिक प्रेम हो, वात्सल्य व प्यार का वातावरण हो। मानना चाहिये कि प्रेम, वात्सल्य आदि कारण हैं और आमन्त्रण आदि उसके कार्य हैं। अतः उपर्युक्त विचारों के अतिरिक्त "छंदिय साहम्मियाण भुंजे" इसकी पुष्टि करनेवाले विचार बौद्ध साहित्य में और भी पाए जाते हैं। यह निम्नोक्त गाथा से स्पष्ट विदित होता है :—

नानाकुला[3] पब्बजिता, नाना जनपदेहि च।
अञ्ञमञ्ञं पियायन्ति, तेन मे समणा पिया॥

जैनागमों में मुनि की संस्कृति बतलाते हुए कहा है—

न[4] य वुग्गहियं कहं कहेज्जा, न य कुप्पे निहुइन्दिए पसंते।
संजमधुवजोगजुत्ते, उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू॥

अर्थात् विग्रह पैदा करने वाली कथा न करे, क्रोध न करे, अपनी इन्द्रियों को प्रशान्त रखे, संयम में योगों को स्थिर रखे, आत्मा को शांत रखे और दूसरों का तिरस्कार न करे, वह मुनि है। बौद्ध साहित्य में उपर्युक्त पद्यों की तुलना करनेवाले पद्य निम्न प्रकार से निरूपित हुए हैं :—

१—दशवै० १०।६
२—सुत्तनिपात ६-१२।
३—थेरी० २८५
४—दशवै० १०।१०

न[1] च कत्थिता सिया भिक्खु, न च वाचं पयुतं भासेय्य।
पागब्भियं न सिक्खेय्य, कथं विग्गाहिकं न कथयेय्य॥

आगमोक्त गाथा का प्रथम चरण 'न य वुग्गहियं कहं कहेज्जा' की और बौद्ध साहित्य में प्रतिपादित गाथा का चतुर्थ चरण 'कथं विग्गाहिकं न कथयेय्य' की अक्षरशः तुलना है। इसके अतिरिक्त शेष पद्य भी आगमोक्त गाथा की भावना का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। आगमोक्त दूसरे चरण "न य कुप्पे निहुइंदिए पसंते" और 'उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू' चौथे चरण से तुलना रखनेवाले बौद्ध साहित्य के निम्नोक्त पद्य भी अनुशीलनीय हैं।

उपसन्तो[2] उपरतो, मन्तभाणी अनुद्धतो।
धुनाति पापके धम्मे, दुमपत्तं व मालुतो॥

यहाँ उपसन्त शब्द की शाब्दिक तुलना है और निहुइंदिए का अर्थ अनुद्धत इन्द्रिय होता है। अतः यह भी उसके अनुरूप ही है तथा 'संजमधुव-जोगजुत्ते' यह एक ही पद्य उपर्युक्त दोनों बौद्ध गाथाओं का प्रातिनिध्य करने के लिये यथेष्ट हैं। इस प्रकार आगम साहित्य में श्रमण संस्कृति के विषय में प्रतिपादित अगली गाथा इस प्रकार है :—

जो[3] सहइ हु गामकंटए, अक्कोसपहारतज्जणाओ य।
भयभेरवसद्दसप्पहासे, समसुहदुक्खसहे य जे स भिक्खू॥

अर्थात् कांटे के समान चुभनेवाले इन्द्रिय-विषयों को सहन करे, आक्रोश, प्रहार, तर्जना आदि को सहन करे, भूतप्रेतात्मादि के अत्यन्त भावोत्पादक शब्द युक्त अट्टहासों को सहन करे तथा सुख और दुःख में समभावना रखे वह मुनि है। उपर्युक्त आगम गाथा के दूसरे चरण "अक्कोसप्रहारतज्जणाओ य" की तुलना में बौद्ध साहित्य में निम्नोक्त पद्य अभिव्यक्त हुए हैं—

अक्कोच्छि मं[4] अवधि मं अजिनि मं अहासि मे।
ये तं न उपनय्हन्ति, वेरं तेसूपसम्मति॥

यहाँ भावार्थ के अतिरिक्त आक्रोश और हास की शाब्दिक तुलना भी है। आक्रोशादि प्रतिकार करने के निषेध से सहिष्णुत्व अपने आप ही गम्य है तथा

१—सुत्तनिपात ५२।१६
२—थेर गाथा प्रथम निपात गा० ५
३—दशवैकालिक १०।११
४—जातक भाग ३ दीधिति जातक

आगमोक्त गाथा के चतुर्थ चरण "समसुहदुक्खसहेय जे स भिक्खू" की तुलना में निम्नलिखित पद्य तुलनीय हैं—

पनुज्ज[1] दुक्खेन सुखं अनिन्द, सुखेन वा दुक्खमसय्हसाहि।
उभयत्थ सन्तो अभिनिब्बुतत्ता, सुखे च दुक्खे च भवन्ति तुल्या॥

यहाँ भावात्मक तुलना के साथ-साथ सुख और दुःख की शाब्दिक तुलना भी है। आगम साहित्य में श्रमण संस्कृति के विषय में उपर्युक्त गाथा से आगे की गाथा इस प्रकार है—

पडिमं[2] पडिवज्जिया मसाणे, नो भायए भयभेरवाइं दिस्स।
विविहगुणतवोरए य निच्चं, न सरीरं चाभिकंखई जे स भिक्खू॥

अर्थात्-जो विशिष्ट साधना संलग्न श्मशान आदि में ठहरा हुआ मुनि अत्यन्त भयप्रद दृश्यों को देखकर न डरता हो, विविध गुणों और तपों में रत हो और शरीर की आकांक्षा न करता हो—वह मुनि है। सौगत साहित्य में इसकी तुलना में दो गाथाएं निम्नोक्त प्रकार से प्रतिपादित हुई हैं, जो कि शब्दों व भावों से आगमोक्त गाथा के बहुत नजदीक हैं—

भिक्खुनो[3] विजिगुच्छतो, भजतो रित्तमासनं।
रुक्खमूलं सुसानं वा, पब्बतानं गुहासु वा॥
उच्चावचेसु सयनेसु कीवन्तो तत्थ भेरवा।
ये हि भिक्खु न वेधेय्य निग्घोसे सयनासने॥

उक्त गाथाओं में श्मशान व भैरव यह शाब्दिक तुलना बहुत ही उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त दोनों गाथाओं का अवशिष्टांश जो कि भावों की दृष्टि से तुल्य है, वह आगमोक्त गाथा के बहुत निकट है, ऐसा मानना चाहिये। आगमोक्त गाथा का पूर्वार्ध 'पडिमं पडिवज्जिया मसाणे, नो भायए भय-भेरवाइं दिस्स' की तुलना में एक दूसरा उदाहरण और भी निम्नोक्त प्रकार से है:—

एकं[4] चरन्तं मुनिनं अप्पमत्तं, निंदापसंसासु अवेधमानं।
सीहंव सद्देसु असन्तसन्तं, तं वापि धीरा मुनिं वेदयन्ति॥

---

(१) जातक भाग ३ एकराज जातक
(२) दशवै० १०।१२
(३) सुत्तनिपात ५४।४, ५
(४) सुत्तनिपात १२।७

व्युत्सर्ग दशा में परीषहादि उत्पन्न होने पर मुनि किस प्रकार रहे। इस सम्बन्ध की चर्चा आगम साहित्य में इस प्रकार है।

असइं[1] वोसट्ठचत्तदेहे, अक्कुट्ठे व हए व लूसिए वा।
पुढवि समे मुणी हवेज्जा, अनियाणे अकोउहल्ले य जे स भिक्खू॥

अर्थात् मुनि पुनः-पुनः शरीर का व्युत्सर्ग करे, आक्रोश व मार पीट करने पर पृथ्वी की ज्यों सहनशील हो, निदान न करे, कौतूहल-ख्याल-तमाशबीन न हो। सौगत साहित्य में भी इन विचारों के अनुरूप कुछ विचार निम्नांकित प्रकार से है—

सब्बसञ्ञोजनं[2] छेत्वा, यो वे न परितस्सति।
सङ्गातिगं विसञ्ञुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥
अक्कोसं बधबन्धञ्च, अदुट्ठो यो तितिक्खति।
खन्तिबलं बलानीकं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

यहाँ ब्राह्मण शब्द श्रमण विशेष के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है[3]। इन दोनों गाथाओं के जो 'सब्बसञ्ञोजनं छेत्वा' 'सङ्गातिगं विसञ्ञुत्तं' और 'यो वे न परितस्सति' पद्य हैं, ये पद्य 'वोसट्ठचत्तदेहे' और 'पुढवि समे मुणी हवेज्जा' की भावना के समीप हैं और 'अक्कोसं बधबन्धञ्च, अदुट्ठो यो तितिक्खति' ये पद्य 'अक्कुट्ठे व हए व लूसिए वा' और 'अनियाणे अकोउहल्ले य जे स भिक्खू' की भावना के द्योतक हैं। क्योंकि अदुष्टमन अर्थात् जिस व्यक्ति का मन किसी भी परिस्थिति में उद्वेलित न हो और संतुलित रहता हो वही मनुष्य अनिदानकारी व अतमाशबीन होता है। आगमोक्त गाथा का समग्र प्रतिबिम्ब बौद्ध साहित्य में दो पद्यों में प्रतिबिम्बित हुआ है। वह उद्धरण निम्न प्रकार से है—

'पठवीसमो[4] नो विरुज्झति, इन्दखीलूपमो तादि सुब्बतो।'

अर्थात् इन्द्रकील की ज्यों अचल रहने वाला (सुव्रती) मुनि अनेक प्रकार की विपत्ति व बाधाओं को पृथ्वी की भांति सह लेता है। यहाँ 'पुठवीसमो नो

१—दशवै० १०।१३
२—धम्मपद ब्राह्मण गा० १५,१७
३—अलंकतो चेपि समं चरेय्य, सन्तो दन्तो नियतो ब्रह्मचारी। सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं, सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खू॥ धम्मपद दण्ड० गा० १४
४—धम्मपद अर्हन्तवर्ग श्लो० ६

विरक्कति' की तुलना बहुत ही नैकट्य सम्प्राप्त है। जब किसी एक श्रमण के ऊपर परीषहों का दौर गुजरता है तब वह क्या करे? इस विषय में जैन वाङ्मय में निम्नलिखित पद्य अनुशीलनीय हैं—

अभिभूय[1] काएण परीसहाइं, समुद्धरे जाइपहाओ अप्पयं।
विइत्तु जाईमरणं महब्भयं, तवे रए सामणिए जे स भिक्खू॥

अर्थात् क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, डाँस, मच्छर आदि अनेक प्रकार के परीषहों के आने पर उनपर विजय प्राप्त करे और संसार वीथी से अपने आप को बचाए। जन्म और मरण के महाभय को समझकर श्रामण्य पथ (तपस्या) का अनुसरण करे। बौद्ध साहित्य की निम्नांकित गाथा इसके साथ तुलनीय है—

यो[2] वापि सोते अथवापि उण्हे, वातातपे डंससिरिंसपे च।
खुदं पिपासं अभिभूय सब्बं, रत्तिंदिवं यो सततं नियुत्तो।
कालागतं च न हापेति अत्थं, सो मे मनापो निवसे वतम्हि॥

आगमोक्त गाथा में यद्यपि परीषहों का समष्टि रूप ही दिया गया है किन्तु दूसरे स्थानों में ये व्यष्टि रूप से भी उपलब्ध होते हैं[3]। यहाँ दोनों विचार-धाराओं का सारांश एक ही है। अर्थात् चाहे मौत भी सामने आ खड़ी हो, मुनि अपनी श्रामण्य भावना से च्युत न हो, इस भावाभिव्यक्त्यात्मक तुलना के साथ-साथ "अभिभूय" शब्द की शाब्दिक तुलना भी है। श्रमण संस्कृति के विषय में आगम वाणी के अगले पद्य निम्न प्रकार हैं :—

हत्थसंजए[4] पायसंजए, वायसंजए संजइंदिए।
अज्झप्परए सुसमाहियप्पा, सुत्तत्थं च वियाणई जे स भिक्खू॥

अर्थात् जो हाथों से संयत है, पैरों से संयत है, वाणी से संयत है, इन्द्रियों से संयत है, अध्यात्मरत है, जो भली प्रकार से समाधिस्थ तथा सूत्र व अर्थ को यथार्थ रूप से जानता है—वह मुनि है। सौगत साहित्य में उपर्युक्त गाथा से समानता रखने वाले पद्य इस प्रकार से व्यक्त हुए हैं :—

हत्थसञ्ञतो[5] पादसञ्ञतो, वाचाय सञ्ञतो सञ्ञतुत्तमो।
अज्झत्तरतो समाहितो, एको संतुसितो तमाहु भिक्खू॥

१—दशवै० १०।१४
२—जातक भा० ३, जातक सं० ३८२
३—उत्तराध्ययन २।
४—दशवै० १०।१५
५—धम्मपद, भिक्खूवग्ग श्लोक ३

यहाँ हस्त-संयत, पाद-सयत, और वाक्-संयत, अध्यात्मरत और सुसमाहित आदि शब्दों के साथ शाब्दिक तुलना है। आगमोक्त गाथा के पूर्वार्ध के अंतिमांश 'संजइंदिए' भी निम्नोक्त पद्यों में समाविष्ट हैं :—

चक्खुना[1] संवरो साधु, साधु सोतेन संवरो।
घाणेन संवरो साधु, साधु जिह्वाय संवरो॥
कायेन संवरो साधु, साधु वाचाय संवरो।

यहाँ आगमोक्त गाथा की तरह समष्टि रूप से न बतला कर व्यष्टि रूप से बतलाया गया है फिर भी ये पद्य "संजइंदिए" पाठ के अनुरूप ही है। आगमोक्त गाथा के चौथे चरण "सुत्तत्थं च वियाणई जे स भिक्खू" की तुलना में निम्नोक्त पद्य है :—

पुब्बापरञ्ञू[2] अत्थञ्ञू, निरुत्तिपदकोविदो।
सुग्गहीतञ्च गण्हाति, अत्थञ्चोपपरिक्खति॥

यहाँ भावात्मक तुलना के साथ-साथ अर्थ शब्द की शाब्दिक तुलना भी है। आगम साहित्य में मुनि के लक्षणों का प्रतिपादन करते हुए कहा है :—

उवहिम्मि[3] अमुच्छिए अगिद्धे, अन्नायउंछं पुलनिप्पुलाए।
कयविक्कयसन्निहिओ विरए, सव्वसङ्गावगए य जे स भिक्खू॥

अर्थात् जो वस्त्रादि उपधि (उपकरणों) में मूर्च्छित न हो, जो भोजनादि सामग्री में गृद्ध न हो, अज्ञात कुलों में भिक्षार्थ पर्यटन करता हो, संयम को असार करने वाले दोषों से परे हो, क्रय-विक्रय आदि क्रियाओं से विरत हो और सब प्रकार के सङ्गों से रहित हो—वह मुनि कहलाता है।

सौगत साहित्य में उपर्युक्त गाथा के "कयविक्कयसंन्निहिओ विरए" और "सव्वसंगावगए य जे स भिक्खू" इन दो चरणों की तुलना निम्न प्रकार से व्यवहृत हुई है—

पुत्तञ्च[4] दारं पितरञ्च मातरं, धन्नानि धनानि च बन्धवानि।
हित्वा न कामानि यथोधिकानि, एगो चरे खग्गविसाणकप्पो॥

यहाँ किसी भी शब्द के साथ तुलना नहीं हुई है। किन्तु गहराई से देखने

१—धम्मपद भिक्खू० श्लोक १-२।
२—थेर० १०३१
३—दसवे० १०।१६
४—सुत्तनिपात० ३-२६

पर भावात्मक तुलना में किसी प्रकार का भेद दिखाई नहीं देता। अथवा इसका एक दूसरा उद्धरण इस प्रकार भी पाया जाता है—

संगा पमुत्त[१] अखिलं अनासवं, तं वापि धीरा मुनिं वेदयन्ति।

यहाँ संग और मुनि शब्द की शाब्दिक तुलना है। जैन वाङ्मय में मुनित्व की व्याख्या करते हुए कहा है—

अलोलभिक्खू[२] न रसेसु गिद्धे, उंछं चरे जीविय नाभिकंखे।
इड्ढिं च सक्कारण पूयणं च, चए ठियप्पा अणिहे जे स भिक्खू॥

तात्पर्य है जो किसी भी प्रकार की वस्तुओं में लोल्य नहीं रखे, खाद्य रसों में गृद्धि न रखे, असामुदायिक भिक्षा से जीवन चलाने की आकांक्षा न रखे, ऋद्धि, सत्कार, पूजा, आदि की वांछा न रखे, किसी भी प्रकार का छल न करे—वह मुनि है।

बौद्ध साहित्य में "अलोलभिक्खू न रसेसु गिद्धे" की तुलना निम्नलिखित पद्यों में पायी जाती है :—

चक्खुहि[३] नेव लोलस्स गामकथाय आवरये सोतं।
रसे च नानुगिज्झेय्य, न च ममायेथ किञ्चि लोकस्मिं॥

यहाँ लोल, रस, और गिद्ध की शाब्दिक तुलना के साथ-साथ भावाभिव्यक्त्यात्मक तुलना का विशेष महत्त्व दिखलाया गया है।

आगम गाथा का दूसरा चरण 'उंच्छं चरे जीविय नाभिकंखे' के अनुरूप होने वाली गाथा बौद्ध साहित्य में निम्न प्रकार से अभिव्यक्त हुई है, जो कि केवल भावात्मक तुलना के अनुरूप है :—

अल्लं सुक्खं[४] च भुञ्जन्तो, न बालहं सुहितो सिया।

बौद्ध साहित्य का एक और उद्धरण नीचे उद्धृत किया जा रहा है, जो कि अधिकांश अंशों में आगम गाथा से तुलनीय है :—

निल्लोलुपो[५] निक्कुहो निप्पिपासो, निम्मक्खो निद्धन्तकसावमोहो।
निरासयो सब्बलोके भवित्वा, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

१—सुत्तनिपात १२-६
२—दशवै० १०।१७
३—सुत्तनिपात ५२-८
४—जातक भाग ३ सक जातक
५—सुत्तनिपात ३-२२

रसेसु गेधं[1] अकरं अलोलो, अनञ्ञपोसी सपदानचारी।
कुले कुले अप्पटिबद्धचित्तो, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

यहाँ भावात्मक तुलना के साथ-साथ रस, गृद्धि, अलोल, आदि शाब्दिक तुलना भी है। इसके अतिरिक्त कुले कुले अप्रतिबद्ध, एको चरे, निक्कुहो, निप्पिपासो आदि अनेक शब्द हैं, जो कि जैन संस्कृति से तुलना रखते हैं।

आगम वाङ्मय की एक और गाथा—जो कि नीचे अंकित की गई है—मुनि की परिभाषा इस प्रकार करती है—

न[2] परं वएज्जासि अयं कुसीले, जेणऽन्नो कुप्पेज्ज न तं वएज्जा।
जाणिय पत्तेयं पुण्णपावं, अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू॥

अर्थात् दूसरों के प्रति अपशब्दों का व्यवहार न करे, जिस व्यवहार से दूसरे कुपित हों, ऐसा व्यवहार न करें, प्रत्येक व्यक्ति के पुण्य-पाप पृथक्-पृथक् हैं ऐसा मानकर अपने आप में उत्कर्ष भावना न लाए—वह मुनि कहलाता है। बौद्ध-साहित्य में इसकी तुलना करने वाले निम्नांकित पद्य हैं—

यो[3] चत्तानं समुक्कंसे, परं चमवजानति।

यहाँ आत्मा और समुत्कर्ष की शाब्दिक तुलना है, इसके अतिरिक्त एक दूसरा उदाहरण और भी इससे तुलनीय है:—

न[4] परो परं निकुब्बेथ, नातिमञ्ञेथ कत्थचि नं कञ्चि।
ब्यारोसना पटिघसञ्ञा, नाञ्ञमञ्ञस्स दुक्खमिच्छेय्य॥

यहाँ केवल भावाभिव्यक्त्यात्मक अनुरूपता ही है। जैन श्रमण संस्कृति के विषय में यहाँ और भी पठनीय हैं, जो इस प्रकार है:—

न[5] जाइमत्ते न य रूवमत्ते, न लाभमत्ते न सुएणमत्ते।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता, धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू॥

सब प्रकार के दंभ को छोड़कर जो धर्मध्यान में रत रहता हो—वह मुनि है। बौद्ध श्रमण संस्कृति में इसकी तुलना निम्नांकित पद्यों में है—

जातित्थद्धो[6] धनत्थद्धो, गोत्तत्थद्धो च यो नरो।
स ञातिं अतिमञ्ञेति, तं पराभवतो मुखं॥

१—सुत्तनिपात ३ ३१
२—दशवै० १०।१८
३—सुत्तनिपात ७-३१।
४—सुत्तनिपात ८-६
५—दशवै० १०।१६
६—सुत्तनिपात ६-१४

बौद्ध साहित्य में जाति आदि के मद करने वाले को पराभव कहा गया है और पराभव होना मनुष्य के लिये प्रशस्य नहीं है, अतः वह अकरणीय है। यहाँ केवल भावाभिव्यञ्जना रूप तुलना ही नहीं है, जाति आदि शब्दों की शाब्दिक तुलना भी है।

आगमोक्त गाथा के तीसरे और चौथे चरण "मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता, धम्मज्झणरए जे स भिक्खू" की तुलना में निम्नलिखित पद्य हैं—

यो[1] नाच्चसारी न पच्चसारी, सब्बं अज्झगमा इमं पपञ्चं।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं, उरगो जिण्णमिव तचं पुराणं॥
धम्मारामो[2] धम्मरतो, धम्मं अनुविचिन्तयं।
धम्मं अनुस्सरं भिक्खू सद्धम्मा न परिहायति॥

बौद्ध-साहित्य के उपर्युक्त पद्यों में भावाभिव्यञ्जना की अनुरूपता के साथ साथ धर्म और रत शब्दों की शाब्दिक अभिव्यक्ति भी हुई है। जैन वाङ्मय में प्ररूपित है कि जो आर्यपद अर्थात् धार्मिक पद्यों का उपदेश करता है, धर्म में स्थित रहता है, दूसरों को धर्म में स्थित करता है, प्रव्रजित दशा को प्राप्त कर अनाचारों का निराकरण करता है, हास्य आदि के लिए जो कुतूहलादि का प्रयोग न करता है—वह मुनि है—

पवेयए[3] अज्जपयं महामुणी, धम्मे ठिओ ठावयई परं पि।
निक्खम्मं वज्जेज्ज कुसीललिङ्गं, नयाविहस्स कुहए जे स भिक्खू॥

बौद्ध-साहित्य में 'धम्मेठिओ और निक्खम्मं वज्जेज्ज कुसीललिङ्ग' 'की तुलना निम्नांकित प्रकार से है -

उत्तिट्ठे[4] नप्पमज्जेय्य, धम्मं सुचरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति, अस्मिं लोके परम्हि च॥
कामं पतामि[5]निरयं, उद्धंपादो अवंसिरो।
नानरियं करिस्सामि, हन्द पिण्डं पटिग्गाहा॥

"धम्मे ठिओ" के स्थान में यहाँ 'उत्तिट्ठे नप्पमज्जेय्य' उपदेश के रूप में प्रयोग किया गया है। 'ठिओ और उत्तिट्ठे' यह दोनों शब्द ष्ठा गतिनिवृत्तौ

१—सुत्तनिपात १-८
२—धम्मपद भिक्खु० ५
३—दशवै० १०।२०
४—धम्मपद लोक व०
५—जातक खदिरङ्गार

एक ही धातु के हैं। यहाँ एक 'क्त' प्रत्ययान्त है और दूसरा विध्यात्मक आख्यात का रूप है और 'निक्खम्मं वज्जेज्ज कुसीललिङ्ग'' के स्थान पर 'नानरियं करिस्सामि' शपथ करने के रूप में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। कुशील के स्थान पर यहाँ अनार्य शब्द का उपयोग किया गया है। जिस प्रकार कुशील शब्द का अर्थ यहाँ अनाचीर्ण है उसी प्रकार अनार्य शब्द का भी। अतः यहाँ ये शब्द भावना से साम्यता रखते हैं।

आत्महित चाहने वाला मुनि इस शरीर को अशुचि और अशाश्वत समझ कर छोड़े। जन्म और मरण के बंधनों को छेदकर अपुनरागमन रूप गति को प्राप्त करे।

तं[1] देहवासं असुइं असासयं, सयाचए निच्च हियट्ठि अप्पा।
छिंदितु जाइमरणस्स बन्धणं, उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं॥

बौद्ध— **द्विपादको[2] यं असुचि दुग्गन्धो परिहीरति।**
नानाकुणपपरिपूरो, विस्सवन्तो ततो ततो॥
एतादिसेन[3] कायेन, यो मञ्ञे उण्णमेतवे।
परं वा अवजानेय्य, किमञ्ञत्र अदस्सना॥
छन्दरागविरत्तो सो, भिक्खु पञ्ञाणवा इध।
अज्झगा अमतं सन्तिं, निब्बानपदमच्चुतं॥

यहाँ अशुचि शब्द के साथ शाब्दिक तुलना है और उपर्युक्त दूसरे विशेषण प्रायः शरीर की अशाश्वतता बतलाने वाले हैं। दूसरे श्लोक में इस प्रकार के शरीर पर मोह करने को अविद्या कहा है, जो कि शरीर की हेयत्व-भावना का बोध कराता है। 'सयाचए निच्च हियट्ठि अप्पा' के साथ इसकी भावाभिव्यक्त्यात्मक समता है। तीसरे श्लोक की 'छिंदितु जाइमरणस्स बन्धणं, उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं'' के साथ भावात्मक समता है। यहाँ राग-द्वेषात्मक बन्धन से मुक्त प्रज्ञावान् को निर्वाण प्राप्त होने का विधान है। आगमोक्त गाथा में जन्म-मरण के बन्धन (राग-द्वेष) को छेद कर अपुनरागमन (निर्वाण) गति को प्राप्त करना कहा गया है। अतः अन्त में दोनों विचार-धाराओं का फलित एक ही है।

१—दशवै० १०।२१ २—थेर गाथा ४५३
३—सुत्तनिपात ११-२०८ ४—सुत्तनिपात ११-२०६

जीवन को आवश्यकताएं पूरी करने वाले वृक्ष

साध्वीश्री कनकप्रभा

वृक्षों के साथ मनुष्य का बहुत निकट सम्बन्ध रहा है। एक समय मनुष्य की हर अपेक्षाएं वृक्षों के द्वारा ही पूरी होती थीं। यही कारण है वे उनका आत्मीय की तरह पोषण करते थे। अभिज्ञान[1] शाकुन्तल में वृक्षों के साथ शकुन्तला का सहोदर स्नेह व्यक्त किया गया है। यह अतिरेक नहीं, क्योंकि वृक्ष मनुष्य के लिए बहुत उपयोगी है। धूप से तपे हुए क्लान्त पथिक वृक्ष की छाया में ही शान्ति का अनुभव करते हैं। उनके फल खाकर भूख शान्त करते हैं और इससे प्यास बुझाते हैं। रोगी व्यक्ति तो फलों के आधार पर ही जीता है। वृक्ष शुद्ध हवा देते हैं, वर्षा के आकर्षण केन्द्र हैं और यह भी माना जाता है कि जहाँ वृक्ष होते हैं वहाँ न तो अतिवृष्टि होती है और न अनावृष्टि ; किन्तु आवश्यकता के अनुसार वर्षा होती है।

आज मनुष्य कृत्रिम पदार्थों के प्रति आस्थावान् हो गया है। अतः वह स्वभाव को छोड़ कर पर-भाव में रमण करने लग गया है। उसकी आवश्यकताओं का इतना विस्तार हो गया है कि संसार के समस्त पदार्थ भी उन्हें पूरा नहीं कर सकते। किसी विचारक ने कहा है—"विश्व के सभी व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए पदार्थ पर्याप्त से भी अधिक हैं, पर एक भी व्यक्ति की आकांक्षा पूरी करने के लिए पदार्थ अपर्याप्त हैं। इसीलिए तो आज सीमातीत भौतिक उपलब्धि के बावजूद भी मनुष्य असन्तुष्ट रहता है।

यौगलिक युग में मनुष्य अल्प आकांक्षाओं वाले होते थे। उनकी भूख प्यास का शमन, वस्त्र, पात्र, मकान, अग्नि आदि की पूर्ति तथा मनोरञ्जन की उपलब्धि वृक्षों द्वारा ही होती थी। उन वृक्षों को जैन आगमों में 'कल्प-वृक्ष' कहा गया है। आज कई लोगों को इनके अस्तित्व में सन्देह है, अतः वे जिज्ञासा करते हैं कि कल्प वृक्षों का कोई इतिहास और अर्थ भी है या यों ही परम्परा चली आ रही है? इसके लिए कुछ अन्वेषण की अपेक्षा है।

कल्प शब्द अनेकार्थक है। सामर्थ्य, वर्णना, छेदन करना, औपम्य और अधिवास आदि अर्थों में यह प्रयुक्त होता है। लेकिन यहाँ समर्थ अर्थ में इसका

१—अभिज्ञान शाकुन्तल अं० १ पृ० १३

प्रयोग ठीक जँचता है। जो वृक्ष अमुक-अमुक प्रकार के फल देने में समर्थ हो वह कल्प वृक्ष है। नालन्दा हिन्दी शब्द कोष में स्वर्ण के एक वृक्ष का नाम कल्पक-तरु बताया है ; सम्भवतः यह कल्प वृक्ष का ही प्रतीक है। शारीरिक भाष्य टीका में इसे देव लोक का वृक्ष विशेष माना गया है। कल्पना के अनुरूप फल देने के कारण इसका नाम कल्प वृक्ष हो गया।

साधारण जनता में ऐसा भ्रम है कि एक ही वृक्ष सब आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। जिस व्यक्ति को जिस पदार्थ की अपेक्षा होती वह वृक्ष के पास जाकर याचना करता और तत्काल उसे वह वस्तु मिल जाती थी। कई व्यक्तियों की धारणा है कि कोई भी वृक्ष इच्छित पदार्थ देने में समर्थ नहीं थे, लेकिन जिन वृक्षों के अधिष्ठाता देवता होते थे, वे वृक्ष ही हर पदार्थ देते थे। उन वृक्षों के अधिष्ठाता देवों की उपासना करने पर वे वृक्षों के माध्यम से ईप्सित वस्तुएं देते थे ; लेकिन यह तथ्य युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

आगमों में ७ और १० प्रकार के वृक्षों का वर्णन मिलता है। वे वृक्ष भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं की पूर्ति करने वाले थे। इससे स्पष्ट होता है कि सब वृक्षों का अपना अलग-अलग क्षेत्र था और उस सीमा तक वे अपना कार्य करते थे।

स्थानांग[1] में एक जगह सात प्रकार के वृक्षों का उल्लेख है। वे विमल वाहन कुलकर के समय में थे। उनके फल मनुष्यों की आजीविका के साधन थे। उन वृक्षों में दीप, ज्योतिष्क और त्रुटितांग वृक्षों को नहीं लिया गया है। सम्भवतः उस क्षेत्र में वाद्य और प्रकाश देने वाले वृक्ष नहीं थे। स्थानांग[2] में दूसरी जगह १० प्रकार के वृक्षों का वर्णन है। प्रवचन सारोद्धार[3] और समवायांग[4] में भी १० प्रकार के कल्प वृक्षों का वर्णन है। जीवाभिगम[5] में इन वृक्षों को एकोरुक द्वीप विशेष में बताया है। इन वृक्षों के नाम निम्न प्रकार हैं :—

१—विमलवाहणे णं कुलगरे सत्तविधा रुक्खा भुवभोगत्ताते हव्वमागच्छिंसु तं जहा—मतंगता य भिंगा त्तित्तंगा चेव चित्तरसा होंति। मणियंगा य अणियणा सत्तमग्गा कप्परुक्खा य। ठा० ७ सू० ६८८

२—स्थानांग ठा० १०।

३—प्रवचन सारोद्धार द्वार १२१।

४—समवायांग समवाय १०।

५—जीवाभिगम पा० ३४७।

(१) मद्यांग—पौष्टिक तत्त्व देने वाले वृक्ष।
(२) भृतांग—पात्र रूप में फल देने वाले वृक्ष।
(३) त्रुटितांग—वीणा पटह आदि वाद्य विधि से युक्त वृक्ष।
(४) दीपशिखा—विशेष ज्योतिर्मय वृक्ष।
(५) ज्योतिशिखा—सूर्य के समान प्रकाश देने वाले वृक्ष।
(६) चित्रांग—माल्य विधियों से युक्त वृक्ष।
(७) चित्ररस—विविध प्रकार के भोजन देने वाले वृक्ष।
(८) मण्यंग—मणि आदि के आभूषण देने वाले वृक्ष।
(९) गेहाकार—मकान रूप में परिणत वृक्ष।
(१०) अनग्नक—वस्त्र विधि से युक्त वृक्ष।

वर्तमान में शरीर का संस्थान और संहनन बहुत कमजोर हो गया। अनेक प्रकार के पौष्टिक पदार्थों का सेवन करने पर भी काल के प्रभाव से शारीरिक दुर्बलता बढ़ती जा रही है, लेकिन यौगलिकों के समय यह स्थिति नहीं थी। अन्यान्य दूसरे कारणों के साथ इसका एक यह भी कारण है कि उस समय जो मद्यांग नामक वृक्ष विशेष थे, उनके फल पुष्टिकारक थे। वे वृक्ष[1] चन्द्र प्रभा, मनःशिला, सिन्धु वारुणी आदि विशेष प्रकार की मदिरा से युक्त, पत्र, पुष्प और फलों के निर्यास से घनीभूत, बहुत से वृद्धिकारक द्रव्यों के मिलन से पुष्टि-कारक आसव, मधु, मैरेयक, अरिष्टन (मद्य विशेष) दूध जैसी कान्ति वाली प्रशभ, तल्लक, मदिरा सत्ताउ—सौ बार धोने पर भी जिसकी गंध नहीं जाती ऐसी मदिरा, खजूर और द्राक्षा के सार से युक्त सुपक्व सेलड़ी के रस के समान मनोज्ञ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श वाली, बलवीर्य की वृद्धि करने वाली मदिरा विशेष से युक्त मद्यांग नामक वृक्ष उस क्षेत्र में सहज रूप से पैदा होते थे। उनका निर्माता कोई ईश्वर नहीं था। समय आने पर वे पकते और उनमें स्राव भी होता था। उन फलों को उपयोग में लेने से तत्कालीन मनुष्य स्वास्थ्य से सम्पन्न थे।

पशु, पक्षी वृक्षों के फूल-फल खाते हैं और नदी आदि में पानी पीते हैं, इसलिए उनको पात्र की अपेक्षा नहीं होती, लेकिन मनुष्य सभ्यता के लिए या अन्य किसी कारण से पात्र में ही खाते-पीते हैं। आज जिन पद्धतियों से पात्रों का निर्माण होता है, उन तरीकों से आदिवासी मनुष्य परिचित नहीं थे। अतः वे वृक्षों के पात्र व्यवहार में लाते थे। सम्भव है उस समय वृक्षों के पत्र और

१—जहा से चन्दप्पभा मणोसिला...जीवाभि० पा० ३४७

शाखाएं वर्तनाकार ही होते थे या उन पत्रों को वर्तन का रूप दिया जाता था। पात्र विभिन्न प्रकार के होते थे और जिन वृक्षों के पत्र बर्तन के काम में आते उनका नाम 'भृतांग' था।

वे वृक्ष[1] घट (मिट्टी का) कलश, करकरी (पीतल का भाजन विशेष) पाद कांचनिका (पैर धोने की सुवर्ण पात्री), उदक (पानी लेने का पात्र), भृंगार (लोटा), सरक (बांस के पात्र) तथा मणि रत्नों की रेखाओं से खचित विविध प्रकार के पात्र, पत्र और फूलों के रूप में देने वाला भृतांग नामक वृक्ष समूह स्वाभाविक पात्रों से युक्त था।

मनुष्य आवश्यक कार्यों में प्रवृत्ति करता है। अपने लिए, समाज के लिए और राष्ट्र के लिए जो हितावह होता है वह सब करता है। लेकिन जब उन कार्यों से थकावट महसूस होती है तो वह मनोरंजन की सामग्री जुटाता है। नृत्य वाद्य आदि मनोरंजन के प्रमुख साधन हैं। आज का मनुष्य सिनेमा को दिलबहलाव का साधन मानता है, लेकिन यह तो वैज्ञानिक युग की अपनी देन है। अतः प्राग् ऐतिहासिक युग की मनोरंजन सामग्री में वादित्र का विशेष स्थान रहा है। विविध प्रकार के वादित्र प्रकृति निष्पन्न थे।

उनमें मृदंग, पणव, दर्दरक, करटि, डिंडिम, ढ़क्का, मुरज, शंखिका, विपंची, महती, तलताल, कंसताल आदि आतोद्य विधि से युक्त गंधर्व के नाटक करने में कुशल तण आदि, मध्य और अन्त में उपयुक्त वादित्र का प्रयोक्ता दर्शकों को खुश कर लेता है। उसी प्रकार त्रुटितांग नामक वृक्ष-समूह भी स्वभाव से ही तत, वितत, धन सुषिर आदि आतोद्य विधि वाले फलों से युक्त था। यौगलिक मनुष्य इन वृक्षों के द्वारा ही मनोरंजन किया करते थे।

आज विद्युत् शक्ति के द्वारा मनुष्य की प्रत्येक अपेक्षाएं पूरी हो जाती हैं। अन्धकार के समय विद्युत् शक्ति के प्रयोग से सूरज जैसा प्रकाश हो जाता है। लेकिन जब विद्युत्-शक्तियों का आविष्कार नहीं हुआ था तब प्रकाश के लिए 'मशाल' काम में ली जाती थी।

सायंकाल[2] के समय चक्रवर्ती राजा की छोटी बड़ी मशालें तेल और बाती युक्त प्रज्वलित होकर तिमिर का नाश करती है वैसे ही विकसित स्वर्णमय पारिजात से वन प्रकाशित होता था। कनक, मणि, रत्नों से खचित उज्वल, विचित्र वर्ण दण्डों वाली मशालों से अन्धकार को नष्ट करने वाले उज्वल

१—घड कलस कडग कक्करी · ···जीवाभि० पा०३४७

२ जहा से नव निहि वहणो दीविया······जीवाभि० पा० ३४७

प्रकाश से अभिराम 'दीपशिखा' नामक वृक्ष समूह था, जो उद्योत विधि वाले फलों से परिपूर्ण था।

सुषम सुषमा आरे में अग्नि का अभाव था, लेकिन अग्नि की अपेक्षा किसी न किसी रूप में पूर्ण होती थी। अन्य सब कार्यों की तरह अग्नि का कार्य भी तत्कालीन वृक्ष ही करते थे। वे[1] वृक्ष शरद्कालीन सूर्य के समान निर्मल प्रकाश वाले विद्युत् के समान स्निग्ध और निधूर्म अग्नि की तरह चमकते थे। अग्नि से धौत, सुवर्ण, केसुक, अशोक और जपा वृक्षों के विकसित पुष्प समूह तथा मणि रत्नों की किरणों की तरह देदीव्यमान जात्य हिंगुल के रंग से भी अधिक सुन्दर ज्योतिष्क नामक वृक्ष समूह था। संभवतः शीत काल में या अन्य किसी कारण विशेष में इन वृक्षों का उपयोग होता था। अग्नि की तरह प्रकाशमान होने से जिस मार्ग में ये वृक्ष होते थे, वहाँ अन्धकार भी नहीं होता था।

कला का उद्भव मानव जाति के आदि इतिहास से जुड़ा हुआ है। किसी भी तथ्य की कलात्मक अभिव्यक्ति का नाम कला है। बोलना, लिखना, चित्र करना, उठना, बैठना आदि सारे कार्य कलात्मक ढग से किये जाने पर ही व्यवस्थित रूप से हो सकते हैं। योगलिक मनुष्य सभ्यता, कला शब्दों से अपरिचित थे। फिर भी कला का इतिहास हमें उस समय तक ले जाता है। आज प्रयोगों के द्वारा कला का विकास हो रहा है, उस समय वह स्वतः निष्पन्न थी। उस समय के चित्रमय वृक्ष ही कला के प्रतीक थे। उन वृक्षों का नाम 'चित्रांग' था।

जैसे दर्शनीय[2] मकान बहुत चित्रों से चित्रित होता है, रम्य, कुसुममाला और विविध वर्णों से शोभित होता है वैसे ही 'चित्रांगक' वृक्ष अनेक प्रकार की चित्र विधि से युक्त थे।

भोजन हर प्राणी के लिए आवश्यक है। मनुष्य अपनी इच्छा के अनुकूल भोजन तैयार कर लेते हैं। अन्य प्राणियों को जिस रूप में जो कुछ मिलता है वे उसी से सन्तुष्ट रहते हैं। लेकिन अकर्म भूमि में उत्पन्न यौगलिक मनुष्य भोजन नहीं बनाते थे। आज पाककला विकसित हो चुकी है। नए-नए प्रकारों का आविष्कार हो रहा है, लेकिन उस समय इसका उद्भव भी नहीं हुआ था; फिर भी मनुष्य भूखे नहीं रहते थे। पशुओं की तरह मनुष्य भी वृक्षों के फलों द्वारा उदर पूर्ति करते थे।

१—जहा से······अइरुग्गय सरय सूर मंडल···जीवा०—पा० ३४८

२—जहा से पेच्छा घरे विचित्ते···जीवा० पा० ३४८

उस समय 'चित्ररस' नामक वृक्ष विविध प्रकार के फलों से युक्त थे। जिस व्यक्ति को जो फल रुचिकर लगता, उस फल से वह अपनी भूख शान्त करता था। वे वृक्ष कोई विशिष्ट प्रकार की भोजन सामग्री नहीं देते थे, लेकिन चक्रवर्ती[1] राजा सुगन्धित श्रेष्ठ कलमा सालि चावलों से खीर बनवाता है, विशिष्ट पदार्थों से मोदक बनवाता है, उनको खाकर हर व्यक्ति तृप्ति का अनुभव करता है। उसी प्रकार १८ प्रकार के विशिष्ट भोजन गुणों से युक्त 'चित्ररस' वृक्षों के फल अत्यन्त आनन्दकारक होते थे।

आभूषण पहनने की पद्धति भी अति प्राचीन है। यद्यपि आज की भाँति उस समय स्वर्णकार नहीं थे। सोने और चाँदी के आभूषण भी नहीं बनते थे, लेकिन यौगलिक युग के मनुष्य वृक्षों के फूल-पत्तों के आभूषण काम में लेते थे। उन्हीं के अनुकरणस्वरूप आज भी सौराष्ट्र आदि में फूलों के गजरे सीसफूल आदि व्यवहार में लिये जाते हैं।

अभिज्ञानशकुन्तल में लिखा है "आभरणोचितं[2] रूपं आश्रमसुलभैः प्रसाधनैर्विप्रकार्यते" यहाँ आश्रम सुलभ का मतलब वृक्ष निष्पन्न आचरणों से हैं।

ऋषि कण्व ने अपने शिष्यों को आदेश दिया, शकुन्तला के लिए आभूषण लाओ। जब वे सुन्दर आभूषण लेकर उपस्थित हुए तो गोतमी ने पूछा—आभूषण कहाँ मिले ? इसके उत्तर में उन्होंने कहा—किसी[3] वृक्ष ने मांगलिक रेशमी साड़ी दी, किसी ने पैरों में लगाने के लिए लाक्षारस दिया और अन्य कई वृक्षों ने नवीन किसलयरूपी कोमल हाथों से यह आभूषण दिये। इससे यह स्पष्ट होता है कि वृक्षों के आभूषण भी काम में लिये जाते थे!

यौगलिक युग में भी मण्यंग[4] नामक वृक्ष समूह हार, अर्धहार, मुकुट, कुंडल, सूत्र, एकावलि, चूलामणि, तिलक, कनकावलि, हस्तमालक, केयूर, वलय, अंगूठी, मेखला, घण्टिका, नुपूर, तथा कंचन मणि, रत्नों से युक्त विशेष प्रकार के आभूषण फलों के रूप में देते थे।

आज जिस ढंग से सामाजिकता पनपी है। प्राग् ऐतिहासिक युग में इसका महत्व नहीं था। परिवार और समाज की किसी को चिन्ता नहीं थी और न सामाजिक सीमाएं थीं। फिर भी मनुष्य अकेले नहीं रहते थे। युगल

१—जहा से सुगन्ध वर कलम सालि तन्दुल···जीवा पा० ३४८

२—अभिज्ञान शाकुन्तल अंक ४ पृ० ८६

३—वही अंक ४ पृ० ९० श्लोक ५

४—जहा से हारद्धहार मुउड······जीवा० पा० ३४९

साथ में पैदा होते और जीवन भर एक साथ रहते थे। लेकिन उनके पास कोई निजी मकान या कुटिया नहीं थी; क्योंकि वे मकान बनाना जानते ही नहीं थे। आज तो पक्षियों को भी अपने लिए मकान तैयार करने पड़ते हैं, लेकिन उस समय के मनुष्य भी इन कार्यों से निरपेक्ष थे। फिर भी वे आज की तरह अट्टालिका[२], गोपुर, प्रसाद, एकसाल, द्विशाल, चतुःशाल, गर्भगृह, मोहनगृह, वलभीगृह, आपण, निर्यूह, अयवरक, चन्द्रशाला आदि विविध प्रकार के मकानों में रहते थे। उनमें ऊपर चढ़ने उतरने के लिए सीढियाँ होती थीं, प्रवेश करने और निकलने के द्वार थे। परन्तु वे मकान पत्थर के नहीं थे, वृक्ष ही सहज रूप से इन आकारों में परिणत थे। आज तो शिल्प-कला भिन्न-भिन्न रूपों में विकास पा रही है। सम्भवतः यह तत्कालीन "गेहाकार" वृक्षों का ही अनुकरणमात्र है।

लज्जा मनुष्य का सहज धर्म है, इसकी रक्षा के लिए वस्त्र परिधान की परम्परा चली। योग इतिहासकारों ने लिखा है कि आदिवासी मनुष्य वस्त्र नहीं पहनते थे, लेकिन ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास हुआ, पहनना, ओढ़ना भी आवश्यक समझा गया। परन्तु वे लोग वस्त्र बनाने में दक्ष नहीं थे। न तो उस समय खेती की जाती थी और न कल-कारखाने ही थे, जिनसे वस्त्रों का निर्माण हो सके। अतः तत्कालीन मनुष्य वृक्षों की छाल के वस्त्र पहनते थे। जैन सिद्धान्तों में कल्प-वृक्षों द्वारा वस्त्र मिलने की जो बात है वह इस तथ्य से भी पुष्ट होती है। सम्भव है उस समय वृक्षों के पत्ते और छाल इस तरह के होते होंगे जो पहने ओढ़ने के काम में आ सकें।

उस समय आजिनक,[३] क्षौम, तनुल, दुकूल, कौसेयक, चीनांकुरा, श्लक्ष्ण, कल्याणक आदि वस्त्र विशेष रक्तपीत और श्वेत आदि वर्णों से चित्रित वस्त्र मृगलोम वस्त्र, रल्लक, वस्त्र आदि विविध प्रकार के वस्त्रों से युक्त "अनग्नक" नामक वृक्ष थे। "यैः जना नग्नाः न भवन्तीति अनग्नकाः" इस व्युत्पत्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि वृक्षों के वस्त्र (छाल) पहनने के काम में आते थे। कई लोगों की मान्यता है कि पहले वस्त्र पहनने की पद्धति नहीं थी, कालान्तर में शीत निवारण के लिए इनका प्रयोग होने लगा और आज वे सभ्यता के के प्रतीक बन गये हैं।

कल्पवृक्ष का जहाँ यह अर्थ किया जाता है कि वे ईप्सित फल देनेवाले

२—जहा से पागार हालय चरियदार गोपुर .... जीवा० पा० ३४६

३—जहा से अणेगाइग खोय तणुय......जीवा० पा० ३५०

थे, वहाँ यह भी संभव है कि उस समय के मनुष्यों का जीवन स्वयं ही इतना सीधा-सादा और और अल्प आवश्यकताओं वाला था कि उसका यापन उन उन वृक्षों के फलों से सहज रूप में ही हो जाता था। अथवा यह भी संभव है उन्हें उन वृक्षों के द्वारा जो मिलता था, वे उससे अपनी आवश्यकता के अनुसार वैसे उपकरण तैयार कर लेते थे।

आज भी अजमेर के पास एक ऐसा वृक्ष है जो इच्छित वस्तुएं फल रूप में देता है, उसको कल्पवृक्ष कहा गया है। दक्षिण में भी ऐसे वृक्ष हैं जो गौ की तरह दूध देते हैं। उन वृक्षों के नीचे टीन के डिब्बे रख दिये जाते हैं। उस दूध के पाउडर से मोटर के टायर, टेलीफोन तथा रेडियो आदि के बाक्स बनते है।

कई वृक्ष ऐसे होते हैं जिनसे मनुष्य प्रभावित हो जाते हैं। प्राचीन काल में ऋषि, मुनि प्रायः जंगलों में रहते थे ; क्योंकि जंगलों में विशेष प्रकार के वृक्ष होते थे, उनमें कई वृक्ष ऐसे भी थे जिनके फल आदि का सेवन करने से वासना पर सहज रूपसे विजय हो जाती। वासना-विजय सन्यास का प्रथम लक्षण है। संभव है वे मुनि उन-उन प्रयोगों द्वारा अपनी साधना में विकास करते थे।

अमेरिका[1] में भी ऐसे वृक्ष हैं जिन्हें 'मिल्क ट्री' और 'ब्रेड ट्री' और लाइट ट्री आदि नामों से पुकारा जाता है। इन वृक्षों के फल, दूध, रोटी और प्रकाश के काम में आते हैं। अतः इस तथ्य को निस्सन्देह स्वीकार करना होगा कि प्राचीन काल में भी ऐसे वृक्ष थे जो मनुष्यकी हर आवश्यकताओं के पूरक थे।

इस्लाम[2] धर्म में ऐसे वृक्षों को दरख्त या तोबे कहाजाता है और क्रिश्चियन धर्म में स्वर्गीय वृक्ष की अभिधा दी गई है।

वृक्षों के फल खाने-पीने के काम में और उनके पत्र छाल आदि पहनने के काम में आते हैं, कई वृक्ष कांटेदार होते हैं। उनका भी बहुत बड़ा उपयोग है। साप्ताहिक हिन्दुस्तान में इस प्रकार का उलेख करते हुए लिखा है कि एक किस्म के वृक्ष ऐसे हैं जिनकी शाखाएं छूरी या बर्छी जैसी हैं। मनमोहक होने के कारण लोग इनके पास जाते हैं, तब शाखाएं नीचे झुककर उनसे लिपट जाती हैं और खून चूसकर शरीर में सर्प जैसा विष फैला देती हैं ; फलतः व्यक्ति मर जाता है। अफ्रीका में लोग अपराधी को दण्ड देने के लिए इन वृक्ष के नीचे छोड़ देते हैं।

१—भरतमुक्ति एक अध्ययन पृ० ४
२—वही पृ० ४

'पेरुदेश' में एक प्रकार के वृक्ष हैं, जिनसे पानी झरता रहता है। ये वायु मण्डल की नमी को खींचकर जमा रखते हैं। गर्मी में इन वृक्षों से स्वतः पानी झरने लगता है। इसने यह जाना जाता है कि वृक्षों में एक विचित्र प्रकार की शक्ति होती है जो सहज रूप से विभिन्न प्रकारों में परिणत होकर उपयोग में आती है।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'कल्पवृक्ष' कोई काल्पनिक तत्व नहीं है। इसका इतिहास जनश्रुति मात्र नहीं, लेकिन वास्तविक है। आज भी किसी न किसी रूप में इसका अस्तित्व सिद्ध करने वाले प्रमाण मिलते हैं। लेकिन ऐसे तत्त्व काल की गहरी परतों में ओझिल हो गये हैं। आज फिर से अन्वेषकों का ध्यान इस ओर गया है, संभव है भविष्य उन परतों को उखेड़ कर सही तत्त्व को प्रकाश में ला सके, फिर भी इसमें तो संदेह को अवकाश नहीं कि यौगलिक मनुष्य वृक्षों के आधार पर ही जीवन यापन करते थे।

———

उपनिषदों पर श्रमण संस्कृति का प्रभाव

[मुनिश्री नथमल]

भारतीय साहित्य की दो धाराएं मानी जाती हैं—वैदिक और श्रामणिक। जैनों और बौद्धों का जो साहित्य है उसे श्रामणिक (श्रमण परम्परा का) और शेष सारे साहित्य को वैदिक कहा जाता है। पर यह स्थापना निर्दोष नहीं है। यहाँ श्रमणों के अनेक सम्प्रदाय रहे हैं—जैन, बौद्ध, आजीवक, गैरिक, तापस आदि।[1] मूलाचार के अनुसार रक्तपट, चरक, तापस, परिव्राजक, शैव, कापालिक आदि भी अवैदिक सम्प्रदाय थे।[2] सांख्य दर्शन वैदिक धारा का प्रबल विरोधी था। उसने कठ, श्वेताश्वतर, प्रश्न, मैत्रायणी जैसे प्राचीन उपनिषदों को बहुत प्रभावित किया था।

समय के प्रवाह में आजीवकों का आज अस्तित्व नहीं रहा पर उनका साहित्य सर्वथा लुप्त नहीं हुआ। उसने वैदिक और अवैदिक सभी साहित्य धाराओं में स्थान पाया है। गैरिक, तापस आदि वैदिक परम्परा में विलीन हो गए हैं पर उनका साहित्य उनकी धारा में पूर्ण विलीन नहीं हुआ। उनका अपना स्वर आज भी मुखरित है।

स्थानाङ्ग से पता चलता है कि महावीर के युग में साहित्य की तीन धाराएं प्रवाहित हो रही थीं—लौकिक, वैदिक और सामयिक।[3] राजनीति, अर्थनीति और कामनीति सम्बन्धी ग्रन्थ लौकिक साहित्य की कोटि में आते थे। ऋग्, यजु और साम ये तीन वेद वैदिक साहित्य के मुख्य ग्रन्थ थे। ज्ञान, दर्शन और चारित्र के निरूपक ग्रन्थ सामयिक या श्रामणिक साहित्य की धारा के थे।

इस लेख में मेरा प्रतिपाद्य विषय यह है कि उपनिषद् पूर्णरूपेण वैदिक धारा के ग्रन्थ नहीं हैं। आज हम जिसे वैदिक साहित्य मानते हैं वह सारा वैदिक नहीं है किन्तु लौकिक, वैदिक और श्रामणिक तीनों का संगम है। वह अनेक धाराओं का संगम है, इसीलिए उसमें अनेक विरोधी धाराएं परिदृष्ट हो रही हैं।

१—दशवैकालिक निर्युक्ति, हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र ६८

२—मूलाचार ५। ६२

३—स्थानाङ्ग ३।३।१८५

दूसरी धाराओं के संरक्षक जैसे-जैसे मिटते गए, वैसे-वैसे उनका साहित्य अपने संरक्षकों के अभाव में वैदिक धारा के प्रबल प्रवाह में सम्मिलित होता गया।

साहित्य की कसौटी

वैदिक साहित्य का मुख्य भाग यज्ञ था। उसका विकास उत्तरोत्तर होता रहा। समूचा यजुर्वेद उसीसे अनुप्राणित है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ की परंपरा और आगे बढ़ गई थी।

औपनिषदिक धारा, जिसे श्रमणों की धारा कहा जा सकता है, यज्ञों का विरोध करती थी। उसका प्रवाह अध्यात्म विद्या की ओर था। हम कौन हैं? कहाँ से आए हैं? क्यों आए हैं? कहाँ जाएंगे? आदि-आदि प्रश्नों पर विचार किया जाता था।[1] अध्यात्म विद्या श्रमण साहित्य की कसौटी थी।

त्रिवर्ग-विद्या (अर्थ, धर्म और काम) लौकिक साहित्य की कसौटी थी। इन तीनों कसौटियों के आधार पर हम जान सकते हैं कि अमुक साहित्य किस धारा का है या किस धारा में प्रवाहित है।

उपनिषदों की धारा

आचार्य शंकर ने जिन दश उपनिषदों पर भाष्य लिखा, वे प्राचीन माने जाते हैं। उनके नाम हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डुक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक। डा० बेलबेलकर और रानाडे के अनुसार प्राचीन उपनिषदों में मुख्य ये हैं—छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कठ, ईश, ऐतरेय, तैत्तिरीय, मुण्डक, कौषीतकि, केन और प्रश्न[2]। उनमें से कुछ उपनिषदों में मुख्य वेद एवं वैदिक धारा के प्रति जो विरोध है उसे देख सहज ही प्रश्न होता है कि वेदों और उसकी धारा का विरोध करने वाले उपनिषद् क्या वैदिक साहित्य की कोटि में आ सकते हैं? मुण्डकोपनिषद् में वेदों को अपरा विद्या कहा गया है। परा विद्या, जिससे ब्रह्म की प्राप्ति होती है, उससे भिन्न है[3]।

परा विद्या अध्यात्म या आत्म विद्या है।[4] ॐकार के द्वारा उस आत्मा का ध्यान किया जाता था[5]। प्रश्नोपनिषद् में भी इस तथ्य की विशेष

१—केनोपनिषद् १

२—हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलॉसफी भाग २ पृ० ८७—९०

३—मण्डूकोपनिषद् १।१।५

४—मुण्डकोपनिषद् २।५

५—मुण्डकोपनिषद् २।६

अभिव्यक्ति हुई है। वहाँ बताया गया है कि ऋग्वेद के द्वारा साधक इस लोक को, यजुर्वेद के द्वारा अन्तरिक्ष को और सामवेद के द्वारा तृतीय ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। इनसे परब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती।

समग्र ॐकार से ध्यान में उस लोक की प्राप्ति होती है, जो शांत, अजर, अमर, अभय और पर है अर्थात् उससे परब्रह्म की प्राप्ति होती है।[१] नारद चारों वेदों और अन्य अनेक विद्याओं का पारगामी था। उसने सनत्कुमार से यही कहा—"भगवन्! मैं मंत्रवित् हूँ, आत्मवित् नहीं हूँ।"[२] इससे साधक के मन में वेदों के प्रति कोई उत्कर्ष की भावना उत्पन्न नहीं होती। यह भावना महाभारत और अन्य पुराणों में से क्रान्त हुई है। उनमें ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ आत्म विद्या या मोक्ष के लिए वेदों की असारता प्रगट की गई है। श्वेताश्वतर के भाष्य में आचार्य शंकर ने ऐसा एक प्रसंग उद्धृत किया है। वहाँ भृगु अपने पिता से कहता है—[३]

"त्रयीधर्ममधर्मार्थं, किंपाकफलसन्निभम्।
नास्ति तात सुखं किञ्चिदत्र दुःखशताकुले।
तस्मान्मोक्षाय यतता, कथं सेव्या मया त्रयी॥"

त्रयी धर्म अधर्म का ही हेतु है। यह किंपाक (सेमर) फल के समान है। हे तात! सैकड़ों दुःखो से पूर्ण इस कर्मकाण्ड में कुछ भी सुख नहीं है। अतः मोक्ष के द्वारा प्रयत्न करने वाला मैं त्रयी धर्म का किस प्रकार सेवन कर सकता हूँ?

गीता में भी यही कहा गया है कि त्रयी धर्म (वैदिक कर्म) में लगे रहने वाले सकाम पुरुष संसार में आवागमन करते रहते हैं।[४] यज्ञों को श्रेय मानने वाले मूढ़ होते हैं।[५] आत्म विद्या के लिए वेदों की असारता और यज्ञों के विरोध में आत्मयज्ञ की स्थापना किसी अवैदिक धारा की ओर संकेत करती है।[६]

१—प्रश्नोपनिषद ५।७

२—छन्दोग्योपनिषद ७।१।२-३

३—श्वेताश्वतर पृष्ठ २३ : गीता प्रेस गोरखपुर, तृतीय संस्करण।

४—भगवद्गीता ९।२१

५—मण्डूकोपनिषद् १।२।७,१०

६—छान्दोग्योपनिषद् ८।५।१, बृहदारण्यक २।२।९-१०

इससे वैदिक ऋषियों की उदार और सर्वग्राही भावना के प्रति सहज ही आदर भाव उत्पन्न होता है कि उन्होंने विरोधी धाराओं को भी किस प्रकार अपनी धारा में समन्वित कर लिया।

शब्द साम्य

उपनिषदों में श्रमण धारा के दर्शन का दूसरा हेतु शब्द-साम्य है। उनमें ऐसे अनेक शब्द हैं, जिनका उपयोग श्रमण-साहित्य में अधिक हुआ है। छान्दोग्य में 'कषाय' शब्द राग-द्वेष के अर्थ में व्यवहृत है।[1] जैन आगम साहित्य में यह इसी अर्थ में हजारों बार प्रयुक्त है जब कि वैदिक साहित्य में इस अर्थ में उसका प्रयोग सहज लभ्य नहीं है। मण्डूक उपनिषद् का तायी[2] शब्द भी वैसा ही है। वह वैदिक साहित्य में प्रायः व्यवहृत नहीं है। जैन और बौद्ध साहित्य में उसका प्रचुर व्यवहार हुआ है।

विषय साम्य

विषय वर्णन की दृष्टि से भी उपनिषदों के कुछ सिद्धान्तों का श्रमणों की सिद्धान्त धारा से बहुत गहरा सम्बन्ध है।

मण्डूक, छान्दोग्य आदि उपनिषदों में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ श्रमण विचार धारा का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है। जर्मन विद्वान् हर्टल ने यह प्रमाणित किया है कि मण्डूकोपनिषद में लगभग जैन सिद्धान्त जैसा वर्णन मिलता है और जैन पारिभाषिक शब्द भी वहाँ व्यवहृत हुए हैं[3]।

उस प्राचीन काल में वेदों और उपनिषदों के अतिरिक्त ब्रह्म विद्या विषयक साहित्य 'श्लोक' नाम से प्रसिद्ध था।[4] द्वादशाङ्गी के विवरण में सर्वत्र यह मिलता है कि प्रत्येक अङ्ग में संख्येक श्लोक थे।[5] वैदिक, जैन और बौद्ध

१—छान्दोग्य ७।२६।२—
मृदित कषायाय—शंकराचार्य ने इसके भाष्य में लिखा है—मृदित कषायाय वार्क्षादिरिव कषायो रागद्वेषादिदोषः सत्वस्य रञ्जना रूपत्वात् ....।

२—मण्डूकोपनिषद् ६६।

३—इण्डो-इरेनियन मूल ग्रन्थ और संशोधन भाग ३

४—इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली भाग ३ पृ० ३०७—३१५ (उमेशचन्द्र भट्टाचार्य का लेख)

५—समवायाङ्ग सूत्र १३६-१४६, नंदी सूत्र ४५-५५

साहित्य से भिन्न पूर्ववर्ती श्रमण साहित्य भी विद्यमान था।[1] यह असम्भव नहीं कि उपनिषदों का ब्रह्म-विद्या सम्बन्धी विवरण व श्लोक साहित्य किसी पूर्ववर्ती ब्रह्म-विद् श्रमण परम्परा का आभारी हो।

निर्ग्रन्थ परम्परा में उद्दालक, नारद, वरुण, अङ्ग ऋषि (या अङ्गिरस) याज्ञवल्क्य आदि प्रत्येक बुद्ध हुए हैं। उपनिषदों में भी इनका उल्लेख है।[2]

कहीं-कहीं तो विषय साम्य भी है। "जब तक लोकैषणा है तब तक वित्तैषणा है। जब तक वित्तैषणा है तब तक लोकैषणा है। साधक लोकैषणा और वित्तैषणा का त्याग कर गोपथ से जाए, महापथ से न जाए—यह अर्हत् याज्ञवल्क्य ऋषि ने कहा।"[3]

बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य कुषीतक के पुत्र कहोल से कहते हैं—"यह वही आत्मा है, जिसे जान लेने पर ब्रह्म-ज्ञानी पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से मुंह फेर कर ऊपर उठ जाते हैं। भिक्षा से निर्वाह कर संतुष्ट रहते हैं।··· जो पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है। जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है।"[4]

इसिभासियाइं के याज्ञवल्क्य भी एषणा-त्याग के बाद बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य की भांति भिक्षा से सन्तुष्ट रहने की बात कहते हैं।[5] इस प्रकार दोनों की कथन-शैली में विचित्र समानता है। वैदिक विचारधारा में पुत्रैषणा के त्याग का स्थान नहीं है। उसके अनुसार सन्तानोत्पत्ति आवश्यक कर्म है। इसलिए सहज ही यह प्रश्न होता है कि बृहदारण्यक में एषणा-त्याग का विचार कहाँ से आया? इस आधार पर यह कल्पना होती है कि उपनिषद् का कुछ भाग श्रमणों की रचना है अथवा श्रमण-संस्कृति से प्रभावित होने वाले ऋषियों

१—The Jainas in the history of Indian literature by Dr. Maurice Winternitz, Ph. D. Page 5—"Even before there was such a thing as Buddhist or Jaina literature, there must have been Shramana literature besides the Brahmanic literature."

२—उद्दालक छान्दोग्य ५, नारद छान्दोग्य ७, अङ्गिरस मुण्डक १।२ वरुण तैत्तिरीय ३।१, याज्ञवल्क्य बृहदारण्यक ३।४।१

३—इसिभासियाइं १२

४—बृहदारण्यक ३।५।१

५—इसिभासियाइं १२।१-२

की रचना है, अथवा श्रमणों और वैदिक ऋषियों का मिला जुला प्रयत्न। कुछ और अतीत में जाएं तो कहा जा सकता है कि यह क्रम आरम्भिक काल तथा उससे पूर्व वेद काल में ही आरम्भ हो गया था। अरुण, केतु और वातरशन[1] ये तीन प्रकार के ऋषि थे। उनमें वातरशन ऋषि श्रमण थे, भगवान् ऋषभ के शिष्य थे।[2] वे ऊर्ध्व मन्थी (ऊर्ध्वरेता) हो गए। उनके पास कुछ दूसरे ऋषि जिज्ञासा लिए हुए आए। उन्हें पहले ही मालूम हो गया था, अतः वे उनके आने से पहले ही अन्तर्हित हो गए। योग सामर्थ्य से शरीर को सूक्ष्म बना 'कूष्माण्ड' नामक मंत्र वाक्य में प्रविष्ट हो गए। आने वाले ऋषि गण ने चित्त को शान्त किया और ध्यान से देखा तो उन्हें वे वातरशन श्रमण प्रत्यक्ष दीखे। वे वातरशन श्रमण से बोले—"आप क्यों अन्तर्हित हुए?" तब उन्होंने कहा—"हम आपको नमस्कार करते हैं। आप हमारे स्थान पर आए हैं, हम आपकी क्या परिचर्या करें।" तब आने वाले ऋषिगण ने कहा—"वातरशन ऋषि! आप हमें वैसा पवित्र—शुद्धि का स्थान बतलाएं, जिससे हम पाप रहित हो जाएं।" उन्होंने आने वाले ऋषिगण को शुद्धि का साधन बतलाया और वह ऋषिगण पाप रहित हो गया।[3]

इस प्रकार से यह प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषि श्रमणों से मिलते थे और उनसे आत्म धर्म का बोध लेते थे।

एम० विन्टरनिट्ज ने अर्वाचीन उपनिषदों को अवैदिक माना है।[4] किंतु उक्त तथ्यों से यह प्रमाणित होता है कि प्राचीन उपनिषद् भी पूर्णतः वैदिक नहीं हैं।

१—वैदिक कोश ४७३—यह शब्द ऋग्वेद १०, १३६-२ में मुनियों के लिए और तैत्तिरीय आरण्यक १.२३.२;१.२४४; २.७.१. में ऋषियों के लिए आया है। नग्न साधु अभिप्रेत होते हैं, जिनका उल्लेख परवर्ती साहित्य में बहुधा मिलता है।

२—श्रीमद् भागवत

३—तैत्तिरीयारण्यक प्रपाठक २ अनुवाक् ७ पृष्ठ १३७-१३६

४—प्राचीन भारतीय साहित्य, पृष्ठ १६०-१६१

व्युत्सर्ग—जैन साधना का केन्द्र बिन्दु

(इन्द्रचन्द्र शास्त्री एम० ए०, पी-एच० डी०)

भारत में अनेक साधना-पद्धतियों का विकास हुआ। प्रत्येक ने हमारी समस्याओं के मूल में किसी कारण का पता लगाया और उसे दूर करने के लिये लक्ष्य-विशेष निश्चित किया। वही लक्ष्य साधना-पद्धति का केन्द्र-बिन्दु कहा जायगा। बौद्ध धर्म ने विश्व की समस्याओं का मूल 'तृष्णा' को बताया और उस पर विजय प्राप्त करने के लिये शून्यता के अभ्यास पर बल दिया। उसका कथन है कि जब समस्त वस्तुएँ शून्य अर्थात् निःसार हैं तो उनके प्रति तृष्णा कैसी? भक्तिवादी परम्पराओं ने समस्याओं का मूल अहंकार को समझा और उसे मिटाने के लिये अपने आपको भगवान् के चरणों में अर्पित करने का सन्देश दिया। यह अर्पण ही भक्ति-साधना का केन्द्र-बिन्दु है। वेदान्त ने समस्याओं का मूल भेद-बुद्धि को माना और उसे दूर करने के लिये अभेद या एकत्व साधना को प्रस्तुत किया। जैन-धर्म समस्याओं का मूल ममता या मोह को मानता है और उस पर विजय प्राप्त करने के लिये व्युत्सर्ग अर्थात् त्याग के अभ्यास पर बल देता है।

जैन-धर्म में दैनन्दिन अभ्यास के रूप में अनेक प्रकार के त्यागों का विधान है। किसी में सूर्योदय के पश्चात् दो घड़ी के लिये कोई वस्तु मुँह में न डालने का निश्चय किया जाता है। किसी में एक पहर और किसी में दो पहर के लिये। इसी प्रकार विशेष दिनों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के त्याग किये जाते हैं। अन्न-जल के अतिरिक्त बोलने, घूमने-फिरने, संग्रह करने आदि की मर्यादाएँ भी की जाती हैं। भोजन में द्रव्यों का परिमाण किया जाता है अर्थात् यह निश्चय किया जाता है कि आज इतनी वस्तुओं से अधिक नहीं खाऊँगा।

ये सब अभ्यास जीवन में अनुशासन लाते हैं। इनके लिये किये जाने वाले निश्चयों के लिये प्राचीन समय से शास्त्रीय पाठ चले आ रहे हैं। उनके अंत में वोसिरामि या वोसिरेहि कहा जाता है। इसका अर्थ है मैं स्वयं छोड़ता हूं। जब यह प्रतिज्ञा गुरु या किसी आदरणीय व्यक्ति द्वारा दिलाई जाती है तो वह वोसिरेहि कहता है। यह मध्यम पुरुष का प्रयोग है, जिसका अर्थ है

"छोड़ दो"। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्युत्सर्ग जैन साधना का व्यापक तत्व है।

जैन धर्म साधना को दो रूपों में प्रस्तुत करता है। पहला रूप संयम या संवर है। इसका अर्थ है जीवन में अनुशासन, जिससे नये दोष न आने पायें। दूसरा रूप निर्जरा है, इसका अर्थ है संचित मैल तथा दुर्बलताओं को दूर करने का अभ्यास। साधक के लिये दोनों का अभ्यास आवश्यक माना गया है। एक ओर उसे अपना जीवन को इतना संयत और अनुशासित बनाना चाहिये कि कोई दुर्बलता या असावधानी पास न आने पाए। दूसरी ओर ऐसे अभ्यास करते रहना चाहिए जिनसे आत्मा उत्तरोत्तर दृढ़ तथा शुद्ध होती जाए।

व्युत्सर्ग के भी दो रूप हैं। प्रथम रूप में उसका अभ्यास बाह्य प्रवृत्तियों के त्याग के रूप में किया जाता है। क्रोध, अहंकार, लोभ आदि मानसिक विकारों, मन, वचन और शरीर की अशुभ प्रवृत्तियों, आलस्य, व्यर्थ की गप्पों तथा शारीरिक चेष्टाओं के रूप में अनुशासनहीनता का परित्याग इसमें आता है। व्युत्सर्ग का दूसरा रूप वे अभ्यास हैं जिनमें कुछ समय के लिये शरीर से भी नाता तोड़ दिया जाता है उन्हें कायोत्सर्ग कहा जाता है। जैन साधना में इसे सर्वश्रेष्ठ तप माना गया है।

शास्त्रों में चार बातों का व्युत्सर्ग बताया गया है। सर्वप्रथम शरीर-व्युत्सर्ग है, इसका अर्थ है कुछ समय के लिये अपने शरीर से नाता तोड़ना। इसकी व्याख्या आगे की जायगी। दूसरा गण-व्युत्सर्ग है इसका अर्थ है गण अर्थात् साथियों को छोड़ कर चले जाना।

बालक जब तक चलना नहीं सीखता उसे माता-पिता की सहायता आवश्यक होती है; वह उनकी अंगुली पकड़कर चलना सीखता है किन्तु चलने की सामर्थ्य होने पर भी यदि वह उनके सहारे रहता है तो उसका विकास रुक जाता है वह ज्यों ज्यों बड़ा होता है, प्रत्येक बात में आत्म-निर्भर होता चला जाता है। उसी प्रकार नव दीक्षित शिष्य के लिये गुरु तथा अन्य साथियों का सहारा आवश्यक होता है किन्तु धीरे-धीरे वह शक्ति प्राप्त करता है और उस सहारे को अनावश्यक ही नहीं, बन्धन मानने लगता है। गुरु तथा साथी उस पर इस प्रकार छाये रहते हैं कि स्वतन्त्र अभ्यास के लिये उसे अवसर ही नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में वह गण को छोड़ कर चला जाता है और अकेला विचरण करता है। इस अवस्था को गण-व्युत्सर्ग कहा जाता है।

तीसरा उपधि-व्युत्सर्ग है। उपधि का अर्थ है वस्त्र, पात्र, शैय्या आदि वे सब वस्तुएँ जो साधारण जीवन के लिये आवश्यक हैं। किन्तु साधक उनसे भी

मोह या ममता को त्याग देना है। अतः साधक के लिये उनका व्युत्सर्ग आवश्यक है। संयम के उपकरण के रूप में साधक होने पर भी ममत्व होने पर वे ही उसके बाधक बन जाते हैं, अतः उनसे भी ममत्व हटाने का अभ्यास करते रहना चाहिये।

चौथा भक्तपान-व्युत्सर्ग है, इसका अर्थ है अनशन। यह दो प्रकार का है :—(१) इत्वरिक—कुछ समय के लिये और (२) यावत् कथिक अर्थात् सारे जीवन के लिये। प्रथम अर्थात् इत्वरिक का अभ्यास सदा करते रहना चाहिये और जब शरीर शिथिल हो जाय तो सदा के लिये भोजन छोड़ देना चाहिये। इसे यावत् कथिक कहा जाता है। जैन साधकों के ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिन्होंने स्वेच्छापूर्वक भोजन पानी छोड़ दिया और शान्तिपूर्वक प्राण दे दिये।

उपर्युक्त चार भेद बाह्य व्युत्सर्ग के हैं। उनमें साधक शरीर, सम्पत्ति, गण तथा भोजन के रूप में बाह्य वस्तुओं का परित्याग करता है। इनके अतिरिक्त अभ्यंतर व्युत्सर्ग के तीन भेद हैं :—

१. कषाय-व्युत्सर्ग—कषाय का अर्थ है आत्मा को कलुषित करने वाले मनो विकार। वे चार हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ। इनका परित्याग करना अर्थात् मन पर उनका प्रभाव न होने देना कषाय-व्युत्सर्ग है।

१ संसार-व्युत्सर्ग—जैन धर्म में मोह या ममता को संसार का कारण माना गया है। उसके दो मुख्य भेद हैं—राग और द्वेष। उन्हें छोड़ना, प्राणी मात्र के प्रति समता रखना व किसी के प्रति आसक्ति का न होना संसार-व्युत्सर्ग है।

२. कर्म-व्युत्सर्ग—कर्म का अर्थ है आत्मा की वह मलिनता जो मन, वचन, और शरीर की विविध प्रवृत्तियों से उत्पन्न होती है उसे तपस्या द्वारा दूर किया जाता है।

जैन साधना के दो भेद हैं—संवर और निर्जरा। संवर का अर्थ है आत्मा को मलिन करने वाली समस्त प्रवृत्तियों को रोकना। निर्जरा का अर्थ है संचित मालिन्य को हटाना। प्रस्तुत तीन भेदों में प्रथम दो का सम्बन्ध संवर के साथ है और तृतीय का निर्जरा के साथ। प्रस्तुत लेख का मुख्य प्रतिपाद्य काय-व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग है।

शरीर-व्युत्सर्ग के दो रूप हैं। पहला रूप शरीर से राग या ममत्व छोड़ने का अभ्यास है। इसके लिये साधक शरीर के अभ्यंतर स्वरूप का चिन्तन करता है। सोचता है—मैं जिस शरीर के प्रति आसक्ति दिखा रहा हूँ वह कितना अशुचि है! मूत्र, पुरीष, वसा, अस्थि आदि दुर्गन्धित तथा अपवित्र वस्तुओं से

भरा है, नश्वर है, रोग तथा अन्य कष्टों से घिरा रहता है, इस प्रकार वह शरीर के प्रति आसक्ति घटाता चला जाता है। उत्तराध्ययन सूत्र में शरीर-व्युत्सर्ग के इसी रूप का वर्णन आया है। हरिभद्रसूरि ने कायोत्सर्ग का अर्थ 'दोषपूर्ण प्रवृत्तियों का त्याग' किया है। इसका दूसरा प्रकार साधना या अभ्यास के रूप में है।

जैन साधु तथा श्रावकों के लिये जो नित्य क्रियाएं बताई गई हैं उनमें इसका महत्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक व्रत को स्वीकार करने तथा समाप्त करने से पहले कायोत्सर्ग किया जाता है। कहीं यह आत्म दोषों का चिन्तन करने के लिये होता है और कहीं तीर्थंकर या वीतराग आत्माओं का चिन्तन करने के लिये। पहला आत्म-शुद्धि के लिये किया जाता है और दूसरा आत्म-बल के विकास के लिये।

पतंजलि ने योग के जो आठ अंग बताये हैं उनमें से प्रथम दो अर्थात् यम और नियम जैन दृष्टि से संवर के अन्तर्गत हैं। शेष ६ निर्जरा में आते हैं। उनमें से प्राणायाम का विवेचन जैन साहित्य में अधिक नहीं मिलता। शेष ५ कायोत्सर्ग में आ जाते हैं। उनमें पहला आसन है, इसका अर्थ है शरीर की हलचल छोड़कर उसे स्थिर करना। इसके पश्चात् प्रत्याहार है जिसका अर्थ है इंद्रियों को अपने-अपने विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी बनाना। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ होगा—मन को बाहर जाने से रोकना। उसके पश्चात् धारणा, ध्यान और समाधि है। जहाँ मन को किसी एक विषय पर स्थिर किया जाता है। ये तीनों उत्तरोत्तर स्थिरता की तीन अवस्थायें हैं। समाधि के दो भेद हैं। संप्रज्ञात समाधि और असंप्रज्ञात समाधि। संप्रज्ञात समाधि में चित्त किसी आलबंन पर स्थिर रहता है अर्थात् उसमें किसी विषय का चिन्तन बना रहता है। असंप्रज्ञात समाधि में वह सर्वथा शून्य हो जाता है। व्युत्सर्ग का भी अन्तिम लक्ष्य यही है। किन्तु अभ्यास के रूप में शरीर को स्थिर करके किसी एक विषय का चिन्तन किया जाता है। अन्त में उसका भी निरोध हो जाता है। इसी को जैन परिभाषा में शुक्ल ध्यान कहा जाता है।

बौद्ध साधना में ध्यान के अनेक रूप बताये गये हैं। उनमें आणापान सत्ती का बहुत अधिक प्रचार है। इसमें साधक सीधा लेटकर समस्त अंगों को ढीला छोड़ देता है। अपना ध्यान सांस पर जमा लेता है किन्तु उसके लिये अपनी ओर से कोई प्रयत्न नहीं करता। उसे अपने स्वाभाविक रूप में चलने देता है। धीरे-धीरे उसका ध्यान भी हटता चला जाता है और मन सर्वथा शून्य हो

जाता है। मानसिक या शारीरिक किसी प्रकार की थकावट हो इस ध्यान से वह दूर हो जाती है और शरीर एवं मन में नई स्फूर्ति आ जाती है।

जैन साधना में कायोत्सर्ग के तीन आवश्यक तत्व माने गये हैं।

१. **स्थान**—इसका अर्थ है कायिक निश्चलता, श्वासोच्छ्वास को छोड़ कर बिना किसी हलचल के एक ही स्थान पर स्थिर रहना। यह खड़े रह कर, बैठ कर या लेट कर तीनों अवस्थाओं में किया जा सकता है। खड़ी अवस्था में साधक सीधा खड़ा हो जाता है और हाथ नीचे की ओर लटके रहते हैं। बैठी अवस्था में पद्मासन या पर्यंकासन से बैठ जाता है और हाथों को एक के ऊपर दूसरी हथेली रख कर बीच में जमा लेता है। जो व्यक्ति अशक्त है वह लेटकर भी कायोत्सर्ग कर सकता है। संल्लेखना अर्थात् यावज्जीवन के लिये किया जाने वाला कायोत्सर्ग लेट कर होता है।

२. **मौन**—मौन का अर्थ है मुख से किसी शब्द का उच्चारण न करना।

३. **ध्यान**—इसका अर्थ है मन को किसी एक ही विषय में स्थिर करना। इसके लिये शास्त्रों में अनेक विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

कायोत्सर्ग के इन तीन तत्वों में मौन सर्वत्र एक सा है। किन्तु शारीरिक स्थिति सर्वत्र एक सी नहीं होती। ऊपर उसके तीन रूप बताये जा चुके हैं। इसी प्रकार मानसिक चिन्तन के भी अनेक स्तर हैं। कहीं स्थूल वस्तु का चिन्तन किया जाता है और कहीं सूक्ष्म का। इन विविधताओं को लेकर कायोत्सर्ग के ६ भेद किये जाते हैं।

१—उत्सृत उत्सृत	शारीरिक स्थिति	खड़े होकर
	मानसिक चिन्तन	धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान
२—उत्सृत	शारीरिक स्थिति	खड़े होकर
	मानसिक चिन्तन	शून्य
३—उत्सृत निषण्ण	शारीरिक स्थिति	खड़े होकर
	मानसिक चिन्तन	आर्त्त-रौद्र ध्यान
४—निषण्ण उत्सृत	शारीरिक स्थिति	बैठ कर
	मानसिक चिन्तन	धर्म-शुक्ल ध्यान
५—निषण्ण	शारीरिक स्थिति	बैठ कर
	मानसिक चिन्तन	चिन्तन शून्य दशा
६—निषण्ण निषण्ण	शारीरिक स्थिति	बैठ कर
	मानसिक चिन्तन	आर्त्त-रौद्र ध्यान

७—निषण्ण उत्सृत	शारीरिक स्थिति	लेट कर
	मानसिक चिन्तन	धर्म शुक्ल ध्यान
८—निषण्ण	शारीरिक स्थिति	लेट कर
	मानसिक चिन्तन	चिन्तन शून्य दशा
९—निषण्ण निषण्ण	शारीरिक स्थिति	लेट कर
	मानसिक चिन्तन	आर्त्त-रौद्र ध्यान

अमितगति ने कायोत्सर्ग के चार भेद बताये हैं। उन्होंने शारीरिक अवस्थायें दो ही मानी हैं। उत्थित अर्थात् खड़े होकर और उपविष्ट अर्थात् बैठ कर। लेटने की अवस्था नहीं बताई। इसी प्रकार मानसिक स्थिति भी दो प्रकार की है। धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान के रूप में उत्थित तथा आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान के रूप में उपविष्ट। अमितगति ने शून्य अवस्था को स्वीकार नहीं किया।

लक्ष्य की दृष्टि से कायोत्सर्ग के दो भेद हैं :—

१. चेष्टाकायोत्सर्ग—यह दोष-विशुद्धि के लिये किया जाता है। जब साधु शौच, भिक्षा आदि के लिये बाहर जाता है तो लौट कर इसे करता है। इसी प्रकार निद्रा त्याग के पश्चात् भी इसे किया जाता है। इसका लक्ष्य है विभिन्न प्रवृत्तियाँ करते समय अनजान में लगे दोषों से विशुद्धि।

२. अभिभवकायोत्सर्ग — यह दो अवस्थाओं में किया जाता है। पहली अवस्था दीर्घकालीन आत्म-चिन्तन की है। साधक आत्म-शुद्धि के लिये दीर्घ काल तक मन को एकाग्र करने का अभ्यास करता है। अनेक श्रमण इसे यावज्जीवन के लिये भी अंगीकार किया करते थे। उसका दूसरा रूप है किसी प्रकार का उपसर्ग या संकट आने पर कायोत्सर्ग करना। जैन साहित्य में विशाल संख्या में ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि राज-विप्लव, अग्निकाण्ड, दुर्भिक्ष, बाढ़ आदि के आने पर श्रमणों ने कायोत्सर्ग द्वारा प्राण दे दिये। असाध्य रोग की अवस्था में भी इसे करने की प्रथा रही है।

कायोत्सर्ग का कालमान

चेष्टा-कायोत्सर्ग का काल उच्छ्वास पर आधारित है। विभिन्न प्रयोजनों से वह आठ, पच्चीस, सत्ताईस, तीन सौ, पाँच सौ और १००८ उच्छ्वास तक किया जाता है।

अभिभव कायोत्सर्ग का काल जघन्यतः अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः एक वर्ष का है। बाहुबलि ने एक वर्ष का कायोत्सर्ग किया था।

प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग

जैन साधना में प्रतिक्रमण का प्रमुख स्थान है। इसका अर्थ है जो आत्मा बाह्य विषयों की ओर झुकी हुई है उसे पुनः अन्तर्मुखी बनाना। प्रति का अर्थ है वापिस और क्रमण का अर्थ है जाना। साधु प्रतिदिन रात्रि के अन्त में रायसी और दिन के अन्त में देवसिक प्रतिक्रमण करता है उसमें जाने-अनजाने लगे हुये दोषों के लिये चिन्तन करता है। प्रतिक्रमण में कायोत्सर्ग का महत्त्व-पूर्ण स्थान है। इसमें दो प्रकार के कायोत्सर्ग किये जाते हैं। पहले में २४ तीर्थंकरों का चिन्तन किया जाता है और दूसरे में अंगीकृत व्रतों और संभा-वित अतिचारों का। प्रतिक्रमण के पाँच भेद हैं :—

१—देवसिक—दिन के अन्त में किया जाने वाला।

२—रायसी—रात्रि के अन्त में किया जाने वाला।

३—पाक्षिक—१५ दिनों के अन्त में किया जाने वाला।

४—चातुर्मासिक - चार महीनों के अन्त में किया जाने वाला।

५—सांवत्सरिक—वर्ष के अन्त में किया जाने वाला।

इस आधार पर कायोत्सर्ग के भी पाँच भेद किये जाते हैं।

साधु तथा श्रावक दोनों के लिये नित्य कृत्य के रूप में षडावश्यक का विधान है। इसका अर्थ है प्रतिदिन करने योग्य छः आवश्यक बातें। वे इस प्रकार हैं :—

(१) सामायिक, (२) चतुर्विंशतिस्तव, (३) वंदना, (४) प्रतिक्रमण, (५) कायोत्सर्ग और (६) प्रत्याख्यान। इनमें कायोत्सर्ग का ५ वां स्थान है और वह प्रतिक्रमण के पश्चात् किया जाता है। इस कायोत्सर्ग में 'लोगस्स उज्जोयगरे' नामक चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की जाती है। स्तुति में सात गाथायें हैं, जिनके २८ चरण होते हैं। प्रत्येक चरण का ध्यान एक श्वास में किया जाता है। उदाहरण के रूप में प्रथम सांस लेते समय मन ही मन 'लोगस्स उज्जोयगरे' कहा जायगा। छोड़ते समय 'धम्म तित्थयरेजिणे', दूसरा सांस लेते समय 'अरिहंते कित्त इस्सं,' और छोड़ते समय 'चउवीसं पि जिणवरा' कहा जायगा। सातवीं गाथा का प्रथम चरण 'चन्देसु णिम्मलयरा' है। किसी-किसी का यह कथन है कि उसी के साथ कायोत्सर्ग पूरा कर देना चाहिये। यह पच्चीसवां चरण है।

प्रवचन सारोद्धार में कालमान इस प्रकार है :—

	चतुर्विंशतिस्तव	श्लोक	चरण	उच्छ्वास
दैवसिक	४	२५	१००	१००
रात्रिक	२	१२½	५०	५०
पाक्षिक	१२	७५	३००	३००
चातुर्मासिक	२०	१२५	५००	५००
सांवत्सरिक	४०	२५२	१००८	१००८

विजयोपदया में कालमान निम्न प्रकार है :—

	चतुर्विंशतिस्तव	श्लोक	चरण	उच्छ्वास
दैवसिक	४	२५	१००	१००
रात्रिक	२	१२½	५०	५०
पाक्षिक	१२	७५	३००	३००
चातुर्मासिक	१६	१००	४००	४००
सांवत्सरिक	२०	१२५	५००	५००

इस प्रकार नेमिचन्द्र और अपराजित दोनों आचार्यों की उच्छ्वास संख्या भिन्न रही है। अमितगति श्रावकाचार के अनुसार दैवसिक कायोत्सर्ग में १०८ तथा रात्रिक कायोत्सर्ग में ५४ उच्छ्वासों का ध्यान किया जाता है और अन्य कायोत्सर्गों में २७ उच्छ्वासों का।[1] २७ उच्छ्वासों में एक नमस्कार मन्त्र की नौ आवृत्तियाँ की जाती हैं। अर्थात् तीन उच्छ्वासों में एक नमस्कार मन्त्र पर ध्यान दिया जाता है। सम्भव है प्रथम दो-दो वाक्य एक-एक उच्छ्वास में और पाँचवाँ वाक्य एक उच्छ्वास में।[2]

१—मूलाराधना १।११६
सायाह्ने उच्छ्वासशतकं प्रत्यूषसि पंचशतं, पक्षे त्रिशतानि, चतुर्सु मासेषु चतुःशतानि, पंचशतानि संवत्सरे उच्छ्वासानाम्। अष्टौ प्रतिक्रमे योगभक्तो तौ, द्वावुदाहृतौ।

२—अमितगति श्रावकाचार ८।६८–६९
अष्टोत्तरशतोच्छ्वासः, कायोत्सर्गः प्रतिक्रमे।
सान्ध्ये प्राभातिके वार्धमन्यस्तत् सप्तविंशतिः॥
सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः, संसारोन्मूलनक्षमे।
संति पंचनमस्कारे, नवधा चिंतिते सति॥

अमितगति ने एक दिन-रात के कायोत्सर्गों की कुल संख्या अट्ठाईस मानी है।[1] वह इस प्रकार है—

१—स्वाध्याय काल में	१२
२—वन्दना काल में	६
३—प्रतिक्रमण काल में	८
४— योगभक्ति काल में	२

पाँच महाव्रतों सम्बन्धी अतिक्रमणों के लिये १०८ उच्छ्वासों के कायोत्सर्ग करने की विधि रही है।[2] कायोत्सर्ग करते समय यदि उच्छ्वासों की संख्या में सन्देह हो जाए अथवा मन विचलित हो जाए तो आठ उच्छ्वासों के अतिरिक्त कायोत्सर्ग करने की विधि है। ऊपर के विवरण से सहज ही निष्पन्न होता है कि प्राचीनकाल में कायोत्सर्ग मुनि की दिनचर्या का प्रमुख अंग था। समाचारी प्रकरण में भी अनेक बार कायोत्सर्ग करने का उल्लेख है।[3] दशवैकालिक चूलिका में मुनि को बार-बार कायोत्सर्ग करने वाला कहा गया है।[4]

कायोत्सर्ग का फल

कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त के रूप में भी किया जाता है, अतः उसका एक फल है—दोष-विशुद्धि।

अपने द्वारा किये हुए दोष का हृदय पर भार होता है। कायोत्सर्ग करने से वह हल्का हो जाता है, हृदय प्रफुल्ल हो जाता है अतः उसका दूसरा फल है—हृदय का हल्कापन।

१—अमितगति श्रावकाचार ८।६६-६७

अष्टविंशतिसंख्यानाः कायोत्सर्गा मता जिनैः।
अहोरात्रगताः सर्वे, षडावश्यककारिणाम्॥
स्वाध्याये द्वादश प्राज्ञैः वंदनायां षडीरिताः।
अष्टौ प्रतिक्रमे योगभक्तौ तौ द्वावुदाहृतौ॥

२—मूलाराधना २।११६ विजयोदया।

प्रत्यूषसि प्राणिवधादिसु पंचस्वतीचारेषु अष्टशतोच्छ्वासमात्रकालः कायोत्सर्गः। कायोत्सर्गकृते यदि शंक्यते उच्छ्वासस्य स्खलनं वा परिणामस्य उच्छ्वासानामष्टकमधिकं स्थातव्यम्।

३—उत्तराध्ययन २६।३८-५१।

४—दश० चू० २।७।

अभिक्खणं काउस्सगा कारी।

हृदय हल्का होने से ध्यान प्रशस्त हो जाता है, यहाँ उसका तीसरा फल है।[1]

कायोत्सर्ग से शारीरिक और मानसिक तनाव और भार भी नष्ट होते हैं। इन सारी दृष्टियों को ध्यान में रख कर उसे सब दुःखों से मुक्ति दिलानेवाला कहा गया है।[2]

भद्रबाहु स्वामी ने कायोत्सर्ग के पांच फल बतलाये हैं :[3]—

१—देहजाड्यशुद्धि—श्लेष्म आदि के द्वारा देह में जड़ता आती है। कायोत्सर्ग से श्लेष्म आदि नष्ट होते हैं। अतः उनसे उत्पन्न होनेवाली जड़ता भी नष्ट हो जाती है।

२—मतिजाड्यशुद्धि—कायोत्सर्ग में मन की प्रवृत्ति केन्द्रित हो जाती है उससे बौद्धिक जड़ता क्षीण होती है।

३—सुख-दुःख तितिक्षा—कायोत्सर्ग से सुख और दुःख को सहन करने की क्षमता उत्पन्न होती है।

४—अनुप्रेक्षा—कायोत्सर्ग में स्थित व्यक्ति अनुप्रेक्षाओं या भावनाओं का स्थिरतापूर्वक अभ्यास कर सकता है।

५—ध्यान—कायोत्सर्ग में शुभ ध्यान का अभ्यास सहज हो जाता है।

४—उत्तराध्ययन २६।१२।

५—उत्तराध्ययन २६।३८, ४१,४६,४६।

१—आवश्यक निर्युक्ति ५।१४६२

देह मइ जड्डसुद्धी, सुहदुक्खतितिक्खया अणुप्पेहा।
झायइ य सुहं झाणं एयग्गो काउसग्गम्मि॥

तिरुकुरल (तमिलवेद) : एक जैन रचना

[अणुव्रतपरामर्शक मुनिश्री नगराज]

भारतीय संस्कृति के मर्मज्ञ चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने कहा —"यदि कोई चाहे कि भारत के समस्त साहित्य का मुझे पूर्ण रूप से ज्ञान हो जाए तो तिरुकुरल को बिना पढ़े उसका अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता।" इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को शैव, वैष्णव, बौद्ध आदि सभी अपना धर्मग्रन्थ मानने को समुत्सुक हैं। लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व लिखा गया वह ग्रन्थ तमिलवेद अर्थात् तिरुकुरल है। तमिल जाति का यह सर्वमान्य और सर्वोपरि ग्रन्थ है। इसीलिए उसका नाम 'तमिलवेद' पड़ा है।

प्रचलित धारणा के अनुसार इस ग्रन्थ के रचयिता तिरुवल्लुवर अर्थात् सन्त वल्लुवर हैं। यह एक काव्यात्मक नीतिग्रन्थ है। बहुत बड़ा नहीं है। यह ग्रन्थ कुरल नामक छन्द में लिखा गया है। कुरल छन्द एक अनुष्टुप श्लोक से भी छोटा होता है।

इस ग्रंथ में धर्म, अर्थ और काम—ये तीन मूलभूत आधार माने गए हैं। विभिन्न विषयपरक १३३ अध्याय हैं और एक-एक अध्याय में दश-दश कुरल छन्द हैं। कुल मिलाकर १३३० कुरल होते हैं, जो पंक्तियों में २६६० हैं। रचना सौष्ठव तमिल के विद्वानों द्वारा निरुपम माना गया है। हिन्दी में गद्य अनुवाद उपलब्ध है, पर पद्य का गद्यात्मक या पद्यात्मक अनुवाद एक भावबोध से अधिक कुछ नहीं बताया करता। कालिदास ने संस्कृत शब्दावली में जिस भाव को अपने कलात्मक कवित्व में बांधा है और जो आनन्द उससे संस्कृत काव्यरसिक उठा सकता है, वह कलात्मकता उसके हिन्दी अनुवाद में थोड़े ही आ सकती है ? वह अनुवाद भी यदि संस्कृत पद्य का हिन्दी गद्य में हो तो काव्यात्मक आनन्द का लेश भी कहाँ बच जाएगा ? तिरुकुरल के काव्यात्मक आनन्द के विषय में तमिल नहीं जानने वाले हम अननुभूत और अनभिज्ञ ही रह सकते हैं ; तथापि कवि की उक्ति-चारुता आदि कुछ विशेषताओं को हम तथारूप अनुवाद से भी पकड़ सकते हैं।

काव्य की भाषा तीखी और हृदयस्पर्शी है। धर्म की उपादेयता के विषय में कहा गया है—"मुझसे मत पूछो कि धर्म से क्या लाभ है ? बस एक बार पालकी उठानेवाले कहारों की ओर देख लो और फिर उस आदमी को देखो जो उसमें सवार है।"[१]

१—धर्म प्रकरण-७

क्रोध के विषय में कहा गया है—"जो व्यक्ति क्रोध को दिल में जमाकर रखता है, जैसे वह कोई बहुमूल्य पदार्थ हो, वह उस मनुष्य के समान है जो कठोर जमीन पर हाथ दे मारता है। उस आदमी को चोट आए बिना नहीं रह सकती।"[१]

मायावी के विषय में कहा गया है—"तीर सीधा होता है और तम्बूरे में कुछ टेढ़ापन रहता है। इसीलिये आदमियों को उनकी सूरत से नहीं, उनके कामों से पहचानो।"[२] भावार्थ—तीर सीधा होकर भी कलेजे में लगता है, तम्बूरा टेढ़ा होकर भी अपनी मधुर ध्वनि से हमें आह्लादित करता है, अतः मायावी लोगों की ऊपरी सरलता में न फँसो।

धैर्य के विषय में कहा गया है—"विपत्ति से लोहा लेने में मुस्कान से बढ़कर कोई साथी नहीं हो सकता।"[३]

वाणी के विषय में कहा गया है—"तुम ऐसी वक्तृता दो कि दूसरी कोई वक्तृता उसे चुप न कर सके।"[४]

सामान्य उपदेशों को भी निराले ढंगसे कहने में कवि बहुत सफल रहा है।

गरिमा और अभिधा

यह ग्रन्थ इतना ख्यातिलब्ध कैसे हुआ और इसे इतनी मान्यता कैसे मिली इस विषय में भी एक सरस किंवदन्ती तमिल लोगों में प्रचलित है। कहा जाता है, उन दिनों दक्षिण में मदुरा नामक एक नगर था। वह नगर अपने विद्यावल से प्रसिद्ध था। वहाँ तमिल भाषा के विद्वानों की एक बड़ी सभा थी। उसमें एक ऊँचा आसन रहता। उसके विषय में यह धारणा थी कि जब सभा लगती है, तब अदृश्य रूप में यहाँ सरस्वती आकर बैठती हैं। अन्य ४९ आसनों पर उस सभा के धुरन्धर विद्वान बैठते थे। दूर-दूर तक इस सभा का यश फैला था। विविध ग्रन्थ-रचयिता वहाँ आते और अपने ग्रन्थ को उस सभा के समक्ष रखते। सभासद उस ग्रंथ का वाचन करते और उस पर अपना मत अभिव्यक्त करते।

तिरुवल्लुवर एक सन्त प्रकृति के पुरुष थे। वे अपने ग्रन्थ का ऐसा अभिस्थापन नहीं चाहते थे, पर मित्रों के दबाव से अपना ग्रन्थ लेकर उन्हें मदुरा की उस विद्वत्-सभा में उपस्थित होना पड़ा। उन्होने अपना ग्रन्थ सभाध्यक्ष के हाथों में दिया। सभाध्यक्ष ने अन्य सभासदों को वह ग्रन्थ दिखाते हुए

१—क्रोध प्रकरण-७ २—माया प्रकरण-९।
३—विपत्ति में धैर्य प्रकरण-१ ४—वाक् पटुता प्रकरण-५।

तिरुवल्लुवर से पूछा—आपका ग्रन्थ किस विषय पर है? वल्लुवर ने विनम्र भाव से कहा—मानव-जीवन पर। यह पूछे जाने पर कि मानव-जीवन के किस पहलू पर है; वल्लुवरने कहा—सभी पहलुओं पर।

इस बात पर सभी सभासद हँसे। छोटा-सा ग्रन्थ और मानव-जीवन के सभी पहलुओं पर विवेचन।

प्रधान ने पुस्तक का वाचन प्रारम्भ किया। दो-चार पद्य पढ़े कि वल्लुवर की भाव-व्यंजना ने सभी को आकृष्ट किया। क्रमशः पूरा ग्रन्थ पढ़ा गया। सभी सभासद आनन्द विभोर हो उठे। एक स्वर से सबने कहा—सचमुच ही यह तो तमिलवेद बन गया है।

इस प्रकार तिरुवल्लुवर महान् ख्याति अर्जित कर अपने घर लौटे। तिरु-कुरल ग्रन्थ तब से तमिल वेद कहा जाने लगा। तिरुकुरल का अभिप्राय होता है—कुरल छन्दों में लिखा गया, पवित्र ग्रन्थ। तिरुवल्लुवर का अभिप्राय है—पवित्र, वल्लुवर अर्थात् सन्त वल्लुवर।

वल्लुवर का गृह-जीवन

वल्लुवर कबीर की तरह जुलाहे थे। कपड़ा बुनना और उससे आजीविका चलाना उनका परम्परागत कार्य था। जातीयता की दृष्टि से वे दक्षिण की अछूत जाति के माने गए हैं। उनकी पत्नी का नाम वासुकी था। वह भी एक आदर्श और अर्चनीय महिला मानी गई है। पातिव्रत धर्म को निभाने में वह निराली थी। अपने पति के प्रति मन, वचन और कर्म से वह कितनी समर्पित थी और कितनी श्रद्धाशीला थी; इस सम्बन्ध में बहुत सारी घटनायें तमिल समाज में प्रचलित हैं।

कहा जाता है, तिरुवल्लुवर ने एक बार उसकी श्रद्धा का अंकन करने के लिये कहा—आज लोहे की कीलों और लोहे के टुकड़ों का शाक बनाओ। वासुकी ने बिना किसी तर्क और आशंका के चूल्हे पर तपेली चढ़ा दी और वह लोहे के टुकड़ों और कीलों को उबालने लगी।

एक बार सूर्य के प्रचण्ड प्रकाश में भी किसी खोई वस्तु को खोजने के लिये तिरुवल्लुवर ने वासुकी से चिराग मंगाया। वासुकी ने बिना ननु-नच के चिराग जलाया और वह खोई हुई वस्तु को खोजने में पति की मदद करने लगी।

एक दिन वासुकी घर के कुएँ से पानी निकाल रही थी। अकस्मात् पति का आह्वान कानों में पड़ा। उसने अपने आधे खींचे बर्तन को ज्यों-का-त्यों

छोड़ा और पति के पास चली गई। कार्य-निवृत्त होकर जब वह वापस आई तो देखा, पानी का बर्तन ज्यों-का-त्यों कुँए में आधे लटक रहा है।

सन्त पुरुष

तिरुवल्लुवर एक सन्त पुरुष थे। उनकी साधना परिपूर्ण थी। उनके जीवन की एक ही घटना उनकी शान्त वृत्ति का पूरा परिचय दे देती है। एलेल सिंगल नामक एक धनाढ्य व्यक्ति वल्लुवर के ही नगर में रहता था।

वह अपने समुद्री व्यवसाय से प्रसिद्ध था। उसके एक लड़का था। वह अधिक लाड़-प्यार में ढीठ-सा हो गया था। बड़े-बूढ़ों के साथ भी शरारत कर लेना उसके प्रतिदिन का कार्य था। एक दिन वह अपने साथियों की टोली के साथ उस मुहल्ले से गुजरा, जहाँ वल्लुवर अपना बुनाई का काम किया करते थे। उस समय वल्लुवर शान्त भाव म किसी चिन्तन में बैठे थे और उनके सामने बेचने की दो साड़ियाँ रखी थीं। शरारती युवक के मित्रों ने वल्लुवर को एक सन्त बताते हुए उनकी प्रशंसा की। शरारती युवक ने कहा—सन्तपन स्वयं एक ढोंग है। एक आदमी की अपेक्षा दूसरे आदमी में ऐसी कौन सी विशेषता होती है, जिससे वह सन्त बन जाता है। मित्रों ने कहा—शान्ति। इसी विशेषता से सन्त कहलाता है। शरारती युवक यह कहते हुए कि मैं देखता हूँ इसकी शान्ति, वल्लुवर के सामने ही आ धमका। एक साड़ी उठा ली और बोला—इसका क्या मूल्य है?

वल्लुवर—दो रुपये।

युवक ने साड़ी के दो टुकड़े कर दिये और एक टुकड़े के लिये पूछा—इसका क्या मूल्य है?

वल्लुवर ने शान्तभाव से कहा—एक रुपया। युवक चार, आठ, सोलह आदि टुकड़े क्रमशः करता गया और अन्तिम का दाम पूछता ही गया। सारी साड़ी मटियामेट हो गई वल्लुवर उसी शान्तभाव मुद्रा से यह सब देखते रहे। अन्त में युवक ने कहा—मेरे यह साड़ी अब किसी काम की नहीं है। मैं नहीं खरीदता। वल्लुवर ने भी शान्तभाव से कहा—सच है बेटे! अब यह साड़ी किसी के किसी काम की नहीं रही है। शरारती युवक तिलमिला-सा गया। मन में लज्जित हुआ। मित्रों के सामने हुई अपनी असफलता पर कुढ़ने लगा। जेब से दो रुपये निकाले और वल्लुवर के सामने रख दिये। वल्लुवर ने रुपयों को वापस करते हुए कहा—बेटे! अपना सौदा पटा ही नहीं तो रुपये किस बात के? अब युवक के पास कहने को कुछ नहीं रह गया था। अपनी ढीठता

पर उसका हृदय रो पड़ा। वह सन्त के चरणों में गिर पड़ा, यह कहते हुए कि मनुष्य-मनुष्यमें इतना अन्तर हो सकता है, जितना मेरे में और वल्लुवर संत में, यह मैंने पहली बार जाना है।

कहा जाता है, इस घटना के पश्चात् वह शरारती युवक सदा के लिए भला हो गया। उसका पिता और वह सदा के लिए वल्लुवर के भक्त हो गए और वे वल्लुवर का परामर्श लेकर ही प्रत्येक कार्य करने लगे।

जैन-रचना

'कुरल' और 'वल्लुवर' के विषय में उक्त सारी धारणाएँ तो जनश्रुति के अनुसार चल ही रही हैं, पर अब इस समग्र विषय पर इतिहास भी कुछ करवट लेने लगा है। वल्लुवर संत-श्रेणी के व्यक्ति और विलक्षण मेधावी थे, इसमें कोई सन्देह नहीं, पर उन्हें वह ज्ञान कहां से मिला ; यह विषय सर्वथा अस्पष्ट था। अब बहुत सारे आधारों से प्रमाणित हो रहा है[१] कि वल्लुवर जैन आचार्य कुन्द-कुन्दके शिष्य थे, और 'कुरल' उनकी रचना है। वल्लुवर 'कुरल' के रचयिता नहीं, प्रसारक मात्र थे।

यह एक सुविदित विषय है कि जैन धर्म किसी एक परिस्थिति विशेष में उत्तर भारत से दक्षिण भारत में गया। इतिहास बताता है—बारह वर्षों के दीर्घकाल के समय उत्तर भारत में साधु-चर्या का निर्वाह कठिन होने लगा था। उस समय भगवान् महावीर के सप्तम पट्टधर श्रुत केवली श्री भद्रबाहु स्वामी साधु-साध्वियों और और श्रावक-श्राविकाओं के एक महान् संघ के साथ दक्षिण भी आए। सम्राट् चन्द्रगुप्त भी दीक्षित होकर उनके साथ आए थे। वह संघ यात्रा कितनी बड़ी थी, इसका अनुमान इस बातसे लग सकता है कि १२००० साधु श्रावकों का परिवार तो केवल प्रव्रजित सम्राट् चन्द्रगुप्त का था।

मैसूर राज्य में ऐसे अनेक शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जिनसे भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त का कन्नड़ प्रदेश में आना और दीर्घकाल तक जैन धर्म का प्रचार करते रहना प्रमाणित होता है।[२]

भद्रबाहु के दक्षिण जानेवाले शिष्यों में प्रमुखतम विशाखाचार्य थे। वे तमिल प्रदेश में गए। वहाँ के राजाओं को जैन बनाया। जनता को जैन

१—विशेष विवरण के लिए देखें—ए० चक्रवर्ती द्वारा सम्पादित—Thirukkural की भूमिका।

२—आचार्यश्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ ; चतुर्थ अध्याय, के० एस० धरणेन्द्रैया एम० ए०, बी० टी० के लेख के आधार पर।

बनाया। सारे तमिल प्रदेश में जैन धर्म फैल गया और शताब्दियों तक वह वहाँ राज-धर्म के रूप में माना जाता रहा। तमिल साहित्य का श्रीगणेश भी जैन विद्वानों के द्वारा हुआ। व्याकरण आदि विभिन्न विषयों पर उन्होंने गद्यात्मक व पद्यात्मक ग्रन्थ लिखे।

ईसा की प्रथम शताब्दी में आचार्यश्री कुन्द-कुन्द मद्रास के निकट पोन्नूर की पहाड़ियों में रहते थे। वल्लुवर का आचार्य कुन्द-कुन्द से सम्पर्क हुआ। वे श्री कुन्द-कुन्दाचार्य के महान् व्यक्तित्व के प्रति आकर्षित हुए और कुन्द-कुन्दाचार्य ने उनको अपना शिष्य बना लिया। अपनी रचना 'कुरल' अपने शिष्य तिरुवल्लुवर को सौंपते हुए उन्होंने आदेश दिया—"देश में भ्रमण करो और इस ग्रन्थ के सार्वभौम नैतिक सिद्धान्तों का प्रचार करो।" साथ-साथ उन्होंने अपने प्रिय शिष्य को चेतावनी भी दी, "देखो! ग्रन्थ के रचयिता का नाम प्रकट मत करना; क्योंकि यह ग्रन्थ मानवता के उत्थान के लिये लिखा गया है; आत्म-प्रशंसा के लिए नहीं।"

प्रमाणों के अधिक विस्तार में हम न भी जाएं तो उस ग्रन्थ का आदि पृष्ठ ही एक ऐसा निर्द्वन्द्व प्रमाण है जो 'कुरल' को सर्वांशतः जैन-रचना प्रमाणित कर देता है। प्रथम प्रकरण ईश्वर-स्तुति का है। हमें देखना है कि रचयिता का वह ईश्वर कैसा और कौन होता है? मुख्यतः ईश्वर की परिभाषा ही जैनधर्म को अन्य धर्मों से पृथक् रखती है। कुरल की ईश्वर-स्तुति में कहा जाता है—धन्य है वह पुरुष जो आदि पुरुष के पादारविन्द में रत रहता है, जो कि न किसी से राग करता है और न किसी से द्वेष।[1] जैन संस्कृति के मर्मज्ञ सहज ही समझ सकते हैं कि इस स्तुति-वाक्य में कविता का हार्द क्या रहा है? यह तो स्पष्ट है ही कि रचयिता अपने ग्रंथ को सर्वमान्य प्रार्थना से अलंकृत करना चाहता है। ग्रन्थ के नैतिक उपदेशों से जैन-जैनेतर सभी लाभान्वित हों, यह इसका अभिप्रेत रहा है। इन कारणों से उसने मंगलाचार में सार्वजनिकता बरती है। रचयिता का अभिप्राय इतने में ही अभिव्यक्त किया जा सकता कि जैन देवों की स्तुति हो और वैदिक लोग उसे अपने देवों की स्तुति माने। परमार्थ नष्ट न हो और समन्वय सध जाए। अन्य जैन आचार्यों ने भी इस पद्धति का व्यवहार किया है।

> पक्षपातो न मे वीरो, न द्वेषः कपिलादिषु।
> युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥

१—ईश्वर-स्तुति प्रकरण-४

महावीर आदि तीर्थंकरों में मेरा अनुराग नहीं है और कपिल आदि तैर्थिकों पर मेरा द्वेष नहीं है। जिसका वचन यथार्थ हो, उसीका वचन मेरे लिये ग्राह्य है। भाषा समन्वय मूलक है। यथार्थता में महावीर का वचन ही ग्राह्य है।

एक अन्य श्लोक में जो जैन परम्परा में बहुत प्रसिद्ध है—ब्रह्मा, विष्णु, महेश को भी प्रणाम किया गया है, पर शर्त यह डाली है कि वे राग-द्वेष रहित हों। कहा गया है—

भव-बीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

कथनमात्र के लिए प्रणाम सबको किया है, पर प्रणाम ठहरता केवल जिन के लिए है। कुरल के प्रस्तुत श्लोकार्थ में भी आदि ब्रह्मा की स्तुति की गई है। पुराण परम्परा के अनुसार ब्रह्मा आदि पुरुष हैं, क्योंकि उसीसे ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चार वर्ण पैदा हुए हैं। अतः यह स्तुति उस आदि-ब्रह्म तक पहुँचनी चाहिए। यहाँ राग-द्वेष रहित होने का अनुबन्ध लगाकर रचयिता ने वह स्तुति आदि-पुरुष श्री आदिनाथ प्रभु तक पहुँचा दी है। वे आदि पुरुष भी हैं और राग-द्वेष रहित भी।

एक अन्य श्लोक में रचयिता कहते हैं—"जो मनुष्य हृदय कमल के अधिवासी भगवान के चरणों की शरण लेता है, मृत्यु उस पर दौड़कर नहीं आती।"[१] यहाँ विष्णु की स्तुति प्रतीत होती है, पर हृदय-कमल के अधिवासी भगवान कहकर रचयिता ने सारा भाव जैनत्व की ओर मोड़ दिया है। सगुणता से भगवान् निर्गुणता की ओर चले गए।

अन्य अनेकों श्लोकों में भी रचयिता ने अपने अभिप्राय का निर्वाह किया है। ईश्वर-स्तुति प्रकरण का प्रत्येक श्लोक ही इस दृष्टिकोण से बहुत मननीय है। इस प्रकरण के कुछ श्लोक इस प्रकार हैं—

१—" 'अ' शब्द लोक का मूल स्थान है, ठीक इसी तरह आदि-ब्रह्म सब लोकों का मूल स्रोत है।" यहाँ आदि-ब्रह्म शब्द से आदिनाथ भगवान् की ओर संकेत जाता है।

२—"यदि तुम सर्वज्ञ परमेश्वर के श्रीचरणों की पूजा नहीं करते हो तो तुम्हारी यह सारी विद्वत्ता किस काम की?" इस श्लोक में अपने परमेश्वर का स्वरूप सर्वज्ञ के रूप में स्पष्ट कर दिया है। जैनों का ईश्वर कर्त्ता-धर्ता नहीं, सर्वज्ञ ही है।

६—"जो लोग उस परम जितेन्द्रिय पुरुष के दिखाए धर्म-मार्ग का अनु-

सरण करते हैं, वे दीर्घजीवी होंगे।" प्रस्तुत भावना में भी जितेन्द्रिय शब्द से जिन भगवान की ओर संकेत किया गया है।

७—"केवल वही लोग दुःखों से बच सकते हैं जो उस अद्वितीय पुरुष की श्रेणी में आते हैं।" तीर्थंकर भरत क्षेत्र में एक साथ दो नहीं होते ; इसलिए रचयिता ने उन्हें भी अद्वितीय पुरुष कहा है, ऐसा लगता है।

८—"धन-वैभव और इन्द्रिय सुख के ज्वार-संकुल समुद्र को वही पार-कर सकते हैं, जो उस धर्म-सिन्धु मुनीश्वर के चरणों में लीन रहते हैं।" यहाँ जैनों के परमेष्ठी पंचक में पंचम पद की स्तुति की गई है।

९—"जो मनुष्य अष्टगुण संयुक्त परब्रह्म के चरण कमलों में सिर नहीं झुकाता, वह उस इन्द्रिय के समान है, जिसमें अपने गुण को ग्रहण करने की शक्ति नहीं है।" जैन परम्परा में मुक्तजीव सिद्ध भगवान् कहलाते हैं। वे केवल ज्ञान, केवल दर्शनादि आठ गुणों से संयुक्त होते हैं। पूर्वोक्त भावना में उनकी स्तुति का ही संकेत मिलता है।

१०—"जन्म-मरण के समुद्र को वही पार कर सकते हैं, जो प्रभु के चरणों की शरण में आ जाते हैं। दूसरे लोग उसे तर ही नहीं सकते।" प्रस्तुत भावना का प्रभु शब्द पंच परमेष्ठी रूप प्रभु की स्तुति की गई है, ऐसा स्वयं लगता है।

५—"देखो, जो मनुष्य प्रभु के गुणों का उत्साहपूर्वक गान करते हैं, उन्हें अपने कर्मों का दुःखप्रद फल नहीं भोगना पड़ता।" इस प्रकार समग्र स्तुति दशक में कहीं भी जैनत्व की सीमा का उल्लघंन नहीं किया गया है, अपितु स्तुति को जैन और वैदिक दोनों परम्पराओं से सम्मत बनाते हुए भी रचयिता ने जैनत्व का संपोषण किया है।

इस प्रकार हम अन्य प्रकरणों की छान-बीन में भी जा सकें तो संभवतः बहुत सारी उक्तियाँ मिल जाएंगी जो नितान्त रूप से जैनत्व को अभिव्यक्त करनेवाली ही हैं।

अन्य विद्वानों के अंकन में

'तिरुकुरल' कृति की इस सहज अभिव्यक्ति को भारतीय व पाश्चात्य अन्य विद्वानों ने भी आँका है। कनक सभाई पिल्ले (Kanaksabhai Pillai) एस० वियपुरी पिल्ले (S.Viyapuri Pillai), टी० वी० कल्याण सुन्दर मुदालियार (T.V.Kalyan Sundara Mudaliar) आदि अनेकों जैनेतर विद्वान हैं, जिन्होंने स्पष्ट व्यक्त किया है कि तिरुकुरल एक जैन-रचना है।[1] यूरोपीय

१—Thirukkural, Ed. by prof. A Chakravarti, Introduction, px.

विद्वान एलिस (Ellis) और ग्राउल (Graul) ने भी इसी मत की पुष्टि की है।

तमिल विद्वान् कल्लदार (Kalladar) ने कुरल की प्रशस्ति में लिखा है—"परम्परागत सभी मतवाद एक दूसरे से विरोध रखते हैं। एक दर्शन कहता है, सत्य यह है, तो दूसरा दर्शन कहता है, यह ठीक नहीं है, सत्य तो यह है। कुरल का दर्शन एकान्तवादिता के दोष से सर्वथा मुक्त है।"[१]

इस प्रसंग में यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण हो सकता है कि "कयतरम्" (Kayatram) नामक तमिल निघण्टु के देव प्रकरण में जिनेश्वर के पर्याय-वाची नामों में बहुत सारे वही नाम दिए हैं जो कुरल की मंगल प्रशस्ति में प्रयुक्त किए गए हैं। निघण्टुकार ने जो कि ब्राह्मण विद्वान् है, कुरल के रचियता को जैन समझ कर ही अवश्य ऐसा माना है।

कुरल पर अनेकों प्राचीन टीकाएँ उपलब्ध होती हैं। उनमें से अनेक टीकाएँ जैन विद्वानों द्वारा लिखी गई हैं; इससे भी कुरल का जैन-रचना होना पुष्ट होता है।

सबसे महत्त्वपूर्ण माने जाने वाली टीका के रचियता धर्मार हैं। उनके विषय में भी धारणा है कि वे प्रसिद्ध जैन-विद्वान तो थे पर धर्म से जैनी नहीं थे।[२]

कुन्द-कुन्द ही क्यों ?

कुरल को जैन रचना मान लेने के पश्चात् भी यह जिज्ञासा तो रह ही जाती है कि इसके रचयिता आचार्य कुन्द-कुन्द ही क्यों ? इस विषय में भी कुछ एक ऐतिहासिक आधार मिलते हैं। मामूलनार (Mamoolnar) तमिल के विख्यात कवि हैं। उनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना जाता है।

१—"Speaking about these traditional darshanas he (Kalladar) points out that they are conflicting with one another. However one system says the ultimate reality is one, another system will contradict this and says no. This mutual incompatability of the six systems is pointed out and the philosophy of Coural is praised to be free from this defect of onesidedness."

Thirukkural, Ed. by prof. A. Chakravarti. Introduction.

२—Thirukkural Ed. by prof. A. Chakravarti, Preface, p.ii

उन्होंने कुरल की प्रशस्ति गाथा में कहा है—कुरल के वास्तविक लेखक थीवर हैं, किन्तु अज्ञानी लोग वल्लुवर को इसका लेखक बतलाते हैं, पर बुद्धिमान लोगों को अज्ञानियों की यह मूर्खता भरी बातें स्वीकार नहीं करनी चाहिए।[1]

प्रो० ए० चक्रवर्ती ने अपने द्वारा सम्पादित तिरुकुरल में भली भाँति प्रमाणित किया है कि तमिल परम्परा में आचार्य कुन्द-कुन्द के ही 'थीवर' और 'एलाचार्य' ये दो नाम हैं।[2]

जैन विद्वान् जीवक चिन्तामणि ग्रन्थ के टीकाकार नच्चिनार किनियर (Nachinar Kiniyar) ने अपनी टीका में सर्वत्र तिरुकुरल के लेखक का नाम थीवर बतलाया है।[3]

तमिल साहित्य में सामान्यतः थीवर शब्द का प्रयोग जैन श्रमण के अर्थ में किया जाता है।

कुरल की एक प्राचीन पाण्डुलिपि के मुखपृष्ठ पर लिखा मिला है—एलाचार्य द्वारा रचित तिरुकुरल।[4] इन सारे प्रमाणों को देखते हुए सन्देह नहीं रह जाना चाहिए कि कुरल के वास्तविक रचियता आचार्य कुन्द-कुन्द ही थे।

भ्रम का कारण

यह एक बड़ा-सा प्रश्न चिन्ह बन जाता है कि आचार्य कुन्द-कुन्द (थीवर व एलाचार्य) ही इसके रचियता थे तो यह इतना बड़ा भ्रम खड़ा ही कैसे हुआ कि इसके रचयिता तिरुवल्लुवर थे। तमिल की जैन परम्परा में यह प्रचलित है कि एलाचार्य (आचार्य कुन्द-कुन्द) एक महान् साधक व गणमान्य आचार्य थे ; अतः उनके लिए अपने ग्रन्थ को प्रमाणित कराने की दृष्टि से मदुरा की सभा में जाना उचित नहीं था। इस स्थिति में उनके गृहस्थ शिष्य श्री तिरुवल्लुवर इस ग्रन्थ को लेकर मदुरा की सभा में गए और उन्होंने ही

1—Thirukkural, Ed. by prof. A. Chakravarti, Introduction p. x

2—Thirukkural, Ed. by prof. A. Chakravarti Introduction P. xii

3—Thirukkural, Ed. by A. Chakravarti, Preface :

"The real author of the work which speaks of the four topics is Thevar. But ignorant people mentioned the name of Valluwar as the author. But wise men will not accept this statement of ignorant fools."

4—Thirukkural, Ed. by prof. A. Chakravarti, Introduction, p. xii.

विद्वानों के समक्ष इसे प्रस्तुत किया। इसी घटना-प्रसंग से तिरुवल्लुवर इसके रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हो गए।[1] दूसरा कारण यह भी था कि आचार्य कुन्द-कुन्द ने यह ग्रन्थ वल्लुवर को प्रसारार्थ सौंपा था और वे इसका प्रसार करते थे; अतः सर्व साधारण ने उन्हें ही इसका रचियता माना। ऐसा भी सम्भव है कि आचार्य कुन्द-कुन्द इस ग्रन्थ को सर्वमान्य मनाए रखने के लिए अपना नाम इसके साथ जोड़ना नहीं चाहते थे, जैसे कि उन्होंने अपने देव का नाम भी सीधे रूप में ग्रन्थ के साथ नहीं जोड़ा। रचियता का नाम गौण रहे तो प्रसारक का नाम रचयिता के रूप में किसी भी ग्रन्थ के साथ सहज ही जुड़ जाता है।

उपसंहार

'तिरुकुरल' काव्य आज दो सहस्र वर्षों के पश्चात् भी एक नीति ग्रन्थ के रूप में समाज के लिए बहुत उपयोगी है। समग्र जैन समाज के लिए यह गौरव का विषय होना चाहिए कि एक जैन रचना पञ्चम वेद के रूप में पूजी जा रही है। अपेक्षा है, इस सम्बन्ध में अन्वेषण कार्य चालू रहे। यह ठीक है कि एतद् विषयक बहुत सारी शून्यताएँ तमिल की जैन परम्परा भर देती है, पर अपेक्षा है, उन शून्यताओं को ऐतिहासिक प्रमाणों से और भर देने की। प्रो० ए० चक्रवर्ती ने इस दिशा में बहुत प्रयत्न किया है, पर अपने प्रतिपादन में कुछ-एक सहारे उन्होंने ऐसे भी लिए हैं जो शोध के क्षेत्र में बड़े लचीले ठहरते हैं। जैसे तिरुकुरल के धर्म, अर्थ, काम आदि आधारों की कुन्द-कुन्द के अन्य ग्रन्थों में वर्णित चत्तारि मंगल के पाठ से पुष्टि करना। हमें जैनेतर जगत् के सामने वे ही प्रमाण रखने चाहिए जो विषय पर सीधा प्रकाश डालते हों। खींचतान कर लाए गए प्रमाण विषय को बल न देकर प्रत्युत निर्बल बना देते हैं। आग्रहहीन शोध ही लेखक की कसौटी है। शोध का सम्बन्ध सत्य से है, न कि सम्प्रदाय से।

1—Thirukkural Ed. by porf. A. Chakravarti, Inrroduction p. xiii.

"According to the Jaina tradition, Elacharya was a great Nirgrantha Mahamuni, a great digambara ascetic, not caring for woldly honours. His lay disciple was delegated to introduce the work to the scholars assembled in the Madura acadamy of the sangha. Hence the introduction was by Valluwar, who placed it before the scholars of the Madura sangha for their approval."

क्या व्रात्य श्रमण थे ?

[मुनिश्री रूपचन्द्रजी]

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के अवशेषों ने आज पुरातत्व के क्षेत्र में एक नई हलचल उत्पन्न कर दी है। जहाँ आज तक सब प्रकार की प्राचीन सांस्कृतिक स्थापनाएं आर्यों के परिकर में ही बंधी हुई थी, खुदाई में प्राप्त इन बहु-मूल्य अवशेषों ने यह सिद्ध कर दिया कि आर्यों से पूर्व भी यहाँ एक समृद्ध संस्कृति का अस्तित्व था। तत्कालीन भारतीय न केवल सुसभ्य, सुसंस्कृत और कलाविद् ही थे, उनमें आत्म-विद्या का भी पर्याप्त विकास था जिससे कि आर्य लोग सर्वथा अपरिचित थे। अनेक पुरातत्व नेताओं ने यह असंदिग्ध रूप से स्वीकार कर लिया है कि वह संस्कृति आर्य-भिन्न थी, साथ ही आर्य संस्कृति से बहुत अधिक समृद्ध और अध्यात्म-सम्पन्न थी। इस निष्कर्ष के बाद उनका ध्यान श्रमण-संस्कृति की ओर आकृष्ट हुआ है जो सहस्रों वर्षों के इतिहास में अनेक दुर्धर्ष बाधाओं को सहते हुए भी आज तक अविच्छिन्न रूप से फलती-फूलती रही है। इस आधार पर उनका अनुमान है कि अवश्य ही ये प्राचीन संस्कृति के अवशेष श्रमण-परम्परा से ही संबद्ध होने चाहिये। इस कल्पना की सत्यता में प्राप्त अवशेष जहाँ सहायक सिद्ध होंगे, मेरा यह विश्वास है कि ऋग्वेद आदि वेदों से भी हमें उसका पर्याप्त समर्थन मिल सकेगा। प्रस्तुत निबन्ध में मैंने अथर्ववेद में प्रयुक्त 'व्रात्य' शब्द के आधार पर यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि यह 'व्रात्य' श्रमण-परम्परा से ही सम्बन्धित होना चाहिये।

व्रात्य शब्द अपने अर्वाचीन अर्थ में आचार तथा संस्कारों से हीन मनुष्यों के लिये प्रयुक्त होता रहा है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने अभिधान चिन्तामणि कोश में इसका अर्थ देते हुए कहा है—

"व्रात्यः संस्कारवर्जितः। व्रते साधुः कालो व्रात्यः। तत्र भवो व्रात्यः प्रायश्चित्तार्हः, संस्कारोऽत्र उपनयनं तेन वर्जितः॥"[1]

किन्तु इस अर्थ का इतिहास मनुस्मृति तथा उत्तरकालीन ब्राह्मण ग्रन्थों से आगे नहीं जाता।

१—अ० चि० ३।५१८

मनुस्मृति में इसके संदर्भ में कहा गया है :—

"अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते, यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या, भवन्त्यार्यविगर्हिताः॥"

क्षत्रिय, वैश्य तथा ब्राह्मण योग्य अवस्था प्राप्त करने पर भी असंस्कृत है वे व्रात्य हैं और वे आर्यों के द्वारा गर्हणीय हैं।[1]

एक अन्य प्रकरण में मनुस्मृतिकार लिखते हैं—

"द्विजातयः सवर्णासु, जनयन्त्यव्रतांस्तु तान्।
तान् सावित्री-परिभ्रष्टान्, व्रात्यानिति विनिर्दिशेत्॥"

जो ब्राह्मण-संतति उपनयन आदि व्रतों से रहित हो, उस गुरु मंत्र के परिभ्रष्ट मनुष्य को 'व्रात्य' नाम से निर्दिष्ट किया जाए।[2] ताण्ड्य महाब्राह्मण में 'व्रात्य-स्तोत्र' के लिए कहा गया गया है कि इसके पाठ से व्रात्य भी शुद्ध, संस्कृत होकर पुनः यज्ञादि के अधिकारी होते हैं।[3] इसी ब्राह्मण भाग पर सायणाचार्य का भाष्य है जिसमें उन्होंने 'व्रात्य' का अर्थ आचारहीन ही किया है—

"व्रात्यान् व्रात्यतां आचारहीनतां प्राप्य प्रवसन्तः प्रवासं कुर्वतः।"

किन्तु इनके पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थ को व्रात्य का यह अर्थ स्वीकार नहीं है। प्रत्युत इससे सर्वथा विपरीत अर्थ प्रचलित मिलता है। इस शब्द का पहला उल्लेख हमें अथर्ववेद के पन्द्रहवें काण्ड में मिलता है जो कि 'व्रात्य काण्ड' इस अभिधा से ही अभिहित है। इसकी भूमिका में भाष्यकार सायण लिखते हैं—इसमें व्रात्य की स्तुति की गई है। उपनयन आदि से हीन मनुष्य 'व्रात्य' कहलाता है। ऐसे मनुष्य को लोग वैदिक कृत्यों क लिए अनधिकारी और सामान्यतः पतित मानते हैं, परन्तु यदि कोई व्रात्य ऐसा ही हो जो विद्वान् और तपस्वी हो तो ब्राह्मण उससे भले ही विद्वेष करे, परन्तु वह सर्वपूज्य होगा, और देवाधिदेव परमात्मा के तुल्य होगा।[4] उसी स्थल पर उन्होंने व्रात्य को 'विद्वत्तम', 'महाधिकार', 'पुण्यशील' और 'विश्वसम्मान्य' आदि विशेषणों से विशिष्ट किया है।

१—मनुस्मृति २।५।३८

२—मनुस्मृति १०।२०

३—हीना वा एते। हीयन्ते ये व्रात्यां प्रवसन्ति।......षोडशो वा एतत् स्तोमः समाप्तुमर्हति।

४—अथर्ववेद—१५।१।१।१

अथर्ववेदीय चूलिकोपनिषत् और यजुर्वेदीय मन्त्रिकोपनिषद् में व्रात्य सूक्त को औपनिषदिक ब्रह्म-विद्या या आत्म-विद्या का निरूपक सूक्त माना है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र ने अतिथि की शुश्रूषा करने के लिए ही व्रात्य सूक्त का उल्लेख माना है। पूज्य, गुरु, आचार्य, स्नातक, तपस्वी, राजा आदि सभी को सामान्यतः 'व्रात्य' शब्द से ही सम्बोधित करने का आदेश है।

अथर्ववेद में पन्द्रहवें काण्ड का प्रारम्भ जिस प्रकार से होता है, उससे लगता है कि इसका सम्बन्ध किसी आर्येतर परम्परा से होना चाहिये। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान ब्लूम फील्ड (Bloomfeild) इस काण्ड को शैव-दर्शन का प्रतिनिधि मानते हैं। जिसके आधार में इस सूक्त में प्रयुक्त नील-लोहित, ईशान, महादेव आदि शब्दों का आश्रय लेते हैं। किन्तु यह कल्पना यथार्थ नहीं लगती। केवल शब्दों के आधार पर तो अनेक विरोधी परम्पराओं का आकलन किया जा सकता है। किन्तु यह अवश्य सत्य के निकट प्रतीत होता है कि इसका सम्बन्ध किसी अन्य परम्परा से ही होना चाहिये। प्रारम्भ का सूक्त इस प्रकार "व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत्"—व्रात्य ने अपने पर्यटन में प्रजापति को प्रेरणा दी। इसमें प्रयुक्त 'आसीदीयमान' और 'प्रजापति' 'समैरयत्' ये दोनों पद अपना विशेष महत्त्व रखते हैं, जिसकी मीमांसा मैं आगे करना चाहूँगा। उससे ठीक आगे का उल्लेख तो और भी महत्त्व का है जिसमें कहा गया है—"स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत्"—उस प्रजापति ने अपने में सुवर्ण (आत्मा) को देखा।[1] इसके आगे सम्पूर्ण काण्ड ही 'व्रात्य' की गरिमा से भरा है।

प्रश्न यह होता है कि यह व्रात्य आखिर कौन है, जो कि प्रजापति को भी प्रेरणा देने में समर्थ है। डा॰ सम्पूर्णानन्द इसका अर्थ 'परमात्मा' करते हैं। यद्यपि इस काण्ड के अपने अनुवाद की भूमिका में वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि अधिकांशतः पाश्चात्य विद्वानों का अभिमत यह है कि यह प्रसंग किन्हीं परिभ्रमणशील मुनियों की प्रशंसा में रचा हुआ होना चाहिये।[2] किन्तु उन्हें स्वयं परमात्मा अर्थ ही स्वीकार है। बलदेव उपाध्याय भी इसी का समर्थन करते हैं। किन्तु समूचे व्रात्य-काण्ड का अनुशीलन करने पर यह अर्थ संगत नहीं लगता। मेरा अनुमान है इसका सही अर्थ पाने में 'व्रात्य' शब्द और 'व्रात्य काण्ड' का पहला सूक्त भी हमारे लिए काफी सहयोगी हो सकेगा।

१—अथर्ववेद-१५।१।१।३

२—अथर्ववेदीय व्रात्यकाण्डम्—सम्पूर्णानन्द (भूमिका पृ॰ १२)।

पहले हम व्रात्य शब्द को ही लें। इसके व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ में भी नाना अटकलबाजियाँ लगाई जाती रही है। डा० ग्रीफिथ अथर्ववेद के अंग्रेजी अनुवाद (१५ वां काण्ड) में इसकी व्युत्पत्ति देते हुए लिखते हैं—"व्रात्य शब्द 'व्रात' से बना है। व्रात का अर्थ है—समूह और व्रात्य का अर्थ है आर्यों से बहिष्कृत जत्थे का सरदार। वह ब्राह्मणों के शासन से सर्वथा मुक्त और ब्राह्मणों के मार्ग पर नहीं चलने वाला होता है।[1]" किन्तु पन्द्रहवें काण्ड में इस अर्थ से उत्पन्न विसंगति को दूर करने के लिए डा० ग्रीफिथ इसकी पाद-टिप्पणी में लिखते हैं—"इस अपूर्व रहस्यमय काण्ड का प्रयोजन व्रात्य को आदर्श बनाना और उसकी बढ़ी-चढ़ी प्रशंसा करना मात्र है।" मैं सोचता हूँ इस मिथ्या धारणा का कारण सम्भवतः यही रहा है कि इन लोगों ने यहाँ पर प्रयुक्त व्रात्य शब्द को मनुस्मृति तथा उत्तरकालीन ब्राह्मण ग्रन्थों के सन्दर्भ में ही पढ़ा है। अन्यथा इसका यह अर्थ स्वयं कोशकारों को भी मान्य नहीं रहा है। अभिधान चिन्तामणि की स्वोपज्ञ टीका में आचार्य हेमचन्द्र स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं—

व्राते वृन्दे साधुरिति वा पृथक् व्यपदेश्यो न इत्यर्थः[2]।

दूसरे में, बहिष्कृत समूह का नेता होने मात्र से उसका उल्लेख और विस्तृत प्रशस्ति की जाए, यह नहीं जँचता। उपाध्याय ओफ्राष्ट इसी उलझन को सुलझाने का असफल प्रयास करते हुए लिखते हैं—"जो व्रात्य विशेष प्रायश्चित्त करने के वाद उपनीत हो जाता था और ब्राह्मण आर्यों में प्रवेश पा लेता था, उसके लिए ही यह प्रशंसा लिखी गई है।"[3] किन्तु इसे मात्र अपनी कल्पना के अतिरिक्त अधिक स्थान नहीं दिया जा सकता।

वस्तुतः 'व्रात्य' शब्द 'व्रत' से बना है। इसका मूल 'वृ'-वरणे है। "व्रियते यद् तद् व्रतम्, व्रते साधुः कुशलो वा इति व्रात्यः।" व्रत का अर्थ है धार्मिक-संकल्प, और जो संकल्पों में साधु है, कुशल है वह व्रात्य है। डा० हेवर इस शब्द का विश्लेषण देते हुए लिखते हैं—"Vratya as initiated in Vratas. Hence Vratya means a person who has voluntarily accepted the moral code of vows for his own spiritual discipline" (व्रात्य का अर्थ है व्रतों में दीक्षित। यानि जिसने आत्मानुशासन की दृष्टि से स्वेच्छा-

---

१—अथर्ववेद संहिता (तृतीय खण्ड भूमिका पृ० ३६-६ श्री जयदेव शर्मा)।
२—अभिधान चिन्तामणि ३।५१८।
३—अथर्ववेद संहिता (तृतीय खण्ड भूमिका पृ० ३६)।

पूर्वक व्रत स्वीकार किये हों वह व्रात्य है।) इसी प्रसंग में व्रात्य का प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ देते हुए वे लिखते हैं: "Vratyas as a class of Heterodox Nomadic Holyman"[1] व्रात्य यानि विभिन्न जातियों के दिगम्बर पवित्र मनुष्यों का संघ।

जब हम 'व्रत' को व्रात्य का मूल मान लेते हैं, व्रात्यों को श्रमण परम्परा का मान लेना तब कोई दुरूह कल्पना नहीं है। व्रतों की विधि परम्परा श्रमण संस्कृति की अपनी सर्वथा स्वतन्त्र मौलिक देन है। इसके (श्रमण परम्परा) अनुसार इस अवसर्पिणी के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से ही साधना पद्धति में व्रतों का प्रमुख स्थान रहा है; जब कि वेदों के परवर्ती साहित्य में व्रतों का विधान अवश्य मिलता है, पहले नहीं। अतः यह निश्चित है कि ब्राह्मणों से साधना-पद्धति में व्रतों का स्वरूप श्रमण-परम्परा से ही लिया गया है।

दूसरे में, व्रात्य-काण्ड के पहले सूक्त में व्रात्य का विशेषण 'आसीदीयमान' शब्द भी श्रमण संस्कृति की ओर संकेत करता है। 'आसीदीयमान' का अर्थ है पर्यटन करता हुआ। ऐसा लगता है, निरन्तर परिभ्रमण करते रहना उस व्रात्य की प्रधान चर्चा थी। 'स उदतिष्ठत् स प्राचीदिशमनुव्यचलत्'[2] 'स उदतिष्ठत् स प्रतीचीं दिशमनुव्यचलत्'[3] 'स उदतिष्ठत् स उदीचीं दिशमनुव्यचलत्'[4] आदि विभिन्न सूक्त इस ओर संकेत करते हैं कि उसकी यात्रा का क्षेत्र सीमित नहीं था, सभी दिशाओं में यह निर्बन्ध रूप से घूमता था। अप्रतिबन्ध रूप से पर्यटन करते रहना श्रमणों का आज भी अनिवार्य नियम है। इस परम्परा में साधु के लिए यह विधान है कि वह वर्षावास के अतिरिक्त किसी भी स्थान में दीर्घकाल तक स्थिर न हो, पर्यटन करता रहे।[5] डा० ग्रीफिथ ने व्रात्य को 'परिव्राजक धार्मिक पुरुष' के रूप में स्वीकार किया है।[6] इसका सारांश यही निकल सकता है कि आर्यों से पहले भी भारत में इस प्रकार के लोग थे, जो

१—History And Doctrines of Ajivakas. By A.L. Bhasham P.8

२—अथर्ववेद १५।१।२।१

३— ,, १५।१।२।१५

४— ,, १५।१।२।६

५—दशवै० चूलिका २

६—History of Dharmashastra. By Dr. Kanne, Vol. II, Part I, P. 38

कि पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सभी दिशाओं में यायावर के रूप में परिभ्रमण करते रहते और लोगों को अध्यात्म-साधना का उपदेश देते।

श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने भी व्रात्यों को अर्हतों का अनुयायी माना है। वे लिखते हैं—वैदिक से भिन्न मार्ग बुद्ध और महावीर से पहले भी भारत में थे। अर्हत् लोग बुद्ध से पहले थे। उन अर्हतों और चैत्यों के अनुयायी 'व्रात्य' कहलाते थे, जिनका उल्लेख अथर्ववेद में भी है।[1]

व्रात्य का जो स्वरूप अथर्ववेद में दिखलाया गया है, उससे यह स्वयं प्रमाणित होता है कि वह कोई आत्म-सम्पन्न और आध्यात्मिक पथ-दर्शक था, जिससे प्रेरणा या स्वयं प्रजापति ने अपनी सुवर्णमय आत्मा को पहचाना। विशेष साधना-सम्पन्न और आत्म-द्रष्टा व्यक्ति के बिना प्रजापति को प्रेरणा देने की कल्पना नहीं की जा सकती।

इसके अतिरिक्त व्रात्य काण्ड के कुछ अन्य सूक्त भी इसी भावना का समर्थन करते दिखलाई देते हैं। जैसे कि—

"स संवत्सरमूर्ध्वोऽतिष्ठत् तं देवा अब्रुवन्, व्रात्य! किं नु तिष्ठसीति"—

वह संवत्सर तक खड़ा रहा। उससे देवों ने पूछा—व्रात्य! तू क्यों खड़ा है?[2] आचार्यश्री तुलसी ने अपने निबन्ध 'श्रमण संस्कृति का प्राग्वैदिक अस्तित्व' में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव के जीवन के साथ इसकी तुलना की है। उनके अनुसार यह सूक्त ऋषभदेव की उस अवस्था का चित्रण करता है; जब कि दीक्षित होने के बाद एक संवत्सर तक वे तपस्या में स्थिर रहे थे। एक वर्ष तक भोजन न करने पर भी शरीर में पुष्टि और दीप्ति को धारण कर रहे थे।[3]

एक अन्य सूत्र कहता है—यह अनावृत दिशा में चला। इससे (उसने) सोचा (अब) न लौटूँगा।[4] जिस दिशा में चलने वाले का आवर्तन नहीं होता वह अनावृत दिशा है। इसलिए उसने सोचा कि मैं अब न लौटूँगा। मुक्त पुरुष का ही प्रत्यावर्तन नहीं होता।[5] भ० ऋषभ के लिए भी यही कहा जाता है कि अन्त में वे अपुनरावृत्ति स्थान को प्राप्त हुए, जहाँ जाने के पश्चात् कोई वापस लौटकर नहीं आता।

१—भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ३४९

२—अथर्ववेद १५।१।३।१

३—जैन भारती वर्ष १२ अंक ८

४—अथर्ववेद १५।१।६।१४

५—अथर्ववेदीय व्रात्यकाण्डम् पृ० ३६

इसी प्रकार और भी अनेक सूक्त ऐसे हैं जो कि व्रात्य की महत्ता और तत्कालीन भारतीय समाज पर उनका प्रभाव व्यक्त करते हैं। सायण ने व्रात्य के लिए 'विद्वत्तमं' के साथ 'कर्मपरे ब्राह्मणैर्विद्विष्टं' यह विशेषण रखा है, इससे हम व्रात्यों की तत्कालीन स्वरूप की कोई कल्पना नहीं कर सकते। आज के पाठक को यह संदेह है कि सायण इस कांड के हार्द को कदाचित् समग्रता से पकड़ पाया है। क्योंकि सायण तक पहुँचते-पहुँचते व्रात्य अपने प्राग्वैदिक और वैदिक अर्थ-परंपरा से बहुत नीचे खिसक आया है।

लेकिन इतना अवश्य निश्चित है कि आर्यों के मन में व्रात्यों के प्रति मानसिक घृणा अवश्य थी। चूँकि वे आर्य एक लम्बे संघर्ष के बाद भी जब उन्हें परास्त न कर सके, या विजयी होने पर भी सुख से नहीं बैठ सके या जीवन के आध्यात्मिक क्षेत्र में अपना प्रभुत्व नहीं जमा सके, तभी उन्होंने व्रात्यों को सम्मान दिया, ऐसा लगता है। ऋग्वेद में उसका कोई उल्लेख न होकर, अथर्ववेद (जिसकी रचना ऋग्वेद से करीब दो तीन शताब्दी पश्चात् मानी जाती है) में इतनी गरिमा मिलना इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि अपने से भिन्न संस्कृति और भिन्न विचारों के होते हुए भी आर्यों को विवश होकर अपने साहित्य में उन्हें स्थान देना पड़ा। आर्यों से भिन्न होने और सहजतया सम्मान्य न होने का समर्थन हमें एक अन्य सूक्त से भी मिलता है। वहाँ कहा गया है—"तब जिस राजा के घर पर ऐसा विद्वान् व्रात्य अतिथि (होकर) आए, (वह राजा) इस (विद्वान के आगमन) को अपने लिये कल्याणकारी माने। ऐसा (करने से) वह क्षत्र तथा राष्ट्र के प्रति अपराध नहीं करता।"[1]

एक आई० सिन्दे ने अपने ग्रन्थ 'The Riligion and Philosophy of Atharva Veda' में व्रात्यों को आर्यों से पृथक् माना है। वे लिखते हैं[2]—"वस्तुतः व्रात्य कर्मकांडी ब्राह्मणों से बाहर के थे। लेकिन अथर्ववेद ने उन्हें आर्यों में सम्मिलित ही नहीं किया, उनमें से उत्तम साधना करनेवालों को उच्चतम सम्मान भी दिया।"

१—अथर्ववेद १५।२।३।१२

2—Vratyas were outside the pale of the orhodox—Aryans. The Atharva Veda not only admitted them in the Aryan fold but made the most rightous of them, the highest divinity. (P. 7.)

इस प्रकार व्रात्यों का स्वरूप हमारे समक्ष इस प्रकार आता है कि वे किसी आर्य-भिन्न सम्पन्न परम्परा के अनुयायी थे। आत्मा का उन्हें ज्ञान था, अध्यात्म-साधना उनका प्रमुख लक्ष्य था। एक भिक्षु की तरह वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर अध्यात्म-विद्या का प्रसार करते हुए पर्यटन करते रहते थे। वे जहाँ भी जाते, सभी प्रकार के लोग उनके सामने नतमस्तक हो जाते थे। स्वयं इन्द्र, आदित्य, देवगण, वैरूप, वैराज, वरुण आदि के द्वारा वे सम्मान्य ही न थे, वे उनका अनुसरण भी करते। उनका नेता एक व्रात्य था।[1] जिसके नेतृत्व में समूचा संघ चलता था। आर्यों में उनके प्रति मानसिक गर्हा होने पर भी अथर्ववेद में उद्गीत माहात्म्य इस तथ्य को उद्घाटित करता है कि प्रभावशाली आत्म-सम्पन्न और सुसंगठित होने के कारण आर्यों को भी उन्हें उच्च स्थान देना पड़ा।

१—अथर्ववेद १५।१।१।६

ध्वनि-विज्ञान

[प्र० वि० अ० साध्वीश्री संघमित्राजी]

"शब्द्यतेऽनेनेति शब्दम्" शब्द ध्वन्यात्मक तत्त्व है, जिससे वातावरण को ध्वनित व शब्दित किया जाता है। शब्द भौतिक है या अभौतिक? इसके उत्पन्न और प्रसरण की प्रक्रिया क्या है? इस विषय में वैज्ञानिक जगत से सुन्दर तथ्य सामने आये हैं। ग्रामोफोन, वायलिन, प्यानो, टेपरेकार्डर, लाउड-स्पीकर, ट्रांजिस्टर, इयरफोन, माइक्रोफोन, टेलीफोन ये सब ध्वनि विज्ञान के परिचायक हैं। जैन साहित्य में भी शब्द पर अनेक वैज्ञानिक तथ्य छिपे पड़े हैं। वे प्रकाश में आने के लिए प्रतिभा का श्रम मांगते हैं।

जैनागम और शब्द

शब्द पुद्‌गलों का ध्वनि रूप[1] परिणाम है। यह अनन्तप्रदेशी[2] पुद्‌गल स्कन्ध के संघटन और विघटन से पैदा होता है। पञ्चास्तिकाय[3] कहता है स्कन्ध स्वयं अशब्द है। शब्द तो नाना स्कन्धों के संघर्ष से उत्पन्न है। अतः शब्द स्कन्ध प्रभव हैं।

विज्ञान ने भी यही कहा—पदार्थ के प्रकम्पन से शब्द उत्पन्न होता है, लेकिन पदार्थ स्वयं अशब्द है। अणु "एटम" से कभी शब्द पैदा नहीं होता। एटम तो प्रतिक्षण मोलिक्यूल्स (स्कंध) में प्रकम्पित होते ही रहते हैं।

शब्दोत्पत्ति[4] की प्रक्रिया दो प्रकार की है—प्रायोगिक और वैस्रसिक। प्रायोगिक-वैस्रसिक ये दोनों जैन के पारिभाषिक शब्द हैं। प्रयत्न जन्य शब्दों को प्रायोगिक कहा जाता है। सहज निष्पन्न शब्द वैस्रसिक कहलाते हैं।

शब्द ध्वन्यात्मक होते हैं; पर सभी शब्द भाषात्मक नहीं होते। वैस्रसिक शब्द अभाषात्मक होते हैं। मेघ की गर्जन सहज पैदा होती है लेकिन उसमें कोई भाषा नहीं है; प्रायोगिक शब्द अभाषात्मक भी होते हैं और

१—जैन सिद्धान्त दीपिका १ सू० १२ की टीका।

२—ठा० २.२।८१।

३—पञ्चास्तिकाय—श्लो० ८५-८६।

४—जैन सि० सू० १२ प्र० १।

भाषात्मक भी। हमारे कंठों से उत्पन्न ध्वनि दोनों प्रकार की है। भाषात्मक ध्वनि अर्थ विशेष को अभिव्यक्त करती है और अभाषात्मक ध्वनि अर्थ शून्य होती है।

प्रकारान्तर से शब्द को निम्न तीन भागों में विभक्त किया गया है :-

१—जीव शब्द २—अजीव शब्द ३—मिश्र शब्द

केवल मनुष्य के प्रयत्न से उत्पन्न शब्द जीव-शब्द है—जैसे मनुष्य की भाषा। जिसमें जीव का प्रयत्न न हो वह अजीव-शब्द है—जैसे मेघ की गड़गड़ाहट। जीव अजीव के समवेत प्रयत्न से उत्पन्न शब्द मिश्रशब्द कहलाता है जैसे वीणा बजाते समय मुख से निष्पन्न शब्द।

विज्ञान ने ध्वनि के इतने भेद-प्रभेद नहीं किये हैं। उनकी दृष्टि में ध्वनि के दो ही भेद हैं—संगीतमय और कोलाहलमय।

शब्दोत्पत्ति की प्रक्रिया

विज्ञान मानता है—ध्वनि मात्र प्रकम्पन की प्रक्रिया है। शब्दोत्पादक सभी वस्तुएं कम्पन करती हैं। बिना प्रकम्पन के कभी ध्वनि पैदा नहीं होती। घंटी कम्पन करती है तब ध्वनि उठती है। स्थिर घंटी में कभी आवाज नहीं निकलती। ट्यूनिंग फौर्क फौलाद की छड़ का बना होता है। वह U (यू) के आकार में मुड़ा रहता है। इसमें किसी भी साधन से प्रकम्पन उत्पन्न किया जाय तो 'मधुरध्वनि' निकलती है। तब इसके किनारे स्पष्ट हिलते हुए दिखाई देते हैं। जब इसमें कम्पन बन्द हो जाता है तब ध्वनि भी बन्द हो जाती है।

जैनागम कहते हैं :—यह शरीर प्रतिक्षण किसी न किसी रूप में कम्पन करता है। निष्कम्प अवस्था केवल चतुर्दश[1] गुणस्थान में व्यक्त होती है। प्रकम्पित देह पौद्गलिक वर्गणाओं को अपनी ओर खींचती है। आत्मा जब बोलने का प्रयत्न करती है तब शरीर का कण्ठ भाग प्रकम्पित होता है। इस कम्पन के साथ ध्वनि सुनाई देती है। यह ध्वनि पौद्गलिक है। काय-योग से आकृष्ट कर्म पुद्गलस्कन्ध स्वयं शब्द का आकार लेते हैं। भाषा रूप में परिणत होते हैं।

श्रवण-विज्ञान

शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। प्रत्येक इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं। श्रोत्रेन्द्रिय दो भेदों में विभक्त है—द्रव्येन्द्रिय और भावे-

---

१—जैन सि० प्र० ८ सू०

न्द्रिय[1]। द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं—निवृत्ति और उपकरण। श्रोत्रेन्द्रिय का बाह्याकार निवृत्ति है। कर्ण-शष्कुली व कदम्ब के सदृश कान की बाहरी भीतरी बनावट है। निवृत्ति की शक्ति जो वह शब्द सुनने में उपकारक बनती है वह उपकरणेन्द्रिय है।

भावेन्द्रिय भी दो भागों में विभक्त है—लब्धि और उपयोग। श्रोत्रेन्द्रिय का जो स्वात्म-जन्य क्षयोपशम है वह लब्धि है। इसके बिना श्रोत्रेन्द्रिय उपलब्ध नहीं होती। सुनने में ध्यान केन्द्रित करना उपयोग है। इनमें लब्धीन्द्रिय का स्थान प्रथम है। फिर क्रमशः निवृत्ति, उपकरण और उपयोग बनता है। अनेकों शब्द निवृत्ति को छूकर चले जाते हैं। उपकरणेन्द्रिय के सहयोगाभाव में उन्हें सुन नहीं पाते। बहुत बार अन्य सब माध्यम काम करते हैं पर उपयोग के अभाव में सुनाई नहीं देते। चारों प्रकार जब काम करते हैं तब ध्वनि जीव को सुनाई देती है।

विज्ञान मानता है कि प्रत्येक आदमी के दो कान होते हैं। एक तो कान का बाहरी भाग जो हमें दिखाई देता है, जो ध्वनि को ग्रहण करके अन्दर पहुँचाता है। इसमें एक नली होती है, जिसके बाहरी सिरे पर बाल होते हैं। ये कानों की रक्षा करते हैं। इससे आगे झिल्ली होती है। इस झिल्ली पर जाकर जब ध्वनि टकराती है तब मस्तिष्क में फैले हुए ज्ञानतन्तु, जो सुनने की क्षमता रखते हैं, इस ध्वनि को पकड़ लेते हैं। किसी कारण वश यदि कान का पर्दा फट जाय तो मनुष्य बहरा हो जाता है। ज्ञानतन्तु सुरक्षित रहने पर भी सुन नहीं पाते। ध्यान विकेन्द्रित रहने पर भी सुन नहीं पाते। जैन दृष्टि के अनुसार सुनने में भी एक क्रम रहता है। इन्द्रियाँ पहले स्थल रूप को पकड़ती हैं, क्रमशः उसके सूक्ष्म रूप का निर्णय करती हुई आगे बढ़ती हैं। इस क्रम को अवग्रहादि संकेतों में स्पष्ट किया गया है।

इन्द्रिय और पदार्थ का संयोग दर्शन है। इसे बौद्ध-दर्शन में 'सामीप्य' और नैयायिक-दर्शन में 'सन्निकर्ष' कहा जाता है। दर्शनान्तर पहले पहल जो अव्यक्त ज्ञान होता है वह व्यञ्जनावग्रह है। वस्तु का ग्रहण अर्थावग्रह है। यह व्यञ्जनावग्रह से कुछ विशद होता है। स्वरूप निश्चय में विकल्प उठाकर सम्यग् पक्ष के निर्णय पर पहुँचना 'ईहा' है। दृढ़ निश्चय हो जाना 'अवाय' है। लम्बे समय तक ज्ञान का संस्कारों में बल पकड़ लेना 'धारणा' है।

शब्द-ज्ञान भी हमें इसी क्रम से होता है। सर्वप्रथम शब्द और कानका

१—जैन सि० प्र० २

संयोग होता है। दोनों के सम्पर्क होने पर पहले पहल व्यञ्जनावग्रह में अस्पष्ट ज्ञान होता है। किसी चीज का स्पर्श हुआ ऐसा भान होता है। अर्थावग्रह में जाति, लिङ्ग आदि के निर्देश बिना केवल शब्द का ग्रहण होता है। यह शब्द या स्पर्श ऐसा विकल्प उठाकर ईहा "श्रोत्र का विषय है अतः शब्द होना चाहिये" ऐसा निर्णय देती है। अवाय निश्चय के केन्द्र बिन्दु पर पहुँच जाता है। यह ईहा के पर्यालोचन को ही पुष्ट नहीं करता पर अपना विशेष निर्णय प्रस्तुत करता है। किसी भी शब्द को पकड़ते समय प्रत्येक बार यही क्रम रहता है। अवग्रह का अतिक्रमण कभी ईहा में और ईहा का अतिक्रमण कभी अवाय में नहीं हो सकता।

सुनने के समय इस क्रम का बोध प्रायः हमें नहीं होता पर गाढ़ नींद में सुप्त मनुष्य को जगाते समय इस क्रम को समझ सकते हैं। प्रथम बार तो उसे भान ही नहीं होता। दूसरी बार उसे कुछ-कुछ अनुभव होता है। तीसरी और चौथी बार में लगता है कि कोई मुझे जगा रहा है। क्या अन्तिम आवाज से ही वह जागा? नहीं, हर आवाज ने उसके ज्ञान-तन्तुओं को झकझोरा है। पत्थर अन्तिम चोट से टूटता है, पर हर चोट उसे दुर्बल और कमजोर बनाती है।

व्यञ्जनावग्रह[1] असंख्य समय का होता है, अर्थावग्रह एक समय का। ईहा और अवाय अन्तर्मुहूर्त लेते हैं। धारणा संख्येय-असंख्येयकाल तक जीवित रहती है। सुनने का यह क्रम कितना वैज्ञानिक और यौगिक है। विज्ञान ने श्रवण पद्धति की इतनी सुन्दर व्याख्या अभी तक नही की है।

जैन दृष्टि से सभी प्रकार के पुद्‌गलस्कन्ध ध्वनि रूप में परिणित नही होते। प्रज्ञापना सूत्र में इस विषय पर बहुत ही सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है।

आत्मा भाषा के लिए जिन पुद्‌गल[2] स्कन्धों को ग्रहण करती है, वे गति प्रवृत्त नहीं किन्तु स्थिर होते हैं। अनन्त प्रदेशी स्कन्ध होते हैं। असंख्य प्रदेशी और संख्येय प्रदेशी स्कन्ध भाषा के लिए अयोग्य है। परमाणु भी भाषा रूप में परिणित नहीं हो सकते। वे स्कन्ध असंख्यात् प्रदेशात्मक क्षेत्र को रोके हुए होते हैं। इससे कम क्षेत्र को रोकने वाले पुद्‌गल स्कन्ध कभी भाषा का आकार धारण नहीं करते। आत्म प्रदेशों से स्पृष्ट का ग्रहण होता है, अस्पृष्ट का ग्रहण नहीं होता। अवगाढ़ पुद्‌गलों का ग्रहण होता है, अनव-

---

१—विशे० नि० भा० ४।३३३।

२—प० प० ११।२४

गाढ़ का ग्रहण नहीं होता। उनमें भी अनन्तरावगाढ़ का ग्रहण होता है, परम्परावगाढ़ पुद्‌गल स्कन्धों का ग्रहण नहीं होता। ये पुद्‌गल स्कन्ध चतुस्पर्शी होते हैं। औदारिक[1], वैक्रिय, आहारक[2] तीनों शरीर के द्वारा इनका ग्रहण होता है, वचन योग के द्वारा उनका विसर्जन।

भाषा वर्गणाओं[3] का ग्रहण सान्तर और निरन्तर दोनों प्रकार से होता है। सान्तर की पद्धति में प्रत्येक समय के व्यवधान से पुद्‌गल स्कन्धों का ग्रहण होता है और उसी प्रकार से निसर्ग भी। यह सान्तर पद्धति का जघन्य रूप है। अधिक से अधिक असंख्यात् समय के अन्तर से ग्रहण होता है। निरन्तर की पद्धति में प्रति समय ग्रहण होता रहता है लेकिन निसर्ग निरन्तर नहीं होता, क्योंकि प्रथम समय में ग्रहण होता है और द्वितीय समय में निसर्ग होता है। अगृहीत का निसर्ग होता नहीं। प्रथम समय में केवल ग्रहण होता है। निसर्ग नहीं होता। अन्तिम समय में केवल निसर्ग होता है, ग्रहण नहीं होता। मध्य में ग्रहण और निसर्ग दोनों चालू रहते हैं।

गति विषयक विज्ञान

ध्वनि हमारे कानों तक कैसे पहुँचती है, इसके लिए केवल दो ही रूप कल्पना में आ सकते हैं :—

१—ध्वनि उत्पादक स्थान से छोटे-छोटे टुकड़े निकलते हैं, जो इन आँखों से दिखाई नहीं देते हैं। लेकिन हमारे कानों को छूकर ध्वनि का अनुभव कराते हैं। इस थ्योरी को विज्ञान में करपसक्यूलर थ्योरी कहते हैं।

२—ध्वनि उत्पादक शक्ति-केन्द्र के समान काम करता है। वह हवा में लहरें उत्पन्न करता है। वे लहरें हमारे कान से टकरा कर ध्वनि का अनुभव कराती हैं। इसे विज्ञान में वेभथ्योरी 'लहर का सिद्धान्त' कहते हैं।

इन दोनों में से विज्ञान ने प्रमाणित प्रयोगों के आधार पर 'वेभथ्योरी' 'लहर के सिद्धान्त' को उपयुक्त माना है।

लहर-सिद्धान्त के समर्थन में विज्ञान ने बताया कि ध्वनि में आवर्तन, परावर्तन[4] और विवर्तन[5] बनते हैं। ये सब इस सिद्धान्त के बिना फलित नहीं

१—विशेषावश्यक भा० ३७५ नि० ८।६

२—वि० आ० भा० ति० ८।३७४

३—प० भा० ११।१६

४—परावर्तन - प्रतिध्वनि को कहते हैं।

५—ध्वनि की लहरों के मुड़ने को विवर्तन कहते हैं।

हो सकते। इन्टरफीयरेन्स का सिद्धान्त[1] तो इसे और भी प्रभावित करता है। जैसे विपरीत दिशाओं से आनेवाली ध्वनि की लहरें विलीन भी हो जाती हैं, तीव्र भी।

ध्वनि चलने में किसी न किसी माध्यम को चुनती है, विना माध्यम के चल नहीं सकती। यह अनेक प्रयोगों से प्रमाणित हो चुका है। कांच के बर्तन में घन्टी बजती हुई सुनाई देती है। पर यदि पम्प द्वारा हवा को धीमे-धीमे निकालने लगे तो ध्वनि मन्द होने लगती है। सम्पूर्ण निकालने पर घन्टी हिलती हुई दिखाई देती है। पर ध्वनि सुनाई नहीं देती। इससे लगता है कि ध्वनि प्रसार के लिए हवा एक माध्यम है जिससे ध्वनि चलती है। इसी प्रकार लोहा, ताम्बा, जल, पृथ्वी आदि अनेक माध्यम हैं जिससे ध्वनि चलती है। विज्ञान की दृष्टि से प्रकाश से ध्वनि की गति बहुत ही मन्द है। वर्षा ऋतु में बादल की गरज और बिजली की चमक एक साथ उत्पन्न होती है। किंतु प्रकाश पहले दिखाई देता है, गरज बाद में सुनाई देती है। प्रकाश सेकेण्ड में जितनी दूरी को पार करता है, ध्वनि कई घन्टो में भी उतनी दूरी पार नहीं कर सकती।

ध्वनि उत्पन्न होती है तब ध्वनि केन्द्र के चारों ओर लहरें बनती हैं। ये हवा की तहों में कम्पन करती हुई आगे बढ़ती हैं। इन लहरों से प्रकम्पित हवा की तहें जब कानों के परदे से टकराती हैं तब उसमें कम्पन होता है और ध्वनि सुनाई देती है। इन लहरो में जो गति होती है वह माध्यम की इलाष्टिसिटी[2] और उसके घनत्व व आकाशीय वातावरण पर निर्भर करती है। किन्तु व्यक्ति की या ध्वनि उत्पादक यन्त्र की क्षमता पर निर्भर नहीं करती।

ओक्सीजन हाइड्रोजन की अपेक्षा १६ गुणा भारी है। अतः हाइड्रोजन में आक्सीजन की अपेक्षा ध्वनि की गति ४ गुना अधिक होती है। गैस की अपेक्षा ध्वनि की गति पाँच गुना अधिक है। ठोस में ध्वनि की गति बहुत ही तीव्र होती है। लोहे में ध्वनि की चाल १.५ गुना अधिक है। तापक्रम से भी ध्वनि की गति में अन्तर आता है। ग्रीष्म ऋतु में जब तापक्रम बढ़ जाता है तब ध्वनि की गति भी बढ़ जाती है तथा सर्दी की मौसम में घट जाती है।

१—इन्टरफीयरेन्स—एक दूसरे को प्रभावित करनेवाली ध्वनि की क्रिया को कहते हैं।

२—बाहरी ताकत से किसी वस्तु के सेप और साइज में परिवर्तन कर दिया जाए, लेकिन उस ताकत के हटाने पर वस्तु का मूल रूप में परिवर्तन हो जाना—पदार्थ के इस गुण को 'इलास्टिसिटी' कहते हैं।

पानी के भाप का भी ध्वनि की गति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। पानी के भाप का घनत्व हवा के घनत्व की अपेक्षा कम होता है। अतः भाप की मात्रा बढ़ने पर ध्वनि की गति कम हो जाती है। हवा का घनत्व कम हो जाता है। हवा का घनत्व घटने पर ध्वनि की गति तीव्र और बढ़ने पर ध्वनि की गति मन्द हो जाती है। यही कारण है कि झील, नदी के किनारे और वर्षा ऋतु में ध्वनि की गति बढ़ जाती है। इस ऋतु में दूर-दूर तक मेंढकों की ध्वनि सुनाई देती है।

१—एक कम्पन में जितना समय लगता है वह कम्पनकाल कहलाता है।

२—एक सैकिण्ड में जितनी बार कम्पन होता वह कम्पनाङ्क है।

४—एक कम्पन जितनी दूरी को पार करता है वह कम्पन का विस्तार है।

ध्वनि की स्थूलता और सूक्ष्मता कम्पनकाल, कम्पनाङ्क व कम्पन-विस्तार पर निर्भर करती है।

कम्पनाङ्क जितना अधिक होता है, ध्वनि उतनी ही सूक्ष्म होती है। कम्पनांक कम होता है, ध्वनि स्थूल होती है। पुरुषों के कण्ठों में कम्पनाङ्क कम होते हैं, महिला के अधिक होते हैं। कम्पनका अधिक विस्तार ध्वनि को तीव्र बनाता है। कम्पन का विस्तार दुगुना कर दिया जाये तो ध्वनि की तीव्रता चौगुनी हो जाती है। यदि कम्पन का विस्तार तिगुना कर दिया जाये तो ध्वनि की तीव्रता नौगुनी हो जाती है और चौगुना करने पर सोलह गुनी।

माध्यम का घनत्व भी ध्वनि की तीव्रता को बढ़ाता है। हाइड्रोजन हल्की गैस है, अतः उसमें मन्द ध्वनि पैदा होती है। कार्बन डाइ-आक्साइड हवा की अपेक्षा भारी है, अतः उसमें तीव्र ध्वनि पैदा होती है।

कान ध्वनि को सुनते हैं[1], पर श्रवणीयता की भी सीमा रहती है। कम्पन से ध्वनि पैदा होती है। हम हाथ को इधर-उधर हिलाते हैं तब कम्पन तो होता है, पर वह कम्पनाङ्क इतना कम होता है कि उससे उत्पन्न ध्वनि हमें सुनाई नहीं देती। स्वस्थ मनुष्य के कान प्रति सेकेण्ड २० कम्पन की ध्वनि को सुन सकते हैं। कुछ १६ कम्पन की ध्वनि को सुन लेते हैं। लेकिन अधिकांशतः २४ कम्पन प्रति सेकेण्ड की ध्वनि सुनते हैं। कम्पनाङ्क को बढ़ाते जाएं तो एक ऐसी सीमा आ जाती है जहाँ मनुष्य के कानों से सुनना असम्भव हो जाता है। यह सीमा अधिक से अधिक ४० हजार कम्पन प्रति सेकेण्ड तक है। इससे अधिक कम्पनांक को सुन नहीं सकते। कुत्ते के कान इससे आगे भी सुन सकते हैं।

१—सामान्य भौतिक विज्ञान।

जैनागम[1] कहते हैं कि वक्ता के द्वारा विसर्जित मूल रूप हमें कभी सुनाई नहीं देता। किन्तु हम मिश्रित और वासित शब्दों को ही सुनते हैं। जैसे किसी पुष्प से निकलने वाला गन्ध द्रव्य अनेक रजों से मिश्रित हो जाता है। वह मिश्रित रूप ही नाक तक पहुँचता है। इसी प्रकार वक्ता शब्दों को छोड़ता है। वे शब्द छओं दिशाओं में फैलते हुए सम श्रेणी से चलते हैं। वे अन्य अनेक पुद्‌गल स्कन्धों से निर्मित हो जाते हैं। सम श्रेणी के श्रोता इन मिश्रित शब्दों को सुनते हैं। ये शब्द अनेक अन्य पुद्‌गलों को आन्दोलित करते हुए उनमें भी शब्द-शक्ति पैदा कर देते हैं। वे वासित शब्द कहलाते हैं। विषम श्रेणी के श्रोता इन वासित शब्दों को सुन पाते हैं।

विज्ञान की दृष्टि में ध्वनि तरंगात्मक है। एक तरंग दूसरी तरंग में शब्द शक्ति पैदा करती है। आगे-से-आगे बढ़ती हुई अन्तिम तरंग कान के परदे को तरंगित करती है तब शब्द सुनाई देता है। जैन दृष्टि से, वक्ता द्वारा विसर्जित शब्द के मोलेक्यूल्स भाषा वर्गणा के मोलेक्यूल्स में शब्द शक्ति पैदा कर देते हैं। ये वासित मोलेक्यूल्स शब्द जब इन्द्रिय द्वार को खटखटाते हैं तब ध्वनि सुनाई देती है।

ऐसा लगता है कि चिन्तन की इन दो सरिताओं में समान जल बह रहा है। समग्र दृष्टि से एक ही है, यह तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि विज्ञान ध्वनि को अभौतिक मानता है शक्ति रूप मानता है। विज्ञान की दृष्टि में ताप प्रकाश विद्युत् चुम्बक ये सभी शक्ति के रूप है; जैन दृष्टि से ये भौतिक हैं। कोई शक्ति पदार्थ से भिन्न नहीं है। विज्ञान जिसे शक्ति मानता है, जैन दृष्टि से वे सूक्ष्म पुद्‌गल के रूप हैं। आश्चर्य है कि व्यक्ति और पदार्थ का अन्तर भी आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से मिटता जा रहा है। विज्ञान भी आज फिर से शक्ति को द्रव्य के रूप में मानने लगा है। उन्नीसवीं सदी तक यह माना जाता था कि द्रव्य और शक्ति भिन्न-भिन्न हैं। एक दूसरे से स्वतन्त्र है। क्योंकि उनका मत था कि द्रव्यों में शक्ति जोड़ने और घटाने पर किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं आता। मात्रा हमेशा वही रहती है। द्रव्य को बिना बाहरी शक्ति दिए काम नहीं कराया जा सकता। शक्ति स्वयं बिना पादार्थिक साधन के व्यक्त नहीं होती। लेकिन उपरोक्त धारणा को आइंस्टीन की 'रिलेटीविटी' थ्योरी ने बदल दिया है। इस थ्योरी

१—वि० आ० नि० भा० ५।३५१, ५२, ५३, ५४

के अनुसार द्रव्य की मात्रा उसकी गति के बढ़ने पर बढ़ती है। प्रकाश की गति पर पहुँचने से द्रव्य की मात्रा अनन्त हो जाती है। गेलेलियो और न्यूटन की दृष्टि में शक्ति को पूर्णतः भारहीन माना जाता था; लेकिन आइन्स्टीन के सापेक्षवाद में यह भाररहित तत्त्व नहीं रहा; क्योंकि उसमें निश्चित मात्रा में पदार्थत्व है। जैसे तीन हजार टन पत्थर के कोयले जलाने से जितना ताप उत्पन्न होता है उसका वजन लगभग एक माशे के बराबर है। शक्ति को पदार्थ न मानने का केवल यही कारण था कि उसमें अत्यन्त स्वल्प भार होता है। अतः उसे भार-शून्य पदार्थ माना जाता है। आधुनिक युग में द्रव्य को शक्ति के रूप में पूर्णतः परिवर्तित किया जाता था। जैसे एटम बम के निर्माण में पादार्थिक अणु पूर्णतः शक्ति का रूप धारण कर लेते हैं। लेकिन कोई भी तत्त्व सत् से असत्[1] नहीं बनता; यह तर्क-शास्त्र का अकाट्य सिद्धान्त है। विज्ञान का मत भी इससे भिन्न नहीं है। अतः अणु का शक्ति के रूप में परिवर्तन होने पर भी उसका पदार्थत्व कहीं चला नहीं जाता। निष्कर्ष की भाषा में शक्ति भी पदार्थ से पृथक् नहीं रही। अतः ध्वनि शक्ति रूप होते हुए भी भौतिक है। पुद्गलों का सूक्ष्म रूप है।

अनेक भारतीय दार्शनिकों ने भी शब्द को अपौद्गलिक माना है। वैशेषिक और सांख्य मानते हैं—शब्द आकाश का गुण है। क्योंकि गुण अपने गुणी में रहता है। आश्रय पृथ्वी आदि हैं। पर पृथ्वी आदि का गुण काठिन्य आदि धर्म है। इनका गुण शब्द नहीं हो सकता। अतः शेष आकाश का गुण ही शब्द है। आकाश अभौतिक है तो शब्द भी अपौद्गलिक होगा। उसका पुद्गलत्व किसी भी प्रकार से प्रमाणित नहीं होता। क्योंकि शब्द[2] स्पर्श रहित है। अत्यन्त[3] सघन प्रदेशों में उसका प्रवेश रुकता नहीं है। शब्द के पूर्व और पीछे अवयव नहीं होते। वह सूक्ष्म मूर्त द्रव्यों का प्रेरक नहीं है।

जैन-दार्शनिको ने इन प्रश्नों का समाधान बहुत ही युक्तिसंगत दिया है। प्रथम प्रश्न का समाधान देते हुए कहा है—शब्द भाषावर्गणा के पुद्गलों से निर्मित होते हैं। पुद्गल स्पर्श से रहित नहीं होता, फिर तज्जन्य शब्द में स्पर्श क्यों नहीं है।

१—जैन द० आ० वि० पृ० ६६
२—स्याद्वाद मंजरी पृ० १७३
३— ,, ,, पृ० १७४

गन्ध द्रव्य के पुद्गल अनुकूल[1] हवा में बहुत जल्दी हमारे नाक तक पहुँच जाते हैं। प्रतिकूल हवा में पार्श्वस्थित मनुष्यों के पास भी नहीं पहुँचते। इसी प्रकार अनुकूल हवा में शब्द बहुत जल्दी सुनाई देते हैं, प्रतिकूल हवा में कठिनता से। यदि शब्द पुद्गल नहीं है तो यह वायु का व्याघात कैसे हो सकता है? भेरी आदि से उत्पन्न तीव्र शब्दों को सुनने से मनुष्य कभी-कभी बहरा हो जाता है। कान का पर्दा फट जाता है। यदि उसमें स्पर्श नहीं है, तो बहरे होने का क्या कारण है?

गन्ध द्रव्य पौद्गलिक होते हुए भी सघन प्रदेशों में प्रवेश कर सकता है फिर शब्द प्रवेश क्यों नहीं कर सकता?

वास्तविक तथ्य तो यह है कि हम जिसे सघन समझते हैं उसमें भी सूक्ष्म पुद्गल स्कन्धों के लिए बहुत छिद्र रहते हैं। पूर्व और पीछे अवयव तो बहुत-सी पौद्गलिक वस्तुओं को दिखाई नहीं देते। बिजली चमकती है पर कोई भी उसका रूप पूर्व या पीछे देख नहीं सकता। बहुत-सी सूक्ष्म रजें किसी अन्य पदार्थ में हलचल पैदा नहीं करती, फिर भी उनका पुद्गलत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

अन्य सभी इन्द्रियाँ पुद्गल पर्याय को ग्रहण करती हैं फिर एक श्रोत्रेन्द्रिय अपुद्गल को कैसे ग्रहण कर सकती है?

इन्द्रियों के सभी विषय पौद्गलिक हैं। अपुद्गल इन्द्रिय ज्ञान में बिम्बित नहीं हो सकते। इस प्रकार हर तर्क से शब्द पौद्गलिक प्रमाणित होता है। पुद्गल का धर्म मूर्त है, अतः शब्द भी मूर्त है। मूर्त्त कभी अमूर्त्त का गुण नहीं हो सकता।

जैन साहित्य में शब्द का गत्यात्मक चिन्तन बहुत ही विचित्र है। वक्ता[2] शब्द वर्गणाओं को तीव्र प्रयत्न से छोड़ता है और मन्द प्रयत्न से भी। मन्द प्रयत्न से मुक्त[3] वर्गणाएं अभिन्न रूप से निकलती है। असंख्यात् अवगाहन वर्गणाओं को लांघने के बाद उनमें भेद होता है। भेद होने के बाद संख्यात् योजन पार करते उनका विध्वंस हो जाता है। उससे आगे उनकी गति नहीं है। तीव्र प्रयत्न से मुक्त शब्द वर्गणाएं भिन्न-भिन्न होकर निकलती हैं। यह भेद पाँच प्रकार का होता है। खण्ड भेद, प्रतर भेद, चूर्णिका भेद, अनुतटिका भेद, उत्करिका भेद।

१—जैन सि० दी० १८७

२—वि० आ० भा० ३८०

३—विशे० आ० नि० भा० ३८१

१—खण्ड भेद—बांस की तरह टुकड़े-टुकड़े होते हैं[१]।

२—प्रतर भेद—अभ्रपटल की तरह भेद होता है।

३—चूर्णिका भेद—प्रक्षिप्त चूर्ण की तरह भेद होता है।

४—अनुतटिका—तालाब आदि के फटने पर भेद होता है।

५—उत्करिका भेद—मूंग की फली की तरह भेद होता है।

ये तीव्र प्रयत्न से प्रेरित भिन्न-भिन्न[२] होकर निकलनेवाली शब्द वर्गणाएं बड़ी सूक्ष्म होती हैं। सूक्ष्म तत्त्व में शक्ति अधिक होती है। अणुशक्ति से आज सारा विश्व भयभीत है। शब्द वर्गणाएं भी सूक्ष्मता के कारण अन्य अनेक भाषायोग्य वर्गणाओं में शब्द शक्ति पैदा करती हुई और अपने में अनन्त गुण वृद्धि करती हुई समय मात्र में लोकान्त तक पहुँच जाती है। ३।४।५। समय में सम्पूर्ण लोक को व्याप्त कर लेती है। व्याप्त होने का क्रम जैन समुद्घात[३] की तरह है।

प्रथम समय में भाषावर्गणा छओं[४] में दण्ड बनाती है। यह दण्ड-विस्तार चार अंगुल का होता है। क्योंकि वक्ता का मुख इतना ही चौड़ा होता है। दूसरे समय में दण्ड से सीधी मन्थान की क्रिया होती है। समुद्घात की प्रक्रिया में दण्ड से कपाट बनते हैं, पर शब्द प्रसरण की प्रक्रिया में कपाट की अपेक्षा नहीं रह जाती। क्योंकि समुद्घात की प्रक्रिया में आत्म-प्रदेशों का केवल विस्तार होता है; संख्या में न्यूनाधिकता नहीं होती। अतः उनका विस्तार क्रमशः होता है। किन्तु शब्द वर्गणा दूसरों में अपनी शक्ति प्रदान करती हुई उनको भी अपने अनुरूप बना लेती है। अतः प्रथम समय में ही उनमें अनन्त गुण विकास हो जाता है। कपाट की इसलिए कोई अपेक्षा नहीं रहती। तृतीय समय में शब्द वर्गणाएं रिक्त स्थान को पूर्ण कर देती हैं। इस प्रकार तीन समय में ही शब्द सम्पूर्ण लोक को व्याप्त कर लेता है। ४।५ समय[५] तो उन्हें क्वचिद् लगते हैं। जैसे कोई वक्ता त्रसनालिका से बाहर जाकर किसी दिशा से बोलता है तब नालिका के अन्दर प्रवेश करते उन्हें एक समय लग जाता है। तीन समय में उन्हें फिर अपना विस्तार करना होता है। जब कोई

१—प० भा० प० ११।२८

२—वि० आ० नि० भा० ३८२

३—वि० आ० नि० भा० ३८३

४—वि० आ० भा० ३८४।८५

५—विशेषा० आ० भा० ३८६

वक्ता त्रसनालिका से बाहर विदिशा से बोलता है, तब उसे एक समय विदिशा में आने के लिए, द्वितीय समय त्रसनालिका में प्रवेश करते समय और शेष तीन समय पूर्व विहित प्रक्रिया में लग जाते हैं। इस प्रकार अधिक से अधिक पाँच समय और कम से कम तीन समय में तीव्र प्रयत्न से प्रेरित शब्द सम्पूर्ण लोक को व्याप्त कर लेते हैं।

विशेषावश्यक भाष्य का यह प्रतिपादन कुछ समझ में नहीं आ रहा है कि त्रसनालिका से बाहर बोलने वालों के शब्द पहले त्रसनालिका के अन्दर प्रवेश करते हैं फिर उनका समग्र लोक में विस्तार होता है। पर यह क्यों? जब कि शब्द वर्गणा का स्वभाव समग्र लोक में फैलने का है तब बाहर मुक्त शब्द वर्गणाएँ त्रसनालिका के अन्दर प्रवेश पाने की चेष्टा क्यों करती हैं?

जैन दर्शन का गत्यात्मक चिन्तन आधुनिक विज्ञान से विरुद्ध पड़ता है। क्योंकि विज्ञान की दृष्टि से शब्द की गति बहुत ही मन्द है। जब कि जैन साहित्य की दृष्टि से गति बहुत तीव्र है। लेकिन गहराई से चिन्तन करने पर यह विरोध भी पट जाता है। विज्ञान में शब्द गति की सुनाई देने के अनुपात से मापी गई है। शब्द जहाँ से छोड़ा जाता है, उन्हें कानों तक पहुँचने में कितना समय लगता है और कितनी दूरी से वह शब्द पहुँचा है—इन सबको गुणों के आधार पर फलित करते हैं।

जैन दृष्टि से यद्यपि शब्द प्रथम समय में ही लोकान्त तक पहुंच सकता है, लेकिन कान कभी किसी भी शब्द को अन्तर मुहूर्त्त से पहले ग्रहण करने की क्षमता नहीं रखते। बारह[1] योजन से अधिक दूरी का शब्द सुन नहीं सकते। जैन दर्शन का अन्तर मुहूर्त और विज्ञान की दृष्टि से प्रति घण्टा ११०० माइल की गति में बहुत अन्तर नहीं रह जाता। विज्ञान में भी यह ११०० माइल की गति केवल हवा के माध्यम से है। दूसरे अन्य माध्यम में गति और भी तेज हो जाती है। पृथ्वी, लोहे और कांच में ध्वनि बहुत ही तीव्रता से चलती है। समुद्र के ऊपरी सतह पर बोले जाने वाले शब्द तह तक बहुत ही जल्दी पहुंच जाते हैं। इससे प्रमाणित होता है कि ध्वनि की तरंगों में चलने की क्षमता तो है पर उसकी गति माध्यम की कुशलता पर निर्भर करती है। माध्यम यदि योग्य होता है तो गति तेज हो जाती है, अन्यथा मन्द।

आज विज्ञान में वैज्ञानिक साधनों के आधार पर ध्वनि को पकड़ कर उसे सहस्रों वर्षों तक जीवित रखा जा सकता है। जैन दर्शन मानता है कि प्रत्येक

१—विशेषा० आ० ३४८

पुद्गल की स्थिति जघन्य एक समय और अधिक से अधिक असंख्यात् समय की होती है। इस मान्यता से शब्द भी उतने समय तक उस रूप में रह सकते हैं।

बृहत्कल्प[१] भाष्य में एक प्रसंग दिया है—एक राजा के गर्दभ कन्या थी। राजा ने प्रतिज्ञा पूर्वक यह बात मन्त्री से कह दी। लेकिन मन्त्री से रहा नहीं गया, तब उसने जंगल में किसी वृक्ष के कोटर में मुँह डालकर यह बात कह दी। कुछ समय बाद किसी ने उसी वृक्ष की बांसुरी बनवाई। बजाने लगा तब उससे ध्वनि निकली। "गर्दभ कन्या राजा, गर्दभ कन्या राजा।" यह प्रसंग स्पष्टतः शब्द के स्थायित्व पर प्रकाश डालता है।

विज्ञान ने कहा—प्रत्येक ध्वनि की तीव्रता का तृतीयांश प्रत्येक फीट की दूरी पर खत्म हो जाता है। सैनिकों के पदचाप से एक साथ उठने वाली सदृश ध्वनियाँ कभी-कभी पुल को भी तोड़ सकती हैं। ध्वनि का प्रभाव वनस्पति वर्ग पर बहुत पड़ता है। सुन्दर गानों से खेतियाँ शीघ्र फलित होती हैं। आज कल इस प्रकार के प्रयोग किये जा रहे हैं और सफल भी हैं। भारतीय परम्परा से हम सुनते आए हैं कि तानसेन जब गाता तब दीपक जल उठते थे। उस राग का नाम भी दीपक राग है। विज्ञान में भी कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं। कहते हैं—एक बहुत[२] लम्बा पेड़ किसी मन्दिर के सामने था। शाम को जब मंदिर में प्रार्थनाएँ होतीं, घंटियाँ बजतीं, तब वह ६० अंशका कोण बनाता हुआ झुक जाया करता था। लोग पेड़ की भक्ति से दांतों तले अंगुली दबाते थे। उसकी पूजा करते थे। लेकिन जगदीशचन्द्र बोस ने बताया कि झुकने में पेड़ की भक्ति नहीं, किन्तु मन्दिर में बजने वाली घंटियों की मधुर ध्वनि का आकर्षण है।

जैन दर्शन[३] में और भी न जाने कितने तथ्य स्पष्ट हुए हैं। तार का सम्बन्ध न होते हुए भी सुघोषा घण्टे का शब्द असंख्य योजन की दूरी पर रहे हुए घंटों में प्रतिध्वनित होता है। यह विवेचन उस समय का है जब रेडियो और वायरलेस आदि का अनुसन्धान नहीं हुआ था।

भारतीय इतर दर्शनों में शब्द सम्बन्धी विविध विचार मिलते हैं। सांख्य दर्शन में शब्द प्रकृति का विकार है। नित्य[४] शब्दवादी मीमांसक शब्द को

१—बृहत्कल्प भा०

२—ज्ञानोदय अक्टूबर १९५६ पृ० २२६

३—जैन तत्व चिन्तन पृ० १५

४—स्याद्वाद मञ्जरी पृ० ४३०—"शब्दोऽनित्यः व्योमगुणत्वात् व्योम-परिणामवत्"। —प्रभाकर

नित्य मानते हैं। क्योंकि इनके दर्शन में वेद नित्य और अपौरुषेय है, अतः शब्द भी नित्य स्वीकार कर लिया गया है। इनका कहना है कि एक स्थान पर प्रयुक्त गकार आदि वर्णों का सर्वत्र बोध होता है। शब्द का एक बार ग्रहण कर लेने पर अन्यत्र उसी संकेत से वही अर्थ ग्रहण करते हैं। यदि शब्द नित्य नहीं होता तो पितामह आदि द्वारा निश्चित शब्द संकेतों से हमें ज्ञान कैसे होता है। नित्य होने पर शब्द प्रतिक्षण सुनाई देने चाहिएं, यह तर्क युक्ति संगत नहीं है क्योंकि ओष्ठ आदि का वायु से सम्बन्ध होता है तभी शब्द की अभिव्यक्ति होती है। अतः शब्द की व्यञ्जना वायु में ही उत्पत्ति और विनाश होता है। शब्द अनित्य है।

बौद्ध दर्शन में कहा गया है—शब्दों की योनि विकल्प[1] है और विकल्पों की योनि शब्द है। इनमें परस्पर कार्य-कारण सम्बन्ध है। लेकिन शब्द अर्थ का कभी स्पर्श नहीं करते।

जैन दृष्टि से शब्द और अर्थ का तादात्म्य सम्बन्ध है। शब्द अर्थ से न भिन्न ही है और न अभिन्न[2] ही। अभिन्न होता तो मोदक शब्द के उच्चारण से पेट भर जाता यदि भिन्न होता तो मोदक शब्द से मोदक पदार्थ का ज्ञान नहीं होता। अतः शब्द और अर्थ परस्पर में भिन्नाभिन्न हैं। नैयायिक[3] सकारण होने से, ऐन्द्रियक और विनाशी होने से अनित्य मानते हैं।

व्याकरणाचार्यों ने भी शब्दोत्पत्ति की प्रक्रिया पर बहुत सूक्ष्म प्रकाश डाला है। हमारे किस अवयव के संस्पर्श से कौन सा अक्षर प्रतिध्वनित है। स्पृष्ट, इषत्स्पृष्ट, विवृत, इषत्विवृत आदि भेदों के माध्यम से सुन्दर विवेचन हुआ है। भाषात्मक शब्द की निर्मिति में लगभग हमारे शरीर के २६ अवयव काम करते हैं। जहाँ से शब्द पैदा होते हैं वे स्थान कहलाते हैं और जो प्रक्रिया होती है उसे प्रयत्न कहते हैं। जिन-जिन शब्दों के स्थान-प्रयत्न तुल्य हैं वे समानवर्गीय कहलाते हैं। इस प्रकार व्याकरणाचार्यों ने बहुत सूक्ष्म ग्रन्थियाँ खोली हैं।

सूक्ष्म दृष्टि से जैन दर्शन में विवेचित शब्द-सम्बन्धी ग्रन्थियों को खोलें तो आधुनिक विज्ञान में त्रुटित एटम की तरह अनेकों रहस्य स्पष्ट होते दिखाई

१—स्याद्वाद मं॰ पृ॰ १७५

२—स्या॰ पृ॰ १७५

३—स्या॰ सू॰ २।२।१३

देंगे। स्थूल दृष्टि से निम्नोक्त पंक्तियों में ही जैन-दर्शन का नवनीत आ जाता है कि शब्द आत्मा[1] नहीं अनात्म है। रूपी है। भाषा वर्गणा के पुद्गलों का विशिष्ट परिणाम है।

भाषा का आकार वज्र जैसा होता है। क्योंकि वह समग्र लोक में व्याप्त होती है, लोक वज्राकार है। लोकान्त में उसका अन्त होता है। वैसे भाषा दो समय में बोली जाती है। कान स्पष्ट[2] शब्दों को सुनते हैं। समग्र भारतीय साहित्य में सर्वत्र शब्द-विज्ञान के बीज बिखरे पड़े हैं; लेकिन जैन-दर्शन का शब्द विज्ञान बहुत ही मौलिक चिन्तन से गर्भित है।

१—भगवती १३-७।

२—पन्न० ११।१५

भगवान् महावीर कालीन धार्मिक परम्पराएं

[साध्वीश्री यशोधरा]

मानव प्रकृति का यह विचित्र रहस्य है कि जब उसके सामने विरोधी विचार आते हैं, विचारों में संघर्ष उत्पन्न होता है। परिणामतः चिनगारी के रूप में नई मान्यताएँ जन्म पाती हैं और वाद-प्रतिवादों के कोलाहल से मानस भर जाता है। यह क्रम आज से ही नहीं; इतिहास इसे सदा दोहराता आया है। आज से २५०० वर्ष पूर्व का इतिहास इसका साक्षी है।

भगवान् महावीर का युग धार्मिक मतवादों और कर्मकाण्डों से संकुल था। बौद्ध साहित्य के अनुसार उस समय ६३ श्रमण सम्प्रदाय[1] विद्यमान थे। जैन साहित्य में तीन सौ तिरेसठ[2] धर्म मतवादों का उल्लेख मिलता है। इनके भेदोपभेद की शास्त्रों में विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है। उस समय ये सब वट-शाखा की तरह विस्तार पा रहे थे। संक्षेप में सारे सम्प्रदाय ४ वर्गों में समाते थे। भगवान् ने उन्हें चार समवसरण[3] कहा है—

(१)—क्रियावादी (२)—अक्रियावादी (३)—विनयवादी—(४)—अज्ञानवादी। यह उल्लेख आचारांग, सूत्रकृतांग, भगवती, समवायांग, नन्दी आदि सूत्रों में भी उपलब्ध होता है।

बौद्ध साहित्य भी संक्षिप्त दृष्टि से छह श्रमण सम्प्रदायों का उल्लेख करता है। जैन ग्रन्थों के समान ही बौद्ध ग्रन्थों में भी तात्कालिक समाज और धर्म का चित्रण मिलता है। बुद्ध के समकालीन इन छह श्रमण सम्प्रदायों के छ तीर्थंकरों का उल्लेख करते हुए स्थान-स्थान पर उनके धार्मिक विश्वासों पर प्रकाश डाला गया है। वे छह तीर्थंकर निम्नलिखित थे—

(१)—पूर्ण काश्यप (अक्रियावादी)

(२)—मंखलिगोशाल (दैववादी)

(३)—अजित केशकम्बली (जड़वादी-उच्छेदवादी)

१—यानि च तीणि यानि च सट्ठि। सु० नि० (समियसुत्त)।

२—असीय सयं—सू० नि० ११८ गा०।

३—स्थानांग सू० ४।४।३४५

४—दी० नि० २ सा० सु० (सामञ्ञफलसुत्त)

(४)—प्रकुद्ध कात्यायन (अकृतवाद)
(५)—निग्गंठ नाथपुत्त (चातुर्याम संवर)
(६)—संजय बेलट्ठिपुत्र (अनिश्चिततावाद)

(१) पूर्णकाश्यपः—उसका कहना था कि किसी ने कुछ किया, करवाया, काटा या कटवाया, तकलीफ दी या दिलवाई, शोक किया या करवाया, कष्ट सहा या दिया, डरा या दूसरे को डराया, प्राणी की हत्या की, चोरी की, डकैती की, घर लूट लिया, बटमारी की, परस्त्रीगमन किया, असत्य वचन कहा फिर भी उसको पाप नहीं लगता। तीक्ष्णधार के चक्र से भी अगर इस संसार के सब प्राणियों को मारकर ढेर लगा दे तो भी उसे पाप न लगेगा। गंगा नदी के उत्तर किनारे पर जाकर भी कोई दान दे या दिलवाए, यज्ञ करे या करवाए तो कुछ भी पुण्य नहीं होने का। दान, संयम, धर्म, सत्य भाषण इन सबों से पुण्य-प्राप्ति नहीं होती। इसके वाद को अक्रियावाद कहा गया।

(२)—दूसरे संघ का आचार्य मंखलि गोशाल था। कहीं-कहीं मस्करी का अर्थ 'पाणिनी' ने गृहत्यागी किया है। इससे ध्वनित होता है—साधु गोशाल। पाली में भी इस शब्द की व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है। वहां 'मक्खलि' का अर्थ किया गया है=मागिर। यह गोशाला में उत्पन्न हुआ। अतः गोशालक कहलाया। उसका कहना था कि प्राणी के अपवित्र होने में न कुछ हेतु है न कुछ कारण। बिना हेतु के और बिना कारण के ही प्राणी अपवित्र होते हैं। प्राणी की शुद्धि के लिए भी कोई हेतु या कारण नहीं है। बिना हेतु-कारण के ही प्राणी शुद्ध होते हैं। खुद अपनी या दूसरे की शक्ति से कुछ नहीं होता। बल, वीर्य, पुरुषाकार, पराक्रम ये कुछ नहीं हैं। सब प्राणी बलहीन और निर्वीर्य हैं। जो नियति बल से होने वाला है वह अवश्य होकर रहेगा और जो नहीं होने का है वह लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं होता। समस्त प्राणी नियति (भाग्य), संगति और स्वभाव के द्वारा परिणत होते हैं। अक्लमंद और मूर्ख सबके दुःखों का नाश ८० लाख के महाकल्पों के फेर में होकर जाने के बाद ही होता है। इस वाद को किसी ने संसार शुद्धिवाद कहा तो किसी ने नियतिवाद।

(३)—तीसरे संघ का प्रमुख अजितकेशकम्बली था। यह मनुष्यों के केशों का कम्बल धारण करता था। अतः लगता है 'केशकम्बली' इस अपनाम से विश्रुत हुआ। इसका अभिमत था—दान, यज्ञ तथा होम यह सब कुछ नहीं हैं, भले बुरे कर्मों का फल नहीं मिलता, न इहलोक है न परलोक;

चार भूतों से मिलकर मनुष्य बना है। जब वह मरता है तो उसमें का भूतांश भूतों में मिल जाता है, इन्द्रियां आकाश में मिल जाती हैं। मरे हुए मनुष्य को जब चार आदमी अर्थी पर सुलाकर उसका गुण-गान करते हुए ले जाते हैं तब उसकी अस्थि सफेद हो जाती है और आहुति जल जाती है। दान का पागलपन मूर्खों ने उत्पन्न किया है। आस्तिकवाद का कथन करने वाले झूठ भाषण करते हैं, व्यर्थ ही बड़-बड़ करते हैं। अक्लमंद और मूर्ख दोनों का ही मृत्यु के बाद उच्छेद हो जाता है, कुछ भी अवशेष नहीं रहता। केशकम्बली के इस मत को उच्छेदवाद कहा गया। यह विचारों से पक्का नास्तिक होने पर भी साधु वेष में रहता था। उच्छेदवाद और अक्रियावाद ये दोनों लगभग समान हैं। इन्हें अनात्मवादी या नास्तिक भी कहा जा सकता है।

दशाश्रुत स्कन्ध (छठीदशा) में अक्रियावाद का वर्णन इस प्रकार है—

"नास्तिकवादी, नास्तिकप्रज्ञ, नास्तिकदृष्टि, नो सम्यग्वादी, नो नित्य-वादी-उच्छेदवादी, नो परलोकवादी—ये अक्रियावादी हैं। इनके अनुसार इह-लोक नहीं है, परलोक नहीं है, माता नहीं है, पिता नहीं है, अरिहन्त नहीं हैं, चक्रवर्ती नहीं है, बलदेव नहीं है, वासुदेव नहीं है, नरक नहीं है, नैरयिक नहीं है, सुकृत और दुष्कृत के फल में अन्तर नहीं है, सुचीर्ण कर्म का अच्छा फल नहीं होता, दुष्चीर्ण-कर्म का अलग फल नहीं होता, कल्याण और पाप अफल हैं, पुनर्जन्म नहीं है, मोक्ष नहीं है।

सूत्रकृतांग में अक्रियावाद के कई मतवादों का वर्णन है। वहाँ आत्मवाद, आत्म-अकर्तृत्ववाद, मायावाद, वन्ध्यवाद, नियतिवाद, इन सबको अक्रियावाद कहा गया है।

नियतिवाद की चर्चा भगवती (१५) और उपासकदशा (७) में भी है।

(४) चौथे संघ का आचार्य प्रकुध कात्यायन था। उसकी मान्यता थी कि सातों पदार्थ न किसी ने किए, न करवाए। वे वन्ध्य, कूटस्थ तथा खंभे के समान अचल हैं। वे हिलते नहीं, बदलते नहीं, आपस में कष्टदायक नहीं होते और न एक दूसरे को सुख-दुःख देने में समर्थ हैं। पृथ्वी, अप, तेज, वायु, सुख-दुःख तथा जीव ये ही सात पदार्थ हैं। इनमें मरने वाला, सुनने वाला, कहने वाला, जानने वाला, जनाने वाला कोई नहीं। जो तेज शस्त्रों से दूसरों के सिर काटता है, वह खून नहीं करता। सिर्फ उसका शस्त्र इन सात पदार्थों के अवकाश में घुसता है। यद्यपि इसने ८वां पदार्थ स्वीकार नहीं किया है, लेकिन फिर भी प्रकरान्तर से आकाश तत्त्व को अवश्य स्थान दिया है, जिसे वह

अवकाश या पोल कहता है। इस वाद को अन्योन्यवाद कहा गया। यह सब पदार्थों को वन्ध्य और नियत मानता है। इसलिए इसे अक्रियावाद भी कहा जा सकता है। इसका वर्णन सूत्रकृतांग में इन शब्दों में किया गया है—"सूर्य[1] न उदित होता है और न अस्त होता है, चन्द्रमा न बढ़ता है और न घटता है। जल प्रवाहित नहीं होता है, वायु बहती नहीं है, यह समूचा लोक वन्ध्य और नियत है।"

(६) छट्ठे बड़े संघ का आचार्य संजय वेलट्ठिपुत्र था। उसका कहना था—"परलोक है या नहीं मैं नहीं जानता। परलोक है यह भी नहीं, परलोक नहीं है यह भी नहीं···अच्छे या बुरे कर्मों का फल मिलता है, यह भी मैं नहीं मानता। वह रहता भी है, नहीं भी रहता। तथागत मृत्यु के बाद रहता है या नहीं रहता, यह मैं नहीं समझता ; वह रहता है यह भी नहीं, वह नहीं रहता यह भी नहीं" इस वाद को विक्षेपवाद या अनिश्चिततावाद कहते थे।

विक्षेपवाद का समावेश अज्ञानवाद में किया जा सकता है। सूत्रकृतांग में अज्ञानवादी[2] को तर्क करने में कुशल होने पर भी असंबद्धभाषी कहा गया है। क्योंकि वह स्वयं संदेह से परे नहीं हो सका है। यह इस अभिमत की ओर संकेत है।

दीघनिकाय[3] में बासठ दार्शनिक मतों का उल्लेख मिलता है। जिनमें आदि के सम्बन्ध की १८ धारणाएं हैं। जैसे—

(१) शाश्वतवाद—चार कारणों से आत्मा और लोक को नित्य मानने वाले।

(२) नित्यता-अनित्यतावाद—चार कारणों से आत्मा और लोक को अंशतः नित्य और अंशतः अनित्य मानने वाले।

(३) सान्त-अनन्तवाद—चार कारणों से लोक को सान्त और अनन्त मानने वाले।

१—णाइच्चो उएइ ण अत्थमेति, ण चंदिमा वड्ढति हायती वा।
सलिला ण संदंति ण वंति वाया, वंझो णियतो कसिणे हु लोए॥
—सू० १।१२।७

२—अण्णाणिया ता कुशला विसंता, असंथुयाणो वितिगिच्छतिन्ना।
अकोविया आहु अकोवियेहिं, अणाणुवीइत्तुमुसंवयंति॥सू० १।१२।२

३—दी० नि० ब्र० सु० (ब्रह्मजाल सुत्त)

(४) अमराविक्षेपवाद—अमराविक्षेप नामक छोटी-छोटी मछलियाँ बड़ी चंचल होती हैं। जिस तरह बहुत प्रयत्न करने पर भी वे हाथ में नहीं आती, इसी तरह इनके सिद्धान्तों में भी कोई स्थिरता नहीं है। चार कारणों से ये प्रश्नों का उत्तर देने में घबराते हैं।

(५) अकारणवाद—दो कारणों से आत्मा और लोक को अकारण उत्पन्न मानने वाले। अन्त की समय की ४० धारणाएं हैं।

(६) मरणान्तर होश वाला आत्मा—१६ कारणों से आत्मा मरने के बाद संज्ञा वाली रहती है।

(७) मरणान्तर बेहोश आत्मा—आठ कारणों से मरने के बाद आत्मा संज्ञा वाली नहीं रहती।

(८) मरणान्तर न होश न बेहोश आत्मा—आठ कारणों से न संज्ञा वाली और न असंज्ञा वाली।

(९) आत्मा का उच्छेद—सात कारणों से आत्मा का उच्छेद मानले वाले।

(१०) इसी जन्म में निर्वाण—पांच कारणों से षष्ठ धर्म निर्वाण का कथन करने वाले।

कुल मिलाकर इन बासठ कारणों से पूर्वान्त कल्पिक और उपरान्त कल्पिकों का जिक्र किया गया है।

जैन साहित्य में उल्लिखित तीन सौ तिरसठ मत इस प्रकार हैं—
क्रियावादी—आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, मुक्ति आदि सिद्धान्तों में विश्वास रखने वाले। इन क्रियावादियों के १८० भेद होते हैं। जैसे जीव अजीव आदि नव पदार्थों के हर एक के काल, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा के आश्रय से स्वतः परतः, नित्य और अनित्य इस विकल्पद्वय से १८० भेद किये गए हैं। यथाः—

जीव

स्वतः	परतः, नित्य, अनित्य
(१) काल की अपेक्षा	....
(२) ईश्वर की अपेक्षा	....
(४) आत्मा की अपेक्षा	....
(४) नियति की अपेक्षा	....
(५) स्वभाव की अपेक्षा	....

जैसे अकेले जीव के २० भेद हुए इसी प्रकार अजीव आदि पदार्थों के भी समझने चाहिये।

कालवादीः—काल को ही विश्व की स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय का हेतु मानते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की भाँति मात्र काल ही विश्व-व्यवस्था की आधार शिला है और कोई तत्त्व नहीं, ऐसी उनकी मान्यता है।[1]

ईश्वरवादीः—ईश्वर को ही जगत् स्रष्टा मानता है और सृष्टि के अणु-अणु में उसकी झलक देखता है। प्राणी अपने सुख-दुःख के निर्माण में और संहरण में सर्वथा असमर्थ है। ईश्वर प्रेरित ही वह स्वर्ग और नरक में गमनागमन करता है।[2]

एकात्मवादीः—जैसे[3] पृथ्वी स्तूप एक होने पर भी सरित्, समुद्र, पर्वत, नगर, सन्निवेश, आदि के आधार भूत होने से विचित्र प्रतीत होता है और निम्न, उन्नत, मृदु, कठिन, रक्त, पीत आदि भेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, फिर भी वह भिन्न नहीं है, एक है। वैसे ही ज्ञान-पिण्ड आत्मा एक ही है। जल में चन्द्र प्रतिबिम्ब की भाँति आत्मा एक होने पर भी हमें चेतनाचेतन पदार्थों में विभिन्न रूप से प्रतिबिम्बित होता है।[4] उदाहरणार्थ—जैसे शरीर[5] में होने वाला गंठ शरीर की वृद्धि के साथ वृद्धिगत होता है। जैसे वल्मीक पृथ्वी से समुत्पन्न हुआ पृथ्वी को परिवेष्टित कर ठहरता है। जैसे वृक्ष पृथ्वीजात होने से उससे भिन्न नहीं होते। जैसे पुष्करिणी पृथिवी-प्रसूता पृथ्वी पर ही प्रसार पाती है, उदक प्राचूर्य उदक के ही अन्तर्गत रहता है, जल बुद्-बुद् जल में ही अधिवास करते हैं, वैसे ही चेतनाचेतन रूप समस्त धर्म आत्म विवर्त हैं, वे सब आत्मा को ही व्याप्य बना ठहरते हैं। "पुरुष एवेदं सर्वं यद्-भूतं यच्च भाव्यं"। इनके मत में आत्मा ही सब कुछ है। परमार्थतः आत्म व्यतिरिक्त कोई तत्त्व इन्हें मान्य नहीं है।

१—कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
काल सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः॥
प्र० आ० वृ० प० १६-१

२—अज्ञो जन्तुरनीशः स्या-दात्मनः सुख-दुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेच्छ्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा॥
प्र० आ० नृ० १६

३—सू० १।१।६।३

४—एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते प्रतिष्ठितः।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत्॥
सू० २।१।२२।

५—सू० २।१।२१, १-२।

नियतिवादीः—नियति को ही सर्वेसर्वा मानते हैं। जो भवितव्यता है वह होकर रहेगी और जो अभाव्य है वह लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं होने का। मनुष्य का अपना किया कुछ नहीं होता, सब कुछ नियति पर आश्रित है।[१]

स्वभाववादीः—इनका अभिमत है संसार में जो हमें वैचित्र्य और वैषम्य दृष्टिगत हो रहा है, जैसे कोई सत्ताधीश है, कोई दरिद्र; कोई सर्वथा स्वस्थ है, कोई व्याधि से पीड़ित; कोई विद्वन्मूर्धन्य है, कोई मूर्ख भट्टाचार्य, यह सब स्वभावजन्य है। शुभाशुभ कर्मोदय जनित नहीं। उदाहरणार्थ—जैसे एक पाषाण-खण्ड पथ में पड़ा पैरों से कुचला जाता है और तज्जातीय इतर पाषाण खण्ड प्रतिमा का आकार पा कुंकुम, चन्दन, अगर, तगर आदि से उपलिप्त एवं सुवासित होता है और जन-जन का अर्चनीय बनता है। इसमें हेतु शुभाशुभ कर्म नहीं, मात्र स्वभाव ही है। और भी जैसे "कांटों में नुकीलापन, मयूर का रंग-विरंगापन और कुक्कुरों का वर्ण विलास कौन रचता है[२]? ये सब स्वभाव से ही होते हैं।"

अक्रियावादीः—ये किसी भी पदार्थ को स्थिर नहीं मानते, क्योंकि इनके मतानुसार उत्पत्त्यनन्तर ही पदार्थ का विनाश हो जाता है। क्रिया स्थिर पदार्थ को लगती है, स्थिर पदार्थ कोई है नहीं, अतः अक्रियावाद का प्ररूपण करते हैं। आत्मा जैसा कोई स्वतन्त्र तत्त्व इन्हें मान्य नहीं है। इनके भी जीव-अजीव, आश्रव-संवर, निर्जरा-बन्ध और मोक्ष इन सात पदार्थों के स्व और पर विकल्प द्वय से काल, ईश्वर, आत्मा, नियति, स्वभाव और यदृच्छा इन छः के आश्रय से ८४ भेद होते हैं। काल, ईश्वर आदि ५ मतों का हम ऊपर जिक्र कर चुके हैं। यदृच्छावाद पर थोड़ा सा विहंगावलोकन कर लें :—

यदृच्छावादः—अनभिसंधिपूर्वक अर्थ प्राप्ति को यदृच्छा कहा जाता है। ये मात्र अर्थ-प्राप्ति को अतर्कित ही उपस्थित मानते हैं। कोई भी क्रिया इनके अभिमत में चिन्तन पूर्वक नहीं होती। उदाहरणार्थ जैसे—काक[३] का ताड़ से

१—प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, ना भाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥ प्र० आ० पृ० १६

२—कण्टकस्य तीक्ष्णत्वं, मयूरस्य विचित्रता।
वर्णांश्च ताम्रचूडानां, स्वभावेन भवन्ति हि ॥ सू० १।१।पृ० २१।

३—अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्रं जनानां सुख दुःखजातम्।
काकस्य तालेन यथाभिघातो, न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृथाभिमानः ॥

अभिघात बुद्धिपूर्वक नहीं कहा जा सकता। न काक यह जानता है कि मेरे पर ताल गिरेगा और न ताल का ही अभिप्राय होता है कि मैं काक पर गिरूँ। फिर भी वैसा हो जाता है। और भी जैसे अजा पर कृपाण का प्रहार, अन्धे के कण्टक-चुभन, आतुर का भेषज सेवन ये सब अनभिसन्धिपूर्वक होते हैं। जाति, जरा, मरण, दुःख, सुख सब याहच्छिक हैं। इन्हें कर्म जन्य या बुद्धि-पूर्वक माना वृथाभिमान है।

बौद्ध और लोकायतिक आत्मा ही स्वीकार नहीं करते। ऐसी स्थिति में आत्मा की क्रिया का प्रश्न ही नहीं उठता और क्रिया के अभाव में बन्धन भी किसके हो? बौद्धों का अभिमत है—"क्षणिकाः सर्वसंस्कारा:"। अतः ये अक्रियावादियों की श्रेणी में आ जाते हैं। सांख्य भी अक्रियावादी है। उसके अभिमत में आत्मा सर्वव्यापी और अक्रिय है। "प्रकृतिः करोति, पुरुषः उप-भुंक्ते कर्म प्रकृति करती है और उसका उपभोग कर्त्ता पुरुष है। आत्मा अमूर्त्त है, नित्य है अतः आकाश की तरह निष्क्रिय है; वह कोई कर्म नहीं करता। जैसा कि कहा गया है—"अकर्ता निर्गुणो भोक्ता आत्मा कापिल-दर्शने"।

अज्ञानवादी:—इनका अभिमत है—"अज्ञानमेव श्रेयः" अज्ञान ही कल्याणकर है। ज्ञान से परस्पर विवाद बढ़ता है। सर्वज्ञ कोई है नहीं, जिसके वाक्यों को प्रामाणिक माना जा सके। यदि है भी तो वह अव.ग्द्रष्टा के दृष्टि का विषय नहीं बनता और "न सर्वज्ञः सर्वं जानाति" असर्वज्ञ अधूरा होता है। वह सब पदार्थों को सम्यक् प्रकार से जानने में अक्षम है। अतः विभिन्न मत-मतान्तरों में विवाद होना सहज ही है। जैसे एक आत्मा के विषय में ही कोई आत्मा को सर्वगत मानता है, काई असर्वगत; कई आत्मा को मूर्त, कई अमूर्त; कई अंगुष्ठ पर्वमात्र, कई श्यामाक तण्डुल मात्र, कई हृदय-मध्यस्थित और कई ललाट व्यवस्थित मानते हैं। इसलिए ज्ञान कोई आवश्यकता या महत्व नहीं रखता। अज्ञानी किसी के सिर पर पाद-प्रहार भी कर दे फिर भी चित्त-शुद्धि के कारण उतना दोष का भागी नहीं होता और न लोक भी कुपित होते हैं, अज्ञानी समझ उसे क्षमा कर देते हैं। अतः अज्ञान ही श्रेयस्कर है। इनके ६७ भेदों[1] का उल्लेख मिलता है। यथा—जीवादि व पदार्थों के (१) सत्व, (२) असत्व, (३) सद्सत्व, (४) अवाच्यत्व, (५) सद्वाच्यत्व, (६) असद्-वाच्यत्व, (७) सद्सद्वाच्यत्व, ये सात विकल्प करने से ६३ भेद होते हैं। उत्पत्ति के सत्त्वादि ४ विकल्प होते हैं। कुल मिलाकर ये ६७ भेद हैं। इनका

१—सू० १।१ वृ० प० १६-१७

अभिलाप इस प्रकार है। जैसे—(१) जीव का अस्तित्व है—कौन जानता है? अथवा उसके जानने से क्या लाभ? इसी प्रकार छः विकल्प समझने चाहिये। वैसे ही उत्पत्ति के भी—भावों की उत्पत्ति है कौन जानता है? अथवा इसके जानने से क्या लाभ?

शाक्य भी एक अपेक्षा से इसके अन्तर्गत समाविष्ट होते हैं। उनके अभिमत से भी अविज्ञोपचित कर्म-बन्धन नहीं होता। उनकी मान्यतानुसार ४ प्रकार के कर्म से कर्मोपचय नहीं होता—(१) परिज्ञोपचित, (२) अविज्ञोपचित, (३) ईर्यापथ, (४) स्वप्नान्तिक। शाक्यमतानुसार जब पाँच[1] कारण समुदित होते हैं तभी हिंसा होती है। इनमें से किसी एक की भी न्यूनता में कर्मोपचय नहीं होता। यदि कर्म बन्धन होता भी है तो भित्ति पर प्रक्षिप्त धूलि की भांति स्पृष्ट मात्र होता है। अविज्ञोपचित कर्म बन्धन के अभाव की पुष्टि के लिए यहाँ तक कह दिया गया है कि यदि कोई पिता[2] अरक्तद्विष्ट (शुद्ध) चित्त से पुत्र को मारकर उसका मांस भक्षण करता है फिर भी वह असंयत अथवा मेधावी पाप-कर्म से उपलिप्त नहीं होता। इस दृष्टि से वे भी अज्ञान-परिपोषक ठहरते हैं।

विनयवादीः—[3] "विनयेन चरन्ति वैनयिकाः" विनयपूर्वक चलने वाले अथवा केवल विनय से ही स्वर्ग-अपवर्ग मानने वाले। इनकी मान्यता है कि "कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनयः" विनय ही सर्व सिद्धि प्रदायक है। इनके ३२ प्रकार हैं—(१) सुर, (२) राजा, (३) यति, (४) ज्ञाति, (५) स्थविर, (६) अधम, (७) माता, (८) पिता इन आठों की मन से, वचन से, काया से और देशकालोचित दान-प्रदान से विनय करना। इस प्रकार इन आठ को चार के गुणन से ३२ प्रकार होते हैं।

सूत्रकृतांगसूत्र में अनेक मतवादों का मीमांसा पूर्ण विवेचन किया गया है। पंचमहाभूतवाद, एकात्मवाद, तज्जीव तच्छरीरवाद, अकारकवाद, षष्ठात्मवाद, नियतिवाद, सृष्टिवाद, कालवाद, स्वभाववाद, यदृच्छावाद, प्रकृतिवाद आदि। तज्जीवतच्छरीरवादः—इनका अभिमत है कि पंचभूतों के कायाकार परिणत

१—प्राणी प्राणिज्ञानं घातक-चित्तं च तद्गता चेष्टा।
प्राणैश्च विप्रयोगः पञ्चभिरापद्यते हिंसा॥ सू० १।१। वृ० ३६ प०

२—पुत्तं पिया समारब्भ आहारेज्ज असंजए।
भुंजमाणो य मेहावी कम्मुणा नोवलिप्पइ॥ सू० १।१।२, २७ गा०

३—सू० १।१२ वृ०-प० २१८।

होने पर चैतन्य उत्पन्न होता है और उनके बिखरने पर विलीन हो जाता है। न प्रेत्यलोक है, न सत्त्व औपपातिक होते हैं, न पुण्य है न पाप, शरीर के नाश होने पर आत्मा भी नष्ट हो जाती है। इसकी पुष्टि में अनेक उदाहरण दिए गए हैं। जैसे :—

(१)—जल बुद्बुद जल से अतिरिक्त कुछ नहीं है। वैसे ही भूत व्यतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है।

२—कदली स्तम्भ की बाह्य त्वचा दूर करने के बाद वह त्वचा मात्र ही रह जाता है, अन्तस्तल में कोई सार प्रतीत नहीं होता। वैसे ही भूत विघटन के बाद अन्तः सारभूत आत्मा नाम का तत्त्व उपलब्ध नहीं होता।

३—अग्नि-पिण्ड को घुमाने से चक्र-बुद्धि उत्पन्न करता है, वैसे ही भूत समुदाय विशिष्ट क्रियापन्न हुआ जीव भ्रान्ति को उत्पन्न करता है।

४—स्वच्छ दर्पण में बहिःस्थित पदार्थ भी अन्तःस्थित पदार्थ प्रतीत होते हैं।

५—भीष्म ग्रीष्म में परिस्पन्दित किरणें जलाकार विज्ञान उत्पन्न करती हैं।

६—गन्धर्व नगरादि अन्यथा प्रतीत होते हैं वैसे ही कायाकार परिणत भूतों से अभिन्न होती हुई भी आत्मा भिन्न प्रतीत होती है। और भी जैसे कोई पुरुष कोश (म्यान) से खड्ग निकाल कर यह कोश है, यह खड्ग है, जैसे मुञ्ज से ईषिका (शलाका) पृथक कर यह मुंज (तृणविशेष) है, यह ईषिका है, जैसे मांस से अस्थि, करतल से आमलक, दही से नवनीत, तिलों से तेल, इक्षु से इक्षुरस और अरणि से अग्नि को पृथक् कर बता देता है। वैसे ही शरीर से पृथक् जीव का कोई भी उपदर्शयिता नहीं है।[1] अतः शरीर मात्र ही जीव है, शरीर व्यतिरिक्त आत्मा नाम का कोई तत्त्व नहीं।

तज्जीव और भूतवादियों में उल्लेखनीय भेद यह है कि भूतवादी भूतों की ही कायाकार परिणत होने पर धावन आदि क्रियाएं मानते हैं, जब कि तज्जीव भूतों के कायाकार परिणत होने पर चैतन्य नामक तत्त्व की उत्पति। इतर मान्यताएं लगभग इनकी समान हैं।

इस प्रकार अनेक मतवादों का रोचक उल्लेख मिलता है। सूत्रकृतांग के दूसरे श्रुत-स्कन्ध में मुनि आर्द्रक और अन्य मतावलम्बियों का रमणीय एवं मननीय संवाद उपलब्ध होता है। जिसके आधार पर यह भली भांति जाना

१—सू० २।१।वृ० प० १२।

जा सकता है कि उन उन वादियों की मान्यताएं क्या थीं। संक्षेप में उनका उल्लेख नीचे दिया जा रहा है।

आर्द्रककुमार और गोशालकः—भगवान् के पास लौटते समय मु० आ० की भेंट सर्वप्रथम आजीवक सम्प्रदाय के आचार्य गोशालक से हुई।

गोशालक :—हमारे[1] सिद्धान्त के अनुसार ठंडा पानी पीने में, बीज आदि धान्य खाने में, अपने लिए तैयार किये आहार खाने में, स्त्री संभोग में और अकेले बिचरने वाले साधु को दोष नहीं लगता। भोजन की भांति स्त्री-संभोग भी मानसिक क्षुधा तृप्ति के लिए करने में कोई आपत्ति नहीं है।

आर्द्रक—(प्रत्युत्तर की भाषा में कहा) यदि ऐसा हो तो वह व्यक्ति गृहस्थ से भिन्न नहीं होगा, गृहस्थ भी इन सब कामों को करते हैं। फिर सन्यास ग्रहण मात्र आजीविकोपार्जन का हेतु रह जाता है। इस प्रकार अनेक प्रश्नोत्तरों का क्रम उस समय चला।

आर्द्रक और बुद्ध भिक्षु

बौद्ध भिक्षु—नित्य २०० स्नातक भिक्षुओं को भोजन कराने वाले मनुष्य महान् पुण्य स्कन्धों का उपार्जन कर महासत्ववेत आरोग्य देव होते हैं। मोटे भेड़ को मार नमक लगा तेल में तल कर पीपल डाल यदि भिक्षु को खिलाए उसमें दोष नहीं है। कुमार को कुम्हड़ा जान छेदे, सेके उसमें पाप नहीं लगता। ऐसा मोक्ष बौद्ध भिक्षुओं को काल्पनीय है।

मुनि आर्द्रक—रंगे हाथों दान देने वाला भला महान् पुण्य स्कन्ध कैसे उपार्जित करेगा ? हिंसा किसी अवस्था में कभी भी प्रशस्य नहीं हो सकती। कुमार को कुम्हड़ा जानना असम्भव है। जैन मुनि कभी भी जीव के अणु भाग को भी कष्ट देकर भिक्षा लेना नहीं चाहते, एतदर्थ वे पूरे सावधान रहते हैं। आदि······

आर्द्रककुमार और वेदवादी

वेदवादी द्विजः—जो हमेशा दो हजार स्नातक ब्राह्मणों को भोजन कराता है वह पुण्य-राशि अर्जित कर देव बनता है, ऐसा वेद-वाक्य है।

मुनि आर्द्रक—बिल्ली की भांति खाने की इच्छा से घर-घर भटकने वाले दो हजार स्नातकों को खिलाता है वह नरकवासी होकर फाड़ने-चीरने को तड़पते हुए जीवों से भरे नरक को प्राप्त होता है, देवलोक को नहीं। दयाधर्म को त्याग कर हिंसाधर्म स्वीकार करने वाले शील से रहित ब्राह्मणों को भी जो मनुष्य भोजन कराता है वह एक नरक से दूसरे नरक में परिभ्रमण करता है।

१—सू० २।६ वृ० प० १४२।

आर्द्रककुमार और वेदान्ती

वेदान्ती—हम दोनों एक समान धर्म को मानने वाले हैं। त्रिकाल में धर्म में आचार प्रधानशील और ज्ञान को आवश्यक मानते हैं। पुनर्जन्म के सम्बन्ध में भी मतभेद नहीं। परन्तु हम एक लोक व्यापी, सनातन, अक्षय और अव्यय आत्मा को मानते है। वही सब भूतों को इस प्रकार व्याप रहा है, जैसे चन्द्र तारों को।

आर्द्रक :—यदि ऐसा ही हो तो फिर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और प्रेष्य इसी प्रकार कीड़े, मकोड़े, पक्षी, सांप, मनुष्य और देव सरीखे भेद न रह पाएंगे। इसी प्रकार विभिन्न सुख-दुःखों का अनुभव करते हुए वे संसार में भटकेंगे ही क्यों? केवल ज्ञान से सम्पूर्ण लोक को जाने बिना जो उपदेश देते हैं वे अपने को और दूसरों को क्षति पहुंचाते हैं। सम्पूर्ण ज्ञान से लोक के स्वरूप को समझ कर और पूर्ण ज्ञान से समाधियुक्त होकर जो सम्पूर्ण धर्म का उपदेश करते हैं, वे स्वयं तरते हैं और दूसरों को भी तारते हैं।

हे आयुष्मान्! इस प्रकार तिरस्कार करने योग्य ज्ञान वाले वेदान्तियों और सम्पूर्ण ज्ञान, दर्शन, चारित्र सम्पन्न जिनों को अपनी समझ से समान कहकर तुम स्वयं अपनी ही विपरीतता प्रगट कर रहे हो।

आर्द्रककुमार और हस्तितापस

तदनन्तर हस्तितापस से चर्चा हुई।

हस्तितापस[1] :—एक वर्ष में एक महागज को मारकर शेष जीवों पर अनुकम्पा करते हुए हम एक वर्ष पर्यन्त उसी से निर्वाह करते हैं।

मुनि आर्द्रक :—एक वर्ष में एक जीव मारते हुए निर्दोष नहीं कहे जा सकते, भले ही अन्य जीवों को नहीं मारते हो। अपने लिए एक जीव का वध करने वाले तुम और गृहस्थों में क्या भेद है? तुम्हारे समान विपरीत बुद्धि रखने वाले केवल-ज्ञान नहीं पा सकते। अस्तु, इस प्रकार की विस्तृत चर्चा शास्त्रों में उपलब्ध होती है; जो हमारी ज्ञान-वृद्धि में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

औपपातिक सूत्र में एक स्थल पर गंगा के तट पर बसे वानप्रस्थ तापसों का उल्लेख मिलता है। इस प्रसंग में निम्नलिखित तापस गिनाए गए हैं[2]—

(१) होत्तिय—अग्निहोत्र करने वाले।

(२) पोत्तिय—वस्त्रधारी तापस।

१—सू० २।६ सू० प० १५६।

२—औ० सू० ३८ प० १७-१७१।

(३) कोत्तिय—भूमि पर सोने वाले।
(४) जण्णइ—यज्ञ याजिन।
(५) सड्ढई—श्राद्धिक तापस।
(६) सालई—अपना सामान साथ लेकर घूमने वाले।
(७) हुंपवुट्ठा—कुण्डिक सदा साथ में लेकर भ्रमण करने वाले।
(८) दुंतुक्खलिया—फलभोजी।
(९) उम्मज्जका—उम्मज्जन मात्र से स्नान करने वाले।
(१०) सम्मजका—कई बार गोता लगाकर सम्यक् प्रकार से स्नान करने वाले।
(११) निम्मज्जका—क्षणमात्र में स्नान करने वाले।
(१२) संपक्खला—मिट्टी घिस कर शरीर साफ करने वाले।
(१३) दक्खिणकूलका—गंगा के दक्षिण किनारे रहने वाले।
(१४) उत्तरकूलका—गंगा के उत्तर किनारे रहने वाले।
(१५) संखधम्मका—भोजन के पूर्व संख बजाने वाले, ताकि भोजन के समय कोई न आए।
(१६) कूलधम्मका—तट पर शब्द कर भोजन करने वाले।
(१७) मिगलुद्धका—पशुओं की मृगया करने वाले।
(१८) हत्थितावसा—हाथी मार महीनों तक उसी का मांस खाने वाले।
(१९) उद्दण्डका—दण्ड ऊपर कर चलने वाले।
(२०) दिसापोक्खीण—चारों दिशाओं में जल छिड़ककर फल-फूल एकत्र करने वाले।
(२१) वाकवासिण—वल्कलधारी।
(२२) अंबुवासिण—पानी में रहनेवाले।
(२३) बिलावासिण—बिल (गुफाओं) में रहने वाले।
(२४) जलवासिण—जल में रहने वाले।
(२५) वेलवासिण—समुद्र तट पर रहने वाले।
(२६) रुक्खमूलिया—वृक्षों के नीचे रहने वाले।
(२७) अंबुभक्खिण—केवल जल पीकर रहने वाले।
(२८) वायुभक्खिण—केवल वायु पर रहने वाले।
(२९) सेवालभक्खिण—सेवाल खाकर रहने वाले।
(३०) मूलाहारा—केवल मूल खाने वाले।
(३१) कंदहारा—केवल कंद खाने वाले।

(३२) तयाहारा—केवल वृक्ष की छाल खाने वाले।

(३३) पत्ताहारा—केवल पत्र खाने वाले।

(३४) पुप्फाहारा—केवल पुष्प खाने वाले।

(३५) बीयाहारा—केवल बीज खाने वाले।

(३६) परिसडियकंदमूलतयपत्तपुप्फफलाहारा—कंदमूल, छाल, पत्ता, पुष्प और फल खाने वाले।

(३७) जलाभिसेयकठिनगायमूला—बिना स्नान भोजन न करने वाले।

(३८) आयावणाहिं—थोड़ा आतप सहन करने वाले।

(३९) पंचग्गितावेहिं—पंचाग्नि तापने वाले।

(४०) इंगालसोल्लियं—अंगार पर सेंक कर खाने वाले।

(४१) कण्डुसोल्लिययं—तवे पर सेंक कर खाने वाले।

(४२) कट्ठसोल्लियं—लकड़ी पर पका भोजन करने वाले।

इनके अतिरिक्त इसी सूत्र[1] में निम्नलिखित अन्य तापसों का भी उल्लेख मिलता है :—

(१) अत्तुक्कोरिया—आत्मा में ही उत्कर्ष मानने वाले।

(२) भूइकम्मिया—ज्वर आदि उपद्रव के रक्षार्थ भूतिदान कर भिक्षा माँगने वाले।

(३) भुज्जो-भुज्जोकोउपकारका—सौभाग्यादि के निमित्त स्नानादि करने वाले कौतुक कारक।

इनके अतिरिक्त फुटकर रूप में कुछ तापसों का उल्लेख मिलता है—

(१) धम्म चिन्तक[2]—धर्म-शास्त्र पाठक।

(२) गोव्वइया—गोव्रत धारण करने वाले।

(३) गोअमा—छोटे बैल को कदम रखना सिखलाकर भिक्षा माँगने वाले।

औपपातिक के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों में भी कुछ तापसों का उल्लेख मिलता है। जैसे—

(१) चण्डी देवगा[3]—चक्र को धारण करने वाले चण्डी के भक्त।

(२) दग सोयारिय[4]—सांख्यमत के अनुयायी जो जल बहुत गिराते हैं।

१—औ० सू० ४१ प० १६६

१—औ० सू० १८ प० १६८

२—सू० १।१५४ प० १। निर्युक्ति

३—पिण्ड नि० ३१४ गा०

(३) कम्मार भिक्खू[1]—देवताओं की द्रोणी लेकर भिक्षा माँगने वाले।
(४) कुव्वीए[2]—कूर्चन्धर—दाढ़ी रखने वाले।
(५) पिंडोलवा[3]—भिक्षा पर जीवन निर्वाह करने वाले।
(६) ससरक्ख[4]—सचित्त रजोयुक्त-धूलिवाला तापस।
(७) वणीमग—याचक।
(८) वारिभद्रक[5]—पानी में कल्याण मानने वाले।
(९) वारिखल—मिट्टी से बारह बार भाजन शुद्ध करने वाले।
(१०) आरण्णिया[6]—अरण्य में रहने वाले।
(११) आवसात्थिग्ग—आवसथों में रहने वाले।
(१२) ग्रामणियतिया—ग्राम के समीप रहने वाले।
(१३) कण्हुई रहस्सिया—किंचित् रहस्य वाले, जैसे मन्त्र होम ।

जैन साहित्य के समान बौद्ध साहित्य में भी अनेकविध श्रमण-ब्राह्मणों की तपस्याओं का उल्लेख मिलता है। जैसे—

"आवुस गौतम! उन श्रमणों और ब्राह्मणों की ये तपस्याएं श्रमण-ब्राह्मण भाव की द्योतक हैं—ओखल के मुँह से निकाली भिक्षा, ठहरिये कहकर दी गई भिक्षा, दो भोजन करने वालों के बीच से लाई हुई भिक्षा, गर्भिणी स्त्री द्वारा लाई हुई भिक्षा, दूध पिलाती स्त्री द्वारा लाई हुई भिक्षा, अन्य पुरुष के पास गई स्त्री द्वारा लाई भिक्षा, निमन्त्रित भिक्षा, चन्दा वाली भिक्षा और बुलाई भिक्षा का त्याग रखते हैं। होली के भिक्षा का त्याग, वहाँ से भी नहीं जहाँ कुत्ता खुला हो, वहाँ से भी नहीं जहाँ मक्खियाँ भन-भन कर रही हों, न मांस, न मछली, न सुरा, न कच्ची शराब (तुषोदक) ग्रहण करता है, वह एक ही घर से जो भिक्षा मिलती है, लेकर लौट जाता है, एक ही कौर खाने वाला होता है। दो घर से मिली भिक्षा में दो ही कौर खानेवाला, सात घर से मिली भिक्षा से सात कौरखाने वाला, वह एक ही कलछी खाकर रहता है, यावत् दो-सात, वह एक दिन बीच देकर के भोजन करता है, दो-दो दिन यावत् सात-सात। इस

१—वृ० भा०
२—वृ० 'क' भा० पृ० ७४८
३—उत्त० चू० १३८।
४—आ० सू० २।१।६।३
५—वृहत्कल्प भा० ५१३ प०।
६—सू० चू० ३।६

तरह वह आधे-आधे महीने पर भोजन करते हुए विहार करता है। कोई श्रमण-ब्राह्मण केवल शाक-मात्र खाता है। सामा खाकर रहता है या केवल नीवार (तिन्नी), चमला, सेवाल, कण, काँजी, खली, तृण, गोबर या जंगल के फल-फूल या वृक्ष से स्वयं गिरे हुए फलों को खाकर रहता है।

कुछ श्रमण ऐसे भी जो सन का बना कपड़ा धारण करता है, श्मशान के वस्त्र धारण करता है, कफन, फेंके चिथड़े, वल्कल, मृगचर्म, कुश के बनाए वस्त्र, चटाई, मनुष्य के केश का कम्बल, घोड़े के बाल का कम्बल, उल्लू के पंख धारण करता है। सिर और दाढ़ी के बालों को नोचनेवाला नुचवाता भी है। आसन को छोड़ सदा ठलेसरी रहता है। उकड़ूँ बैठने वाला सदा उकड़ूं बैठता है। कांटों पर (ही) बैठता और सोता है। तख्ते पर सोता है। जमीन पर सोता है। एक ही करवट से सोता है। शरीर पर धूल और गर्दा लपेटे रहता है। केवल खुली ही जगह पर रहता है। जहाँ पाता है वहीं बैठ जाता है। मैला खाता है। केवल गरम पानी पीता है। सुबह[1], दोपहर और शाम तीन बार जल-शयन करता है। नंगा रहता है।

उल्लिखित तपस्या में विभिन्न तापसों, श्रमण-निर्गन्थों एवं आजीवक मतावलम्बियों का प्रतिबिम्ब मिलता है। जो भिन्न-भिन्न साधना के व्रती थे। कुछ एक तपस्या प्रकार जैन दर्शन और आजीवक आम्नाय के बहुत करीब हैं, निशीथ सभाष्य चूर्णि में भी अन्यतीर्थिक श्रमण-श्रमणियों का उल्लेख मिलता है :—

(१) आजीवक	(११) तच्चनिय	(२१) पंडरंग
(२) कप्पडिय	(१२) तच्चणगी	(२२) पंडरभिक्खु
(३) कव्वडिय	(१३) तडिय	(२३) रत्तपड
(४) कावालिय	(१४) तावस	(२४) रत्तपडा
(५) कावाल	(१५) तिडंगीपरिव्वायग	(२५) वणवासी
(६) कापालिका	(१६) दिसायोक्खिय	(२६) भगवी
(७) गेरुअ	(१७) परिव्वाय	(२७) वृद्ध सावक
(८) गोव्वय	(१८) परिव्राजिका	(२८) सक्कशाक्य
(९) चरक	(१९) पंचगव्वासणीय	(२९) सरकव
(१०) चरिका	(२०) पंचग्गितावय	(३०) समण
		(३१) हडुसरकव।[2]

१—दी० नि० (कस्सप सीहनाद सुत्त) ६२-६३

२—नि० चू० भा० २ पृ० ११८, २००

इसी सूत्र की चूर्णि में अनेक दर्शन-दार्शनिकों का भी जिक्र मिलता है—

(१) आजीवग
(२) ईसरमत्त
(३) उलूग
(४) कपिलमत
(५) कविल
(६) कावाल
(७) कावालिय
(८) चरण
(९) नच्चनिय
(१०) परिव्वायग
(११) पंडरंग
(१२) वोडित
(१३) निच्छुग
(१४) भिक्खू
(१५) रत्तपड
(१६) वेद
(१७) सक्क
(१८) सरक्ख
(१९) सुतिवादी
(२०) सेयवड़
(२१) सेयभिक्खु
(२२) शाक्यमत
(२३) हड्डुसरक्ख ।

इन उल्लिखित उल्लेखों के आधार पर यह भली भांति जाना जा सकता है कि वह युग धार्मिक मतवादों से किस प्रकार संकुल और जटिल था ।

जैनदर्शन और पाश्चात्य दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन

[शि० सा० वि० अग्रणी साध्वीश्री मन्जुला]

मनुष्य का मस्तिष्क अगणित शक्तियों का स्रोत है। उनमें तीन शक्तियाँ प्रधान हैं—स्मृति, कल्पना और ज्ञान। क्रमशः स्मृति से इतिहास, कल्पना से काव्य और ज्ञान से दर्शन की सृष्टि हुई, ऐसा माना जाता है। हमारे जीवन का आन्तरिक पक्ष इतिहास और काव्य की अपेक्षा दर्शन पर अधिक अवलंबित है। अतः दर्शन हमारा निकटतम एवं अन्तरंग सहचर है।

दर्शन शब्द आज तक अनेक अर्थों का स्पर्श कर चुका है और फिर भी अव्यक्त है। क्योंकि आज तक दर्शन को चिन्तन, तर्क, अन्वेषण आदि के परिवेश में ही रखा गया जब कि वह इनसे सर्वथा परे है। प्रस्तुत प्रसंग में दर्शन का अखण्ड और सर्वांगीण अर्थ है—सत्य का साक्षात्कार।

तत्त्वतः दार्शनिक वही होता है जो निर्व्यवहित आत्मा से सत्य को साक्षात् करता है। इस अर्थ में आज कोई दार्शनिक है ही नहीं। फिर भी हम स्वयं को या दूसरों को दार्शनिक की उपाधि देते हैं, वह इस अर्थ में कि आत्मा से सत्य का साक्षात्कार दर्शन चरम रूप है। इससे पूर्व उसे भी दर्शन कहा जाता है कि सत्यद्रष्टा ने जो सत्य दिया, उसे हम मानस से, इन्द्रियों से, आगम से, अनुमान से, तर्क से, युक्ति व अन्य साधनों से देखते हैं। वह हमारा ज्ञान भी दर्शन का एक अंश ही है।

तत्त्व उपलब्धि की दृष्टि से दर्शन एक रूप है। उसकी व्यापकता को काल और क्षेत्र की सीमाएं भी नहीं बाँध सकती; लेकिन विचार की दृष्टि से हर दर्शन परस्पर भिन्न हैं।

भिन्न-भिन्न क्षेत्र और काल में जन्मे व्यक्ति एक ही सत्य को अनेक रूपों में देखते हैं। सम क्षेत्र व समकालीन व्यक्तियों की धारणाएं भी भिन्न-भिन्न होती हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं क्योंकि "मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना", प्रत्युत आश्चर्य का विषय तो यह है जहाँ भिन्न देश और भिन्न काल की धारणाएं एक होती हैं।

जैन-दर्शन के साथ भारतीय दर्शनों में परस्पर उतना साम्य नहीं जितना पाश्चात्य दर्शनों से है। यद्यपि पाश्चात्य दर्शनों की कोई अविच्छिन्न परम्परा

नहीं है। फिर भी पाश्चात्य-दर्शन का इतिहास इतना व्यवस्थित और अक्षुण्ण उपलब्ध होता है जिससे उनकी दार्शनिक मान्यताओं का यथार्थ अध्ययन किया जा सकता है।

दर्शन युग का सूत्रपात दोनों ही देशों में साथ-साथ होता है। पश्चिम में यूनान के दार्शनिकों के समय से और पूर्व में उपनिषदों के समय से दार्शनिक चिन्तन व नैतिक व्यवहार का व्यवस्थित प्रतिपादन हुआ। भारतीय दर्शन के जितने विवेच्य विषय हैं—तत्त्व मीमांसा, प्रमाण-मीमांसा, आचार-मीमांसा आदि, पाश्चात्य-दर्शन के भी लगभग वे ही हैं। भारतीय दर्शनों में जहाँ सृष्टि की रचना, आत्मा का अस्तित्व, ईश्वर, मुक्ति, पुनर्जन्म आदि की चर्चा है तो पाश्चात्य दर्शन भी इनसे खाली नहीं है। यह साम्य भारतीय दार्शनिकों के लिए गौरव का विषय है। इसी साम्य को लेकर कई कहते हैं "पाश्चात्य-दर्शन भारतीय-दर्शन से प्रभावित रहा है।" और आज के इतिहासकार भी ऐसा मानते हैं। "पाश्चात्य-दर्शन का सूत्रपात ग्रीस में हुआ था। प्रारम्भ में तो ग्रीस की सभ्यता और संस्कृति व दर्शन सर्वप्राचीन तथा अप्रभावित माने जाते थे। लेकिन बीसवीं सदी के कई अन्वेषणों से विशेषतः भूगर्भ की खुदाई में प्राप्त कई महत्त्वपूर्ण वस्तुओं से यह सिद्ध हो गया है कि प्राचीन ग्रीस पर मिस्र और बेबिलोनिया का प्रभाव निःसन्देह पड़ा है। और यह भी बहुत सम्भव है कि भारतीय-संस्कृति व विचारधारा ही ईरान, मिस्र और बेबिलोनिया होती हुई ग्रीस पहुँची हो।"[1]

समान तथ्यों को देखकर ऐसी धारणा का होना स्वाभाविक ही है। और फिर भारतीय दर्शन की प्राचीनता सिद्ध हो तब तो और भी सहज है, लेकिन यह तथ्य कुछ संशोधन मांगता है कि बाद में चाहे किसी का किसी पर प्रभाव रहा हो लेकिन प्रारम्भिक उद्भव सर्वथा स्वतन्त्र ही होना चाहिये। ई० पू० छट्ठी शताब्दी में हुए हैरेक्लीटस की स्याद्वाद सम्बन्धी मान्यता को हम कैसे मानें कि उनकी अपनी नहीं है? जब कि भगवान् महावीर का काल उनके बाद का है और जैनेतर भारतीय दर्शनों में स्याद्वाद का नामोल्लेख तक नहीं मिलता। अगर यह मानें कि पार्श्वनाथ की परम्परा में जो स्याद्वाद का विकसित रूप था, उसी का प्रभाव हैरेक्लीटस पर पड़ा, यह भी कम जँचता है। सर्वथा अपरिचित और अनजान व्यक्तियों का किसी के विचारों से प्रभावित हो जाना एक अनहोनी कल्पना ही है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते

१—(पाश्चात्य-दर्शन पृ० २)

है कि जो-जो व्यक्ति सत्य को पकड़ने में तत्पर हैं। उनमें जिन-जिन की प्रक्रिया ठीक होगी उनको सत्य एकरूप ही मिलेगा।

सत्य की उपलब्धि से काल, स्थान और व्यक्तियों का प्रतिबन्ध नहीं हो सकता। दो और दो का संकलन भारतीयों के लिए चार होगा तो एक भारतीयेतर के लिए क्यों नहीं होगा?

मनोविज्ञान के अनुसार "सभी व्यक्तियों में सहज ही कुछ-कुछ समान प्रवृत्तियाँ होती हैं। जब प्रवृत्तियाँ समान हैं तो परिणाम भी समान ही आएगा। अतः किसी समान तथ्य को एक दूसरे से प्रभावित बताने की अपेक्षा, तुलनात्मकता अधिक उचित रहती है।

कई शोधकारों ने अभी-अभी यह तथ्य खोजा है कि पाश्चात्य-दर्शन पर निश्चित रूप से जैन-दर्शन का प्रभाव रहा है फिर भी इसमें तुलनात्मकता में कौन सी बाधा उपस्थित होती है? इसी दृष्टिकोण को समक्ष रखते हुए प्रस्तुत निबन्ध में मैंने जैन-दर्शन और पाश्चात्य-दर्शनों का एक तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयत्न किया है।

पाश्चात्य-दर्शन के तुलनात्मक स्थल बड़े विचित्र हैं। जो तथ्य जैन-दर्शन के अतिरिक्त अन्य भारतीय-दर्शनों में भी नहीं मिलते, उन तथ्यों का पाश्चात्य दर्शनों ने विस्तार से विवेचन किया है।

परमाणु और सृष्टि

सर्वप्रथम सूक्ष्मतम तत्त्व परमाणु को ही लें। ल्युसियस और उसके शिष्य डिमॉक्रीट्स ने परमाणु का जो स्वरूप और कार्य बतलाया है; कुछ संशोधनपूर्वक जैन-दर्शन में भी ज्यों का त्यों उल्लिखित है। उन्होंने कहा—[१]परमाणु मौलिक अविभाज्य, अतीन्द्रिय, नित्य, उत्पत्ति-विनाश रहित जड़ तत्त्व हैं। गति उनका धर्म है। उनमें केवल संख्या, परिमाण और आकार का भेद है, अन्य गुणों का भेद उनमें नहीं। वे आकाश में स्थित हैं और एक दूसरे से अलग। सृष्टि की उत्पत्ति का अर्थ है—'उनका परस्पर संयोग'।

इन्हीं दोनों दार्शनिकों के परमाणु सम्बन्धी विचार 'पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास' में और भी स्पष्ट व सृष्टि-संहार की पूरी व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं। जैसे"··· सब वस्तुओं का विभाग करते-करते अन्त में हमलोग परमाणु तक पहुंचते हैं, परन्तु परमाणु का विभाग नहीं हो सकता। गुण और गुरुत्व में सभी परमाणु एक ही प्रकार के हैं। केवल आकार में एक परमाणु दूसरे पर-

---

१—पाश्चात्य-दर्शन पृ० १३

माणु से भिन्न होता है। परमाणुओं के परस्पर आकर्षण से संसार पैदा होता है और उन्हीं के विभाग से वस्तुओं का नाश होता है।"[१]

जैन-दर्शन[२] में भी अविभाज्य 'सत्' को परमाणु कहा गया है। तथा उसका स्वरूप बतलाते हुए कहा है—"वह सूक्ष्म, नित्य, एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श वाला होता है तथा परमाणु परस्पर कई दृष्टियों से एक रूप होते हुए भी कई गुणों की अपेक्षा भिन्न भी होते हैं।"[३] परमाणुओं के संयोग से स्कन्ध बनता है[४]। यह लोक भी स्कन्धों का ही परिणाम है। इसलिये परमाणुओं के संयोग से सृष्टि की रचना और वियोग से विनाश; यह तथ्य किसी अपेक्षा से जैन-दर्शन को भी मान्य है।

तत्वद्वयी और आत्मा का अस्तित्व

सृष्टि के अंगभूत प्रधान रूप से दो ही तत्त्व हैं—जड़ और चेतन। ऐसा पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी सीधे ढंग से व प्रकारान्तर से स्वीकार किया है। आधुनिक युग के महान् दार्शनिक रेने डेकार्ट ने दो तत्त्व माने हैं—जड़[५] और चेतन तथा एक तीसरे तत्त्व जीव के विकसित रूप ईश्वर को माना है। वे आत्मा को स्वतः सिद्ध और स्वप्रकाशी तथा ईश्वर को अनन्त गुणमय मानते हैं और यह भी कहते हैं कि प्रत्येक द्रव्य के गुण और पर्याय भिन्न-भिन्न हैं।

फ्रैंकथिली ने 'पाश्चात्य दर्शन का इतिहास' में जॉन लोक की मान्यता दी है जो इन्हीं दो तत्त्वों को सिद्ध करती है। जॉन लोक कहता है—"द्रव्य दो प्रकार के होते हैं—शरीर और आत्मा। शरीर ऐसा द्रव्य है जिसका विशेषण है प्रपंच, कठोरता, अभेद्यता, क्रियाशीलता आदि-आदि। शरीर को हम इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करते हैं। भौतिक द्रव्य के अतिरिक्त आत्मा की भी सत्ता होती है। आत्मा एक वास्तविक सत्ता है। हमें उसका स्पष्ट प्रत्यय होता है। प्रत्यक्ष विचार शक्ति, संकल्प और शरीर को गतिमय करने की शक्ति, आत्मा

१—पाश्चात्य-दर्शनों का इतिहास, ले० गुलाबराय, एम० ए० पृ० ३६

२—अविभाज्यः परमाणुः (जैन सिद्धान्त दीपिका प्र० १ सू० १४)

३—कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एक-रस-गन्ध-वर्णो, द्वि-स्पर्श-कार्य-लिंगश्च ॥

४—तदेकीभाव स्कन्धः (जैन प्र० १ सू० १५)

५—पाश्चात्य दर्शन

के गुण हैं। मुझे आत्मा का प्रत्यय उतना ही स्पष्ट होता है जितना कि एक मूर्त्त द्रव्य का।"[१]

लाइबनित्स ने चेतन को प्रधान मोनोड़ और जड़ को मोनोड़ों से निर्मित बताते हुए कहा—तत्त्व दो प्रकार के हैं—जड़ और चेतन।

"...चेतन वस्तुओं में एक प्रधान मोनोड आत्मा है।...जड़ वस्तुएं इस तरह केन्द्रित नहीं होती किन्तु वे केवल मोनोडों की राशि से निर्मित होती है"।[२] आगे उन्होंने आत्मा के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा है—"हम अपने आन्तरिक जीवन में ऐसे निरवयव, अभौतिक द्रव्य को पाते हैं, आत्मा ऐसा ही द्रव्य है।"[३]

रेने डेकार्ट ने आत्मा को स्वीकार करते हुए कहा है—"मैं विचार करता हूँ इसलिए मैं हूँ यह अनुभववाद है।"[४]

इमैनुएल कान्ट तो और भी आगे बढ़ गये हैं। वे आत्मा को इन्द्रिय-गम्य नहीं मानते। वे कहते हैं—"हमें अतीन्द्रिय वस्तुओं, स्वलक्षणों का चेतना पर प्रभाव डालने के ढंग से अतिरिक्त वस्तुओं का प्रागनुभव ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञान प्रत्यक्ष की अपेक्षा रखता है और इन्द्रियों द्वारा निज स्वलक्षणों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।"[५]

जैन-दर्शन ने भी मूलभूत तत्त्व दो ही माने हैं—जीव,[६] अजीव। जीव को अमूर्त और[७] अजीव को मूर्त्त भी माना है तथा आत्मा को स्वसंवेदन ग्राह्य माना है। द्रव्य के गुण और पर्याय[८] के स्वरूप का भी पृथक् विवेचन किया है। जो द्रव्य के साथ रहे वह गुण, और परिवर्तित हो वह पर्याय।

१—पाश्चात्य दर्शन का इतिहास पृ० ७५
(फ्रैंकथिली, अनुवादक—मधुकर)

२—पाश्चात्य दर्शन का इतिहास 'फ्रैंकथिली' पृ० १२७

३— " " " " " पृ० १२४

४— " " " " " पृ० १२२

५— " " " " " पृ० १६२

६—तत्त्वद्वय्यां नव तत्त्वावतार, (जैन० प्र० ५ सू० ४४)

७—अरूपिणो जीवाः अजीवा रूपिणोऽपि (जैन० प्र० ५ सू० ४५,४६)

८—सहभाविधर्मो गुणः, पूर्वोत्तराकारपरित्यागादानपर्यायः।
(जैन० प्र० १ सू० ४०,४४)

असत् का उत्पाद नहीं

पाश्चात्य दार्शनिक पार्मेनीडीज ने कहा—"सब संसार सत् स्वरूप है। असत् की स्थिति नहीं। सत् का आदि या अन्त नहीं होता। क्योंकि सत् से असत् होना और असत् से सत् होना दोनों ही अचिन्त्य हैं।"[1]

हेगेल ने भी यही तथ्य दिया है। उन्होंने कहा—यह पदार्थ न सत् रूप है, न असत् रूप। लेकिन "हर सत्ता[2] उभयात्मक है। सत्, असत् दोनों ही उसमें हैं। इसलिये इनका कहीं समावेश भी होना चाहिये। सत् और असत् दोनों विरोधियों का समावेश भाव में होता है। भाव न केवल सत् है, और न असत्। संसार में जितने पदार्थ हैं—सत् असत् रूप हैं।"

जैनदर्शन का तो यह निरपवाद सिद्धान्त है कि सत् का विनाश और असत् का उत्पाद नहीं होता।[3] भगवती में एक प्रकरण आया है—"काल की अपेक्षा जीव कभी नहीं था या न रहेगा यह बात नहीं। वह नित्य है, शाश्वत है। उसका कभी अन्त नहीं होता।"[4] इसी तरह अन्यत्र एक विवेचन है—स्वरूप से सभी पदार्थ हैं पर रूप से कोई नहीं हैं। असत् का उत्पाद नहीं होता ; जो है वह सदा था और रहेगा।[5]

द्रव्य में गुण पर्याय और अर्थ क्रिया

वस्तुओं के स्वरूप के विषय में रेने डेकार्ट के विचार हैं—"वस्तुएं चल भी हैं अचल[6] भी।.........अतः ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जो क्रिया न करता हो। जो क्रिया नहीं करता उसकी सत्ता भी नहीं है।"

वर्कले की मान्यता है—"द्रव्य में दो प्रकार के गुण हैं। १—मूलगुण, २—उपगुण। ये ठीक द्रव्यगत गुण और पर्याय के वाचक हैं।"[7]

१—पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास पृ० २८ (गुलाबराय)

२— ,, ,, ,, पृ० २०१ ,,

३—भावस्स णत्थि नासो, णत्थि अभावस्स उप्पादो (पंचास्तिकाय १५)

४—कालओणं जीवे ण कयावि ण आसि, णिच्चे णत्थि पुण से अन्ते। (भग० २. २. उ. १)

५—पाश्चात्य दर्शन का इतिहास पृ० १२२ (फ्रैंकथिली)

६—पाश्चात्य दर्शन।

७— ,, ,, ।

डेविड ह्यू म ने जो अपनी विचारधारा प्रस्तुत की उससे जैनदर्शन सम्मत सामान्य विशेषात्मक वस्तु की सिद्धि होती है। वे लिखते हैं "इससे हम कल्पना में किसी ऐसी अदृश्य और अज्ञेय वस्तु की धारणा कर लेते हैं जो जो सारी विभिन्नताओं में भी समान रहे।"[१]

जैन दर्शन ने पदार्थ मात्र का गुण अर्थ-क्रियाकारित्व[२] माना है। और पदार्थ का स्वरूप बतलाया है—उत्पाद[३], व्यय, ध्रौव्यात्मक। तथा द्रव्य में दो प्रकार के गुण माने हैं—शाश्वत[४] और अशाश्वत और वस्तु को सामान्य विशेषात्मक माना है।[५]

प्रत्यक्ष और परोक्ष

पाश्चात्य दर्शन में तत्त्व की भांति ज्ञान की भी दीर्घ मीमांसा है। ज्ञान के विविध रूपों के आधार पर तो वहाँ नाना वाद प्रचलित हैं—बुद्धिवाद, अनुभव वाद आदि। उन लोगों का ज्ञान, ज्ञान के प्रकार व स्वरूप भी बहुत अंशों में जैन-दर्शन से मिलता-जुलता है।

लाइबनित्स ने ज्ञान के दो प्रकार मानते हुए कहा है—स्पष्ट ज्ञान के अलावा अस्पष्ट ज्ञान भी होता है।"[६]

कान्ट ने कहा ज्ञान दो प्रकार का है—इन्द्रिय सापेक्ष[७] और इन्द्रिय निरपेक्ष। प्लेटीनस इससे भी आगे बढ़ा। उसने प्रत्यक्ष को भी एक रूप नहीं माना। उसने प्रत्यक्ष को कई भागों में बांटा। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, विकल प्रत्यक्ष, सकल प्रत्यक्ष। चाहे नाम इस रूप में न भी रखें हों लेकिन आशय में कहीं द्विरूपता नहीं है। उसने कहा—"बाह्य प्रत्यक्ष और तर्क दोनों से बढ़कर आन्तर[८] अनुभव है। पर आन्तर अनुभव या ध्यान केवल मानस तक ही पहुंच सकता है।" यहाँ बाह्य प्रत्यक्ष से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और आन्तर अनुभव से पारमार्थिक प्रत्यक्ष ही समझा जाता है। इससे आगे उन्होने कहा—"इससे

१—पाश्चात्य दर्शन का इतिहास (फ्रैंकथिली)

२—अर्थक्रियाकारित्वं वस्तुत्वं (जैन० प्र० १ सू० ४२ वृवि०)

३—उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं सत् (तत्वार्थ प० २८ पृ० २७०)

४—गुणापर्यायाश्रयो द्रव्यं (जैन० प्र० १ सू०)

५—सामान्यविशेषनित्यानित्यसदसद्‥वस्तु। जैन० प्र० २० सू० २८

६—पाश्चात्य दर्शन का इतिहास (फ्रैंकथिली) पृ० १३५।

७— ,, ,, ,, ,, पृ० १६२।

८— ,, ,, ,, (गुलाबराय) पृ० ८४

ऊपर समाधि की अवस्था है, जिसमें ज्ञाता-ज्ञेय का भेद सर्वथा विलुप्त सा हो जाता है, इसी को निर्बीज-समाधि कहते हैं ; जिसमें पहुँचने पर दिव्य ज्ञान की ज्योति स्वयं प्रकाशित हो जाती है।" यहाँ दिव्य ज्ञान से पारमार्थिक प्रत्यक्ष के चरम रूप सकल प्रत्यक्ष केवल ज्ञान की ओर संकेत है।

लॉक ने कहा—"हमारे ज्ञान में अर्थात् बुद्धि में कोई ऐसी चीज नहीं जो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त न हुई हो।" इस पर लीबनीज ने कहा—"लेकिन स्वयं बुद्धि उसमें शामिल नहीं है।"

जैन-दर्शन में भी मानस-ज्ञान और इन्द्रिय-ज्ञान को भिन्न माना है।

अनुभववाद के विवेचन में लॉक ने यह भी कहा—"अनुभव दो प्रकार का है—बाह्य प्रत्यक्ष और आन्तर प्रत्यक्ष। बाह्य प्रत्यक्ष पांचों इन्द्रियों का ज्ञान और प्रत्यक्ष अन्तःकरण का स्वसंवेदन।"[१] काण्ट का यह कथन है कि "बुद्धि जिस जिस बात को सोचती है इन्द्रियाँ उनमें से हरेक को नहीं भी जानती"[२] ठीक जैन सम्मत अश्रुत निश्चित मति का विवेचन देता है।

जैन दर्शन में भी (प्रमाणों की लम्बी चर्चा में न जाएँ तो) मुख्यतः दो ही प्रमाण माने गये हैं—प्रत्यक्ष[३] और परोक्ष। परोक्ष की भाँति प्रत्यक्ष के भी अनेक प्रकार माने गये हैं—१—सांव्यवहारिक[४] प्रत्यक्ष ; २—पारमार्थिक प्रत्यक्ष। पारमार्थिक प्रत्यक्ष को भी विकल[५] और सकल के भेदों से विभक्त किया गया है। इन्द्रियसापेक्ष को सांव्यवहारिक और निरपेक्ष को पारमार्थिक बताया गया है तथा मानस ज्ञान को इन्द्रिय-सापेक्ष[६] ही माना है। जहाँ इन्द्रिय-निरपेक्ष मानस ज्ञान होता है वह अश्रुत निश्चित मतिज्ञान कहलाता है।

धारणा और स्मृति

डेविड ह्यूम स्मृति को धारणाजनित ही मानते हैं। उन्होंने कहा—आत्मा में अनुमुद्राएँ[७] अज्ञात कारणों से ही उत्पन्न होती हैं। फिर अनुमुद्राओं की

१— ,, ,, ,, ,, पृ० १३८

२—पाश्चात्य दर्शन पृ० ३

३—प्रत्यक्षं च परोक्षं च (जैन० प्र० ९ सू० २)

४—पारमार्थिकं सांव्यवहारिकं च (जैन० प्र० ९ सू० ४)

५—पारमार्थिकमपि द्विविधं विकलं सकलं च (जैन० प्र० ९ सू० ६)

६—इन्द्रियसापेक्षं मनः (मनोनुशासनं प० १ सू० २)

७—पाश्चात्य-दर्शन का इतिहास (फ्रैंकथिली पृ० १०२)

नकल ही रह जाती है, जिसे प्रत्यय या धारणा कहते हैं। दुःख या सुख का यह अवशेष प्रत्यय कई अनुमुद्राएं उत्पन्न करता है। स्मृति और कल्पना में फिर इनकी नकल होती है। ह्यूम ने बौद्धों द्वारा सम्मत ज्ञान के अर्थोत्पन्न रूप का भी समर्थ खण्डन किया है। उन्होंने कहा—हम दो[1] प्रत्यक्षों में कार्य-कारण सम्बन्ध देखते हैं, इस सम्बन्ध को प्रत्यक्ष और वस्तु में नहीं देखते अतएव हम प्रत्यक्ष को वस्तुजनित नहीं मान सकते।

बर्कले ने भी यही बात कही—"आत्मा' ही विज्ञानों का आश्रय है।"[2] जैन-दर्शन में धारणा, स्मृति और ज्ञानोत्पत्ति के बारे में जो कुछ कहा गया है वह उपरोक्त मान्यताओं से भिन्न नहीं है। जैन-दर्शन ने ज्ञान की अवस्थिति को धारणा कहा है और वही आगे जाकर स्मृति[3] का कारण बनती है। ज्ञान को जैन-दर्शन ने भी 'तदुत्पन्न' (पदार्थोत्पन्न) नहीं माना है; अपितु आत्मा का गुण माना है।[4]

पुनर्जन्म

पुनर्जन्म सम्बन्धी मान्यता केवल जैन-दर्शन की ही नहीं, लोकायतों को छोड़कर मात्र भारतीय दर्शनों की है। जैन-दर्शन ने आत्मा की सिद्धि के लिए पुनर्जन्म को माध्यम बनाया है।[5] उत्तराध्ययन सूत्र में एक स्थान पर मुनि को कहा गया है—"आप इस लोक में भी उत्तम हैं और परलोक में भी उत्तम होंगे।"[6]

काण्ट ने मुक्तात्मा को सर्वोपरि सत् बतलाते हुए कहा—"सर्वोपरि सत् की प्राप्ति आगामी जीवन में ही हो सकती है।"[7] तथा सुकरात ने कहा—"भले आदमी के लिए परलोक में कोई भय नहीं।'[8] उपरोक्त तथ्यों के आधार पर

१— „ „ „ „ पृ० १११

२—पाश्चात्य दर्शन

३—तस्यावस्थितिः धारणा······इयमेव स्मृतेः परिणामिकारणम्।
(न्यायक वि० २ सू० १)

४—उपयोगलक्षणो जीवः (जैन० प्र० २ सू० २)

५—प्रेत्य सद्भावाच्च (न्याय० वि० ७ सू० ८)

६—इहं सि उत्तमो भन्ते पेच्चा होहिसि उत्तमो (उ० अ० गा०)

७—पाश्चात्य-दर्शन का इतिहास—फ्रैंकथिली पृ० १८१)

८—पाश्चात्य-दर्शन

यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान जीवन के अतिरिक्त भी जीवन का अस्तित्व रहता है—ऐसी पाश्चात्य दार्शनिकों की कल्पना ही नहीं उन्हें गहरा विश्वास था जो पुनर्जन्म और पूर्वजन्म दोनों की ही आधार-शिला बन सकता है।

ईश्वरवाद और मुक्ति

ईश्वरवाद और मुक्ति के बारे में जो धारणाएं जैन-दर्शन की हैं, कुछेक दार्शनिकों को छोड़कर लगभग पाश्चात्य दार्शनिकों की भी वैसी ही हैं। जैन दर्शन में समस्त कर्म-क्षय होने पर जो आत्मा का स्वरूप[१] (ज्ञान-दर्शन में अवस्थान) है वही मुक्ति है और ऐसी मुक्तात्माएं अनन्त मानी गयी हैं तथा यह भी जैन-दर्शन की विशेष मान्यता है कि मनुष्य ही क्रिया करते-करते ईश्वर बनता है।

यही बात दार्शनिक मेक्टेगर्ट ने कही—"ईश्वर के स्थान में सभी आत्माएं वास्तविक रूप में पूर्ण और अनादि हैं।"[२]

लाइबनित्स ने कहा—"ईश्वर सबसे बड़ा मोनोद है। वही शुद्ध सक्रियता है और स्वयं में पूर्ण है।[3]

जान लॉक ने कहा—"(शुद्ध स्पिटीक) ईश्वर केवल[४] सक्रिय है। मैल्फस पर्फेरी ने भी भारतीय दर्शनों की भाँति अन्तिम उद्देश्य मुक्ति को ही माना है। उन्होंने कहा—'धर्म, तप, यम, नियम से चित शुद्ध करके समाधि या तुरीय अवस्था में पहुंच कर मुक्त होना मनुष्य का परम उद्देश्य है।" आइकन ने मुक्तात्मा के स्वरूप का और भी गहराई से विश्लेषण किया है।[५] वे कहते हैं—"मनुष्य आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश कर क्षुद्र व्यक्तित्व से पार होकर पुरुषता में प्रवेश करता है। इस पुरुषता में प्रवेश करने में मनुष्य अपनी निजता खोता नहीं, वह केन्द्र रूप बना रहता है; उसमें वृत्त का विस्तार बढ़ जाता है।"[६]

१—कृत्स्नकर्मक्षयादात्मनः स्वरूपेऽवस्थानं मोक्षः (जैन पृ० ५ सू० ३६)

२—पाश्चात्य दर्शन का इतिहास—फ्रैंकथिली पृ० ३१२

३—वही — पृ० १२६

४—वही — पृ० ७५

५—पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास—गुलाब राय पृ० ८४

६—वही — पृ० २८४

स्याद्वाद और सापेक्षवाद

स्याद्वाद जैन दर्शन का सर्वथा मौलिक और नितान्त उपयोगी सिद्धान्त है। आज तक अन्यान्य दार्शनिकों और विद्वानों ने इसका प्रतिवाद ही किया। इस पर नाना आरोप लगाए और जैन-दर्शन का सबसे लचीला सिद्धान्त कहकर बड़ी आलोचना की ; लेकिन ज्योंही पाश्चात्य दार्शनिकों का सापेक्षवाद सम्बन्धी विश्लेषण सामने आया तो एक साथ सभी को सतर्क होना पड़ा और अब धीरे-धीरे यह गहन विषय भी सबके लिए सुपाच्य बन रहा है। स्याद्वाद सम्बन्धी विवेचन को देख यह नहीं लगता कि जैन-दर्शन और पाश्चात्य दर्शन कोई दर्शन-जगत् की दो धाराएं हैं।

जैन-दर्शन ने कहा—"हर तथ्य अपेक्षा अनपेक्षा से ही सिद्ध होता है।"[१] अन्यत्र उल्लेख है—"वक्ता को विवक्षा-भेद से ही बोलना चाहिये।[२] किसी अपेक्षा से लोक है भी और नहीं भी।[३] अपेक्षा-भेद से एक ही व्यक्ति पुत्र, पिता, मामा, चाचा, भांजा, भतीजा सब कुछ बन जाता है।[४]

स्याद्वाद को समझाने के लिए अनेक उदाहरण दिये गये हैं। उनमें एक यह भी है। जैसे बिलौना करनेवाली गोपी के दोनों हाथ विपरीत दिशागामी[५] होते हैं, पर उनसे तथ्य एक ही निकलेगा (मक्खन)। वैसे एक वस्तु में विरोधी अनन्त धर्मों का समावेश कोई अनगढ़ कल्पना नहीं। इसी तरह और भी सहस्रों वर्ष पूर्व सम्भाषित जैन आगमों में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, स्यादस्ति स्यान्नास्ति, द्रव्यगुण पर्याय, सप्तनय आदि विविध रूपों में स्याद्वाद के बीज बिखरे पड़े हैं।

पाश्चात्य-दर्शन के सापेक्षवाद में भी ठीक ऐसे ही तथ्य और उदाहरण उपलब्ध होते हैं। पाश्चात्य जगत् में अभी अभी तक तो केवल आइंस्टीन का ही सापेक्षवाद प्रसिद्ध था लेकिन पाश्चात्य दर्शनों के इतिहास में बताया है कि ई० पू० ६०० में हैरेक्लीट्स ने सापेक्षवाद का सांगोपांग विवेचन दिया तथा और भी आइन्स्टीन के अतिरिक्त पाश्चात्य दार्शनिक हैं जिनकी मान्यताओं में स्याद्वाद का आभास ही नहीं, स्पष्ट तत्त्व मिलता है।

२—अर्पितानर्पितसिद्धेः (तत्वार्थाधिगम पृ० ३१)
१—विभज्जवायं च वियागरेज्जा (सू० १-१३)
३—लोए अत्थि वि णत्थिवि अवत्तव्वं सिया (आचारांग)
४—विवक्षा विवक्षातः संगति (जैन प्र० ६ सू० ३०)
५—एकेनाकर्षन्ती···

हैरेक्लीटस ने तत्वों की व्याख्या करते हुए कहा है—"जो क्षणिक है वह अवश्य ही सापेक्ष है। समुद्र का पानी मछली के लिए मीठा और हमारे लिए खारा है। हम हैं भी और नहीं भी। हम सत् भी हैं, असत् भी हैं और अनिर्वचनीय भी। जितने भी द्वन्द्व हैं सब सापेक्ष हैं। जैसे—एक-अनेक, अच्छा-बुरा, गति-स्थिति, परिणाम-सत्ता, जीवन-मरण, सर्दी-गर्मी, यह पक्ष विपक्ष का विरोध समन्वय को उत्पन्न करता है।"[१] इसी प्रसंग को पुष्ट करने के लिए दो दृष्टान्त दिये—"जब धनुष चलाया जाता है तो चलानेवाले के दोनों हाथ विरोधी दिशाओं में खींचते हैं, पर लक्ष्य उनका एक ही है। वीणा के तार विभिन्न रीति से खींचे जाते हैं फिर भी वे विभिन्न स्वर एक ही राग को उत्पन्न करते हैं।"

इसी तरह प्रोफेसर गाम्पर्ज ने कहा है—"सत् जड़ और चेतन उभय रूप है।"[२] जॉन लोक—"मनुष्य की आत्मा सक्रिय भी है और निष्क्रिय भी।"[३] टॉमसहोब्स ने कहा—"निरपेक्षित अच्छाई कोई चीज नहीं, अच्छाइयाँ सदा सापेक्षिक ही होती हैं।"[४]

हर्बर्ट ने स्याद्वाद को घटित करने के लिए एक नई उक्ति लगाई है। वे कहते हैं—"पदार्थ में गुण अनेक न होकर सत् अनेक होते हैं। तभी एक व्यक्ति पुत्र के सम्बन्ध से पिता; पिता के सम्बन्ध से पुत्र आदि होता है;"[५] अथवा पदार्थ एक ही रहता है, सम्बन्ध बदलने से दूसरा दिखाई देता है। आईस्टीन ने कहा—"हम केवल आपेक्षिक सत्य को ही जान सकते हैं। सम्पूर्ण सत्य तो सर्वज्ञ के द्वारा ही ज्ञात है।"[६]

इन कतिपय स्थलों से हम अनुमान लगा सकते है कि दो विपरीत दिशा-गामी दर्शनों में कितना साम्य है, जैसे एक ही स्रोत के दो प्रवाह हों। यहाँ मैंने जैन दर्शन की कुछेक साक्षियों और कुछेक उद्धरणों का ही उल्लेख किया है और पाश्चात्य दर्शन की एक तथ्य को पुष्ट करनेवाली अनेक साक्षियों का।

१—पाश्चात्य-दर्शन पृ० ५

२—पाश्चात्य दर्शन

३—पाश्चात्य दर्शन का इतिहास—फ्रैंकथिली पृ० ७५

४—वही — पृ० २१

५—पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास—गुलाबराय, एम०ए० पृ० २३०,३१

६—कांस्मोलोजी ओल्ड एण्ड इण्डिया पृ० २०१

ऐसा मैंने इसलिए किया है कि जैन-दर्शन के प्रणेता एक ही हैं। जो तत्व उनके एक वाक्य से स्पष्ट होगा वही अनेक से भी।

लेकिन पाश्चात्य-दर्शन किसी एक व्यक्ति का दर्शन नहीं है। एक व्यक्ति के विचार समस्त पाश्चात्य दर्शन का प्रतिनिधित्व नहीं करते। इस-लिए मैंने एक ही तथ्य को व्यक्त करनेवाले अनेक दार्शनिकों के विचारों को उल्लिखित करना उचित समझा। यह तथ्यों की एकता प्रत्येक व्यक्ति को देश-काल की दूरी मिटाकर आन्तरिक एकता की प्रतीति करने का संकेत करती है ; जिससे कि सत्य की समग्रता पाई जा सके।

प्रश्न व्याकरण सूत्र—एक अध्ययन

[श्री अगरचन्द नाहटा]

भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन का प्रधान स्थान है। यद्यपि कई लोगों ने वैदिक दर्शनों के ही ६ भेद बतलाते हुये उन्हें षड्दर्शन की संज्ञा दे दी और कइयों ने षड्दर्शन के नामों में बौद्ध को तो सम्मिलित कर लिया पर जैन को छोड़ दिया। कई लोगों ने जैन दर्शन को नास्तिक दर्शन भी बतला दिया; पर वास्तव में केवल वेदों को न मानने से ही किसी को नास्तिक कह देना उचित नहीं है। जैन दर्शन तो आत्मा, परमात्मा और पुनर्जन्म को मानता है इसीलिये किसी भी दृष्टि से उसे नास्तिक कहना अनुचित है। दर्शनों की संख्या के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं रहा है इसी तरह नामों के सम्बन्ध में भी। बौद्ध दर्शन की अपेक्षा जैन दर्शन बहुत प्राचीन है यह तो सभी विद्वान् स्वीकार करते ही हैं। दार्शनिक विचारों के रूप में भी वह अत्यन्त महत्वपूर्ण और गौरवशाली है।

जैन दर्शन के अनुसार उसकी दार्शनिक मान्यतायें या विचारों की परम्परा इतनी अधिक प्राचीन है कि उसकी आदि बतलाना सम्भव नहीं। समय समय पर अनेकों महापुरुषों ने महान् साधना करके आत्म-साक्षात्कार किया और आत्मा की निर्मलता द्वारा जो ज्ञान उन्हें प्राप्त हुआ उस केवल-ज्ञान द्वारा वस्तु-तत्व का निरूपण और साधना का मार्ग उन तीर्थंकर महापुरुषों ने जगह-जगह घूमकर सर्व-सुलभ बना दिया। लोक-भाषा में उनकी वाणी प्रकटित हुई और बिना किसी भेद-भाव के उसको सुनने और उसके अनुसार आचरण करने के लिये सबके लिये मार्ग खुला था। न पुरुष और स्त्री का भेद-भाव, न नीच और उच्च जाति का। समभाव या समता-धर्म ही जैन धर्म का प्रधान सन्देश है। अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्त आदि धर्मों का विकास उसी समत्वभाव के अन्तर्गत हुआ है। राग और द्वेष का अभाव ही समता है। तीर्थंकरों ने स्वयं उस समत्व की सर्वोच्च उपलब्धि की और जन-जन को उसी मार्ग की ओर उन्मुख किया। इस अवसर्पिणी काल में धर्म प्रवर्टक या चतुर्विध संघ के स्थापक तीर्थंकर २४ हो गये हैं जिनमें से अन्तिम भगवान् महावीर की मंगलमय वाणी का ही कुछ अंश हमें प्राप्त है। करीब १ हजार वर्ष तक वह वाणी मौखिक रूप से ही प्रचारित होती रही और इसी बीच

अनेकों बड़े-बड़े दुष्काल पड़े एवं राजनैतिक उथल-पुथल हुवे, इसलिये महावीर वाणी का बहुत थोड़ा अंश ही हमें प्राप्त है। केवली होने के बाद ३० वर्ष तक वे अनेक स्थानों में घूमते हुए उपदेश देते रहे अतः इतने लम्बे समय में अवश्य ही उन्होंने लाखों करोड़ों श्लोक परिमित कल्याणकर वाणी प्रकटित की होगी। अर्थ रूप से तीर्थंकर जो उपदेश देते हैं उसे उनके प्रधान शिष्य गणधर सूत्र रूप में संकलित करते हैं। वे सूत्र द्वादशांगी गणिपिटक के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमें से १२वाँ अंग दृष्टिवाद तो विच्छेद होते-होते लुप्त-सा हो गया, अवशेष ११ अंग यत्किंचित् रूप में अब भी प्राप्त हैं। आश्चर्य की बात है कि मुनि-आचार का सर्वप्रथम ग्रन्थ याने ११ अंगों में से प्रथम अंग सूत्र आचारांग का भी एक अध्ययन शताब्दियों से अप्राप्य हो गया और १०वाँ प्रश्न व्याकरण सूत्र नामक अंग ग्रन्थ तो मूलरूप में कुछ भी सुरक्षित नहीं रहा।

चौथे अंग समवायांग सूत्र में और नन्दी सूत्र में १०वें अंग प्रश्न व्याकरण के विषय निरूपण का जो विवरण प्राप्त है उसे नीचे दिया जा रहा है। उससे यह स्पष्ट हो जायगा कि हम जिसे वर्तमान में प्रश्न व्याकरण सूत्र कहते हैं वह समवायांग और नन्दी सूत्रोक्त विवरणवाला नहीं है।

समवायांग सूत्रोक्त विवरण

'से किं तं पण्हावागरणाणि ? पण्हावागरणेसु अट्ठुत्तरं पसिणसयं अट्ठुत्तरं अपसिणसयं अट्ठुत्तरं पसिणापसिणसयं विज्जाइसया नागसुवन्नेहिं सद्धिं दिव्वा संवाया आघविज्जंति, पण्हावागरणदसासु णं ससमयपरसमयपण्णवयपत्ते-अबुद्धविविहत्थभासाभासियाणं अइसयगुणउवसमणाणप्पगारआयरियभासि-याणं वित्थरेणं वीरमहेसीहिं विविहवित्थरभासियाणं च जगहियाणं अद्दागंगुट्ठ-बाहुअसिमणि-खोमआइच्चभासियाणं विविहमहापसिण-विज्जामणपसिण-विज्जादेवयपयोग-पहाण-गुणप्पगासियाणं सब्भूय-दुगुणप्पभावनरगणमइ-विम्हय कराणं अईसयमईयकालसमयदमसमतित्थकरुत्तमस्स ठिइकरणकारणाणं दुर-हिगमदुरवगाहस्स सव्वसव्वन्नुसम्मअस्स अबुहजण-विबोहणकरस्स पच्चक्खय-पच्चयकराणं पण्हाणं विविहगुणमहत्था जिणवरप्पणीया आघविज्जंति पण्हावागर-णेसु णं परित्ता वायणा संखेज्जा अणुओगदारा जाव संखेज्जाओ संहणीओ, से णं अंगट्ठयाए दसमे अंगे एगे सुयक्खंधे पणयालीसं उद्देसणकाला पणयालीसं समुद्देसणकाला संखेज्जाणि पयसयसहस्साणि पयग्गेणं प०, संखेज्जा अक्खरा अणन्ता गमा जाव चरणकरणपरूवणया आघविज्जंति। सेत्तं पण्हावागरणाइं ॥१०॥ (सूत्र १४५)

नन्दीसूत्र में विवरण थोड़े एकान्तर से इस प्रकार मिलता है—

से किं तं पण्हावागरणाइं ? पण्हावागरणेसु णं अट्ठुत्तरं पसिणसयं, अट्ठुत्तरं अपसिणसयं, अट्ठुत्तरं पसिणापसिणसयं, तं जहा—अंगुट्ठपसिणाइं, बाहुपसिणाइं अद्दागपसिणाइं, अन्नेवि विचित्ता विज्जाइसया, नागसुवण्णेहिं सद्धिं दिव्वा संवाया आघविज्जन्ति, पण्हावागरणाणं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ, सेणं अंगट्ठयाए दसमे अंगे एगे सुअक्खंधे, पणयालीसं अज्झयणा, पणयालीसं उद्देसणकाला, पणयालीसं समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासयगडनिबद्धनिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जन्ति, पण्णविज्जन्ति, परूविज्जन्ति, दंसिज्जन्ति, निदंसिज्जन्ति, उवदंसिज्जन्ति, से एवं आया, से एवं नाया एवं विण्णाया एवं चरणकरण-परूवणा आघविज्जइ, से तं पण्हावागरणाइं १० ॥ सू० ५४ ॥

अर्थात् प्र०—"देव ! वे प्रश्नोत्तरों के दश अध्ययन कैसे हैं ?"

उत्तर—वे इस प्रकार हैं—प्रश्न व्याकरणों में १०८ प्रश्न हैं अर्थात् पूछे हुए प्रश्नों के जपमात्र से शुभाशुभ उत्तर कहनेवाली विद्या व मन्त्र १०८ हैं, १०८ अप्रश्न याने बिना पूछे शुभाशुभ कहनेवाली विद्याएं हैं, पृष्टापृष्ट—पूछे या बिना पूछे शुभाशुभ कहनेवाली विद्याएं भी १०८ हैं, जैसे कि—अंगुष्ठ प्रश्न, अंगुष्ट विद्या, बाहु प्रश्न, आदर्श प्रश्न। अन्य भी अनेक विचित्र विद्या-तिशय तथा नागकुमार सुवर्णकुमार, आदि के साथ दिव्यसम्वाद इसमें कहे जाते हैं, प्रश्न व्याकरण की परिमित वाचनाएं हैं, संख्यात अनुयोग द्वार, तथा वेढ़-श्लोक, निर्युक्ति, संग्रहणी और प्रतिपत्तियाँ ये सब संख्यात२ हैं, अंग की अपेक्षा वह दशवाँ अंग है, एक श्रुतस्कन्ध और पैंतालीस इसके अध्ययन हैं, पैंतालीस उद्देशनकाल और पैंतालीस ही समुद्देशनकाल हैं। पदपरिणाम से संख्येय[1]—हजारों पद हैं, संख्येय अक्षर, अनन्त गम अर्थज्ञान और अनन्तपर्यायें हैं, परिमित त्रस व अनन्त स्थावर हैं तथा शाश्वत और कृत इसमें निबद्ध है, हेतु आदि से सिद्ध जिनप्रणीत भाव यहाँ कहे जाते हैं। प्रज्ञापन, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन और उपदर्शन से विशेष कहे जाते हैं, फल स्थिरचेता वह पाठक एवम्भूत आत्मावाला हो जाता है तथा शास्त्रोक्त विद्याओं का यथार्थ ज्ञाता व विज्ञाता बनता है, इस प्रकार प्रश्न व्याकरण में चरण करण की प्ररूपणा की जाती है, यह प्रश्न व्याकरण दशवां अंग वर्णन से पूर्ण हुआ ॥ सू० ५४ ॥

१—९२ लाख १६ हजार पद प्रथम व्याख्या के अनुसार होते हैं।

आचार्य विजयपद्मसूरि ने अपने 'श्री जैन प्रवचन किरणावली' के पृष्ठ २८१ में और प्रो० हीरालाल कापड़िया ने 'आगमो नुं दिग्दर्शन' ग्रन्थ के पृष्ठ ११३ में प्रश्न व्याकरण के उपरोक्त विषयों की चर्चा करते हुये लिखा है कि "नन्दी सूत्र में उल्लिखित विषयोंवाला भाग विच्छेद या लुप्त हो गया है, उसके अतिरिक्त अन्य भाग विद्यमान हैं।" पर वास्तव में यह कथन सही नहीं है। क्योंकि समवायांग और नन्दी सूत्र में यह कहीं भी नहीं कहा गया कि प्रश्न व्याकरण में ५ आश्रवों और ५ संवरों का निरूपण है। उन दोनों ग्रंथों में इस सूत्र के ४५ अध्ययन बतलाये गये हैं। पर उपलब्ध संस्करण में उतने अध्ययन भी नहीं हैं।

अब हमारा ध्यान स्थानांग सूत्र के १०वें स्थान में उल्लिखित "पण्हा वागरणदसा' की ओर जाता है। उसमें इस ग्रन्थ के १० अध्ययन बतलाये गये हैं। यद्यपि वर्तमान में प्राप्त प्रश्न व्याकरण सूत्र में भी ५ आश्रव और ५ संवर रूप १० द्वार हैं पर स्थानांग सूत्र में इसके १० अध्ययनों के जो नाम दिये हैं वे प्राप्त सूत्र से मेल नहीं खाते। स्थानांग में १० अध्ययनों के नाम ये हैं—

"पण्हावागरण दसाणं दस अज्झयणा पं० तं०—(१) उवमा, (२) संखा, (३) इसिभासियाइं, (४) आयरिय भासियाइं, (५) महावीर भासियाइं, (६) खोमग पसिणाइं, (७) कोमल पसिणाइं, (८) अद्दाग पसिणाइं, (९) अंगुठ्ठ पसिणाइं, (१०) बाहुपसिणाइं।"

दूसरी बात यह भी है कि पण्हावागरण अर्थात् प्रश्न व्याकरण सूत्र के इस नाम से यह ध्वनित होता है कि इसमें प्रश्न पूछे गये हैं और उनका उत्तर दिया गया है। पण्हावागरणाइं अर्थात् प्रश्नव्याकरणानि यह बहुवचनान्त पद है, इससे इस सूत्र में बहुत-से प्रश्नोत्तर होने चाहियें पर वर्तमान में जो प्रश्न व्याकरण उपलब्ध है उसमें तो न प्रश्न पूछा गया है न उत्तर दिया गया है। पर बिना पूछे ही जम्बू स्वामी को आश्रव और संवरवाले प्रवचनों का सार कहने का उल्लेख किया गया है। यथा—

"जम्बू! इणमो अण्हय-संवर-विणिच्छयं पवयणस्स निस्संदं। वोच्छामि णिच्छयत्थं, सुहासियत्थं महेसीहिं ॥१॥"

निष्कर्ष यह है कि उपलब्ध आगम नन्दी, स्थानांग, समवायांग में उल्लिखित प्रश्न व्याकरण से भिन्न ही है।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि प्राचीन प्रश्न व्याकरण कब लुप्त हुआ और वर्तमान प्रश्न व्याकरण ने उसका स्थान कब ग्रहण किया? इस सम्बन्ध में मेरे

विचार सुझाव बतलाने से पूर्व दिगम्बर ग्रन्थों में प्रश्न व्याकरण का विषय निरूपण किस रूप में मिलता है; इसको भी जरा देख लेना जरूरी है। यद्यपि दिगम्बर मान्यता के अनुसार तो ११ अंग आदि सभी प्राचीन आगम लुप्त हो चुके हैं फिर भी षट्खंडागम, तत्वार्थवार्तिक आदि में ११ अंगों का जो विषय वर्णन बतलाया गया है उससे दिगम्बर विद्वानों की इस सम्बन्ध में क्या मान्यता या परम्परा रही है इसकी कुछ झांकी मिल ही जाती है। पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने 'जैन साहित्य का इतिहास—पूर्व पीठिका' के पृष्ठ ६६८ में लिखा है—

"प्रश्न व्याकरण—आक्षेप और विक्षेप के द्वारा और नय के आश्रित प्रश्नों के व्याकरण को प्रश्न व्याकरण कहते हैं। उनमें लौकिक और वैदिक अर्थों का निर्णय किया जाता है। "आक्षेपविक्षेपैर्हेतुनयाश्रितानां प्रश्नानां व्याकरणं प्रश्नव्याकरणं, तस्मिंल्लौकिकवैदिकानामर्थानां निर्णयाः" (त० वा० पृ० ७२) आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी, निर्वेदनी, इन चार कथाओं का निरूपण करता है···यह अंग प्रश्न के अनुसार नष्ट, मुष्टि, चिन्ता, लाभ, अलाभ, सुख-दुःख, जीवित, मरण, जय, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और संख्या का भी प्ररूपण करता है (षट्खं० पु० १०५) (क० पा०, भा० १ पृ० १३१) प्रश्न व्याकरण में एक सौ आठ प्रश्न, एक सौ आठ अप्रश्न और एक सौ आठ प्रश्ना-प्रश्नों का कथन रहता है। अन्य भी अनेक विद्यातिशयों का तथा नागकुमार, सुपर्णकुमार तथा अन्य भवनवासी देवों के साथ साधुओं के दिव्य सम्वादों का वर्णन रहता है। (नन्दीसूत्र ५५। समवा० सू० १४५)।"

अब यहाँ एक प्रश्न और उपस्थित होता है कि क्या षट्खण्डागम और तत्वार्थवार्तिक के समय तक उनमें उल्लिखित विषयवाला प्रश्न व्याकरण प्राप्त था या सुनी-सुनाई परम्परा के आधार से उन्होंने इसका विषय निरूपण किया है? यह तो निश्चित है कि इस ग्रन्थ में अनेक प्रकार के प्रश्नों की व्याख्या या उत्तर था। पर श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों के विषय निरूपण में जो थोड़ी भिन्नता है वह भी विचारणीय है ही। दिगम्बर ग्रन्थों में उल्लिखित विषय भी प्राप्त प्रश्न व्याकरण में नहीं मिलते।

साधारणतया तो यही विचार होता है कि नंदी सूत्र के निर्माण समय तक और वीर निर्वाण ९८० में देवर्धि गणि ने आगमों को लिपिबद्ध किया तब तक तो स्थानांग, समवायांग और नंदी में उल्लिखित विषयों वाले आगम विद्यमान होंगे ही : पर यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती क्योंकि अन्य आगमों के सम्बन्ध में भी जो विवरण इन ग्रन्थों में मिलते हैं वे उपलब्ध

आगमों से पूर्ण रूप से मेल नहीं खाते। कहीं अध्ययनों के नामों में अन्तर है तो कहीं अन्य किसी बातों में। इससे यह भी सम्भव है कि पुरानी परम्परा को इन सूत्रों में जैसी भी वह प्राप्त थी, स्थान दे दिया गया। आश्चर्य की बात है कि इस प्रकार से एक अंग सूत्र जैसा विशिष्ट ग्रन्थ विच्छेद हो तो उसका उल्लेख तक नहीं और न उसके बदले में दूसरा ग्रन्थ उसीके नाम से प्रतिष्ठित हुआ, उसे कब व किसने बनाया और स्थानापन्न किया, इसका भी किसी ने कहीं भी उल्लेख तक नहीं किया। छठी शताब्दी के प्रारम्भ में लिपि-बद्ध किये हुये अन्य अंग सूत्रादि सुरक्षित रह गये और केवल १०वां अंग ही लुप्त हो गया यह बात अखरती अवश्य है। विशेषतया जब कि उसके लुप्त होने के कारण तक का कहीं भी उल्लेख तक नहीं मिलता।

अब हमें सोचना यह है कि हम इस बात का पता कैसे लगायें कि वर्त-मान में उपलब्ध प्रश्न व्याकरण कब प्रकाश में आया? मोटे तौर पर तो यही कहा जा सकता है कि आगमों के लिपिबद्ध किये जाने के समय तक प्राचीन प्रश्न व्याकरण विद्यमान होना चाहिये। अतः छठी शताब्दी के बाद ही वर्त-मान प्रश्न व्याकरण की रचना हुई होगी और टीकाकार के समय तो प्राचीन प्रश्न व्याकरण तो उपलब्ध था ही नहीं और वर्तमान प्रश्न व्याकरण ही उन्हें प्राप्त था। इसलिये छठी से १२ वीं शताब्दी के बीच प्राचीन आगम का लुप्त होना और वर्तमान आगम का प्रकाश में आना सिद्ध होता है। पर यह बीच का अन्तर काफी लम्बा है। इसलिए हमें कुछ और गहराई से खोज करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। मेरी राय में इसके निम्नोक्त उपाय हैं—

१— उपलब्ध प्रश्न व्याकरण के पाठ की तुलना अन्य आगम आदि ग्रन्थों से की जाय। और यह देखा जाय कि कौन-कौन से प्राचीन आगम से इस सूत्र के पाठ कहाँ-कहाँ कितने अंश में मेल खाते हैं। भाषा की दृष्टि से शब्द रूप आदि में कोई अन्तर है या नहीं, अर्थात् अन्य आगमों से किन-किन बातों में अन्तर आता है। शैली आदि की दृष्टि से भी जहाँ जो अन्तर हो उस पर बारीकी से विचार किया जाय। इस ग्रन्थ में ५ आश्रवों और अहिंसा के जो अनेक पर्यायवाची नाम आये हैं उनमें कौन से नाम कितने पुराने हैं। विषय निरूपण में भी कोई बात ऐसी उल्लिखित हो तो ध्यान दिया जाय जिससे इसके निर्माण-समय का अनुमान किया जा सके।

प्राचीन प्रश्न व्याकरण में जो-जो विषय थे उन विषयों का निरूपण चाहे संक्षेप में ही हो पर किन-किन ग्रन्थों में व किस रूप में उन विषयों की चर्चा

हुई है—इसकी खोज गहराई और बारीकी से होनी चाहिये। जैसा कि नेपाल के राजकीय संग्रहालय में जो इस नाम वाले ग्रन्थ की प्रति उपलब्ध पाठ से भिन्न प्रकार की बतलाई जाती है उसका भली भाँति अध्ययन किया जाय। इसी तरह अंग विज्जा आदि कई ग्रन्थ ऐसे उपलब्ध हैं जिनका विषय-विवेचन प्राचीन प्रश्न व्याकरण से कई अंशों में मेल खाता हुआ नजर आता है। जैसलमेर, पाटण भण्डार आदि में कुछ रचनायें ऐसी हैं जिनका नाम या विषय प्रश्न व्याकरण जैसा है। उदाहरणार्थ पाटण भण्डार के संघवी पाड़े के ताड़पत्रित प्रति नं० ६ में प्रश्न व्याकरण टीका चूड़ामणि और लीलावती का उल्लेख पाटण भण्डार सूची में इस प्रकार मिलता है—

१—प्रश्न व्याकरण टीका (चूड़ामणि) प० १५९

Beginning :—

शास्त्रस्यारंभेऽशेषदुःखप्रक्षालनार्थं मंगलार्थं च मंगलं चाभिप्रेतार्थमिष्ट-देवता।

Colophon :—

> **एवं स्वभेदेन विभजेद् यावत् परिज्ञानमिति।**
> **चूड़ामणि टीका समाप्ता। ग्रंथाग्रं २३०० श्लोकानां॥**

२—लीलावती प० १५९-१६३

Colophon :—**प्रश्न व्याकरण टीकायां लीलावत्यां मयूरवाहिनी।**

जैसलमेर भण्डार में भी जयपहुड़, प्रश्न व्याकरण आदि कुछ रचनायें हमें देखने को मिली थीं और मुनि जिनविजयजी जयपाहुड़ को छपवा भी रहे थे।

मेरे कहने का आशय यह कदापि नहीं है कि वे रचनायें प्राचीन प्रश्न व्याकरण से संबंधित हैं पर खोज की दिशा—ऐसी जितनी भी रचनायें प्राप्त हों उनके अध्ययन से—कुछ न कुछ मिल सकेगी ही इसी संभावना से मैंने इन रचनाओं की चर्चा की है। प्रो० श्री हीरालाल कापड़िया ने 'आगमो नुं दिग्द-र्शन' के पृ० २०० में यह लिखा है कि कल्प भाष्य की गाथा १३०८ व ११ में कौतुक, भूति, प्रश्न, प्रश्नाप्रश्न, निमित्त का उल्लेख है तथा उच्छिष्ट में अंगूठे के नख, कपड़ा, दर्पण, हाथ, तलवार, पानी, भींत, आदि में देवता उतर आते हैं और उनसे प्रश्न पूछना—यह पसिण शब्द से सम्बन्धित है। स्थानांग में प्रश्न व्याकरण दशा के १० अध्ययनों के नामों में खोमग पसिण भी एक है। सम्भव है उसका आशय यह हो कि कपड़े में उतरकर अवतीर्ण आये हुये देवता

से प्रश्न पूछना। कल्प भाष्य की गाथा १३१३ और उसकी टीका में चूड़ा-मणि ग्रन्थ का उल्लेख है जिससे भूत, भविष्यत् और वर्तमान के लाभ और अलाभ की जानकारी मिल सकती है।

प्राचीन प्रश्न व्याकरण के लुप्त होने का एक यह भी कारण हो सकता है कि उसमें शुभाशुभ बतलाने वाली अनेक विचित्र विद्यायें थीं और उन विद्याओं का उपयोग जैन मुनियों के लिये निषिद्ध है अतः दुरुपयोग होने की सम्भावना से उस ग्रन्थ को प्रचार में नहीं रखा गया हो और आश्रव और संवर के निरू-पण करने वाले ग्रन्थ को उसी नाम से और उसी के स्थान पर प्रचारित व प्रतिष्ठित कर दिया गया हो।

प्रश्न व्याकरण का उल्लेख अन्य किस-किस आगम, निर्युक्ति, चूर्णि, टीका आदि ग्रन्थों में मिलता है और यदि कहीं इस ग्रन्थ का उद्धरण भी दिया गया हो तो उसकी अच्छी तरह खोज की जानी चाहिये। जिससे उप-रोक्त आगम की प्राचीनता आदि के सम्बन्ध में विचार करने में सुविधा हो।

प्रश्न व्याकरण के विवरण व प्रकाशित संस्करण

इस सूत्र पर कोई निर्युक्ति, चूर्णि आदि प्राचीन विवरण नहीं मिलते। सं० ११२० के लगभग अभयदेवसूरि की संस्कृत टीका ही सर्वप्रथम रची गई जिसे द्रोणाचार्य ने संशोधित किया। उसके बाद पार्श्वचन्द्र सूरि (१६वीं शती) ने राजस्थानी गद्य में बालावबोध नामक भाषाटीका बनाई। तदनन्तर अजितदेव सूरि (१७वीं शती के प्रारम्भ) ने दीपिका नामक संस्कृत टीका की रचना की जो अभी तक अप्रकाशित है (मूल ग्रन्थ का परिमाण करीब १३०० श्लोकों का है। अभयदेव सूरि की टीका का परिमाण जैन ग्रन्थावली के अनुसार ४६०० श्लोकों का है।) संवत् १७६३ के आसपास ज्ञानविमल सूरि ने इस सूत्र की वृत्ति बनाई जो दो भागों में मुक्ति विमल जैन ग्रन्थमाला द्वारा सं० १९९३-९५ में प्रकाशित हो चुकी है। दया विमल जैन ग्रन्थमाला द्वारा सं० १९८६ में प्रश्न व्याकरण के इस सूत्र के आश्रव द्वार का गुर्जर भाषानुवाद प्रकाशित हुआ है। उसके प्रारम्भ में कवर पृष्ठ पर इस सूत्र का रचयिता भद्रबाहु स्वामी बतलाया है, पता नहीं उसका आधार क्या है? अन्त में इस विवरण को ज्ञानविमल सूरि विरचित लिखा गया है। सम्भव है ज्ञान विमल सूरि की टीका पर यह गुर्जर भाषानुवाद आधारित हो।

इस सूत्र का सर्वप्रथम प्रकाशन राय धनपत सिंह बहादुर ने सं० १९३३ में किया था. जिसमें अभयदेव सूरि की टीका के साथ भगवान विजय कृत

भाषा भी सम्मिलित है। तदनन्तर आगमोदय समिति का सटीक संस्करण निकला। अजित देव सूरि रचित दीपिका देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फन्ड से प्रकाशित होने की योजना है। वैसे प्रश्न व्याकरण के टब्बे की तो बहुत-सी प्रतियां मिलती हैं।

प्रस्तुत आगम के प्राचीन संस्करण में तो बहुत-सी विद्यायें सम्मिलित थीं इसलिये उसका विशेष महत्व था ही पर उपलब्ध संस्करण भी कई दृष्टियों से बहुत-ही महत्वपूर्ण है। ५ आश्रव और ५ संवर द्वार के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से यही एक ग्रन्थ है। इतना ही नहीं, प्रासंगिक रूप में इसमें बहुत-सी ऐसी बातें उल्लिखित हैं जिनसे प्राचीन संस्कृति की अच्छी झांकी मिलती है अतः सांस्कृतिक दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का महत्व है। ५ आश्रव और अहिंसा के पर्यायवाची नाम भी शब्दकोश की दृष्टि से महत्व के हैं। अनेक प्रकार के जीव-जन्तुओं का उल्लेख हुआ है। हिंसा के कारण, हिंसक लोग, जाति व देश, हिंसा का फल, नरक यातना, इसी तरह चोरी करनेवाले और उनको मिलने वाले दण्ड आदि का वर्णन तत्कालीन दण्ड-व्यवस्था की अच्छी जानकारी देता है। उस समय के सामुद्रिक व्यापार की भी कुछ झांकी मिल जाती है। चौथे आश्रव द्वार के प्रसंग में श्रीकृष्ण और उनके परिवार का वर्णन है। इस वर्णन में श्रीकृष्ण की जीवन-घटनाओं के कुछ महत्वपूर्ण संकेत मिलते हैं। स्त्रियों के लिये जो संग्राम हुये उसके उदाहरण में सीता, द्रौपदी, रुक्मणी, पद्मावती, तारा, कांचना, रक्त सुभद्रा, अहिल्या, स्वर्णगुलिका, किन्नरी, स्वरूपवती, विद्युन्मती, रोहिणी का नामोल्लेख है। इनमें से कांचना, अहिन्निका, किन्नरी, स्वरूपा और विद्युन्मती के कथा प्रसंग तो अज्ञात से हैं।

इस सूत्र में बहुत-से देशों, म्लेच्छ जाति, शस्त्र, बत्तीस लक्षण, रत्न, वस्त्रालंकार, मुनि उपकरण, वाद्य, स्त्री-पुरुष कला, आदि अनेक बातों का उल्लेख प्रासंगिक रूप में हुआ है। कुछ व्याकरण सम्बन्धी उल्लेख है। युद्ध आदि का वर्णन भी महत्वपूर्ण है। संक्षेप में प्राचीन संस्कृति के अध्ययन की अच्छी सामग्री इस सूत्र में पाई जाती है, इतना ही कहना पर्याप्त होगा क्योंकि विशेष विवरण देने का यहाँ अवकाश नहीं है।

इस सूत्र का गुजराती अनुवाद मुनि छोटालालजी ने सं० १६८६ में अहमदाबाद में किया था जो श्री लाधाजी स्वामी पुस्तकालय, लींबड़ी से उसी संवत् में प्रकाशित हो चुका था। इस सूत्र का एक सुन्दर संस्करण हिन्दी अनुवाद संस्कृत छाया और टिप्पणियों के साथ हस्तीमलजी सुराणा, पाली ने

सन् १६५० में प्रकाशित किया था। स्थानकवासी मुनि हस्तीमलजी ने इस संस्करण को तैयार करने में काफी श्रम किया है। परिशिष्ट में शब्दकोश और टिप्पणियाँ देकर इस संस्करण का महत्व और भी बढ़ा दिया है। अन्त में पाठान्तर भी दिये गये हैं। प्रारम्भ में प्राक्कथन भी महत्व का है। अर्थात् सभी दृष्टियों से यह संस्करण अपना विशिष्ट स्थान रखता है। वैसे इसके बाद सं० २००६ में घेवरचन्दजी बांठिया के अनुवाद के साथ अगरचन्द भैरूदान सेठिया के यहाँ से भी इसी ग्रन्थ का संस्करण प्रकाशित हो चुका है।

स्थानकवासी मुनि घासीलालजी ने स्था० सम्प्रदाय मान्य हर आगमों पर संस्कृत टीका और हिन्दी, गुजराती अनुवाद तैयार किये हैं उनमें भी प्रश्न व्याकरण प्रकाशित हो चुका है। मूल पाठ को पुप्फ भिक्खुजी ने 'सुत्तागम' में प्रकाशित किया है। और सागरानन्द सूरिजी ने पालीताणा के आगम मंदिर में जब सूत्रों को शिलापट पर खुदवाये थे उस समय आगमों के मूल पाठ को बड़े अक्षरों में छपवाया गया था, उसमें प्रश्न व्याकरण है ही। तदनन्तर सूरत में ताम्र पत्रों पर आगम खुदवाये गये थे। अभी मुनि पुण्य विजयजी ने अनेक प्रचीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार से इस ग्रन्थ का सर्वोत्तम संस्करण तैयार किया है। इस तरह इस आगम के सम्बन्ध में समय-समय अनेकों व्यक्तियों ने उल्लेखनीय कार्य किया पर अभी सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया जाना अपेक्षित है।

बौद्ध साहित्य में भगवान् महावीर

साध्वीश्री कनकश्री

बुराई के प्रतीकार का इतिहास उतना ही पुराना है जितना उसकी अभिव्यक्ति का। पतन बहुमुखी होता है। अतएव एकमुखी प्रयत्न से उसका प्रतीकार भी असंभव है। बुराईयों के शैल के प्रध्वंसन के लिए चौमुखी प्रहारों की अपेक्षा है। यही कारण हो सकता है कि ई० पू० छठी शताब्दी में पतनशील तथा जड़ताक्रान्त मानव-मस्तिष्क में क्रान्ति-स्वर झँकृत करने समग्र भूमण्डल पर अनेकों दिव्य विभूतियाँ अवतरित हुईं। इसीलिए वह युग 'अवतारवाद' की अभिधा से अभिहित होता है।

वह युग बौद्धिक उथल-पुथल का युग था। बौद्धिक बेचैनी, शंका तथा कोलाहल उस युग की प्रमुख विशेषताएं थीं। यह कहना भी अतिरंजित न होगा कि वह काल मनुष्यों की चिन्तन गुत्थियों को उलझाने व सुलझाने के लिए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण था। इस अवसर से केवल भारतवर्ष ही लाभान्वित नहीं हो रहा था, अपितु समग्र भूमण्डल ही इस अभिनय का रंगमञ्च बना हुआ था। उस समय विदेशों में जहाँ चीन में 'लाओजी' तथा 'कन्फ्यूसियस', यूनान में पिथेगोरस, ईरान में पारसी धर्म के पैगेम्बर अरथुस्त्र और पिलस्तीन में दो पैगेम्बर 'जिरेमिया' तथा 'इजकिल' जैसे महान् चिन्तकों ने जन्म पाकर वहाँ के कण-कण को नव-नव उन्मेष दिये, वहाँ भारतवर्ष भी दार्शनिक तथा बौद्धिक विचारों का जमघट बना हुआ था। इस छोटे से भूमण्डल पर एक साथ सात धर्म तीर्थंकरों का विहार ही इसका पुष्ट प्रमाण है।[1]

इनमें प्रथम पाँच धर्मनायकों के अभिमत-बीज यद्यपि यत्र-तत्र बिखरे प्राप्त हो सकते हैं पर न उनका जीवित संगठन हमें वर्तमान में उपलब्ध है और न साहित्य व इतिहास में उन्हें बहुत उन्नत स्थान मिला है। अतः उनके विषय में विचार करना प्रस्तुत निबन्ध का विषय नहीं।

वर्तमान में जिनका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से अधिक नैक-

---

१—पूर्णकाश्यप, मंखलिपुत्तगोशाल, अजितकेशकम्बली, प्रकुध कात्यायन, संजय बेलट्ठिपुत्त, निग्गण्ठ नातपुत्त, तथागत गौतम।

ट्य तथा सामञ्जस्य रहा है वे भगवान् श्री महावीर तथा महात्मा बुद्ध ऐतिहासिक युग-पुरुष के रूप में हमारे सामने आते हैं।

इतिहासज्ञों के अनल्प आयास ने इस तथ्य को पूर्ण अनावृत कर दिया है कि भगवान् महावीर तथा महात्मा बुद्ध समसामयिक थे। अनेक सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ताओं के चिर मन्थन के बाद मुनिश्री नगराजजी ने तथ्य प्रस्तुत किया है कि भगवान महावीर तथा बुद्ध की समसामयिकता ई० पू० ५८२ से ई० पू० ५२७ तक (५५ वर्ष) रही। धर्म-प्रचार की समसामयिकता ई० पू० ५४७ से ५२७ (२० वर्ष) तक रही। तात्पर्य की भाषा में उक्त दोनों महापुरुष सम समय में होने वाले प्राचीन भारत के महान् स्वतंत्र विचारक थे। दोनों के जीवन-प्रसंग अतीव ही सुमधुर, अनेकों के लिए प्रेरणापद तथा मार्गदर्शक रहे हैं।

वे दोनों विभूतियाँ विहार गण राज्य में राजकुमार के रूप में हमारे समक्ष आईं। दोनों ने यौवन की मादकता में अपार राज्य-वैभव छोड़, साधना का कठोर मार्ग चुना। दोनों ही श्रमण संस्कृति के उन्नायक व बृहत् भिक्षु-संघ के अधिपति बने। दोनों की ही उपदेश-सरिताएं विहार प्रदेश, विशेषतः राजगृही, नालन्दा, श्रावस्ती आदि के अंचल में कल-कल निनाद करती हुई बहीं। अढ़ाई हजार वर्ष की सुदीर्घ अवधि के बाद भी दोनों की महनीयता तथा प्रशस्यता के अंकुर कोटि कोटि जनता के हृदय-क्षेत्र में उप्त हैं।

उक्त अनेकों बाह्य समानताएँ जहाँ उनको एकता के सूत्र में पिरोती प्रतीत होती हैं वहाँ अनेकों उल्लेख उनके अन्तर साम्य को प्रस्तुत करनेवाली पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करते हैं। जैसे वे दोनों शांति और अहिंसा के परम उपासक तथा प्रचारक थे। दोनों ने जातिवाद तथा वर्ण व्यवस्था को अतात्विक घोषित करते हुए उनका उग्र विरोध किया। दोनों ही प्रव्रज्या तथा अपरिग्रह के आदर्श पथ के पथिक व उपदेष्टा थे। दोनों ही निर्वाणवादी थे। दोनों के उपदेश अपने-अपने आगमों में संग्रहीत हैं। श्री महावीर के अनुयायी इन्हें सुत्तागम की अभिधा से अभिहित करते हैं तो बौद्ध भी अपने सुत्तपिटक के पांचो निकायों को दीघागम, मज्झियागम, संयुत्तागम, अंगुत्तागम और खुद्दगागम कहते हैं। यहाँ तक कि सर्वास्तिवाद आदि निकाय तो आगम शब्द ही प्रयुक्त करते हैं। आगम की भाँति पिटक शब्द भी दोनों परम्पराओं में मान्य रहा है। जैन अपनी अंगागम-संहिता को गणि-पिटक कहते हैं, वहाँ बौद्ध उन्हें त्रिपिटक संज्ञा देते हैं।

विषय तथा प्रतिपाद्य की दृष्टि से भी कई ग्रन्थ बहुत सामञ्जस्य रखते हैं।

जैसे निशीथ और विनयपिटक, सूत्रकृतांग और दीर्घनिकाय, स्थानांग, अंगुत्तर निकाय आदि।

जैनागम तथा बौद्ध वाङ्मय के अध्ययनकाल में प्रतीत होता है कि मानो हम एक ही वायु मण्डल में श्वास ले रहे हैं। एक ही समाज, भूभाग तथा वातावरण में विचर रहे हैं, निष्कर्ष की भाषा में भगवान् महावीर तथा महात्मा बुद्ध के जीवन तथा पारिपार्श्विक वातावरण में हम जितनी आश्चर्यजनक समानताएं पाते हैं, उनका शतांश भी तत्कालीन तथाकथित तीर्थंकरों में नहीं पाते।

भगवान् महावीर एवं महात्मा बुद्ध के बहुमुखी व्यक्तित्व ने क्रमशः जैन और बौद्ध वाङ्मय में विश्लेषण के साथ अत्यन्त निखार पाया है। यह अस्वाभाविक भी नहीं; न ही इसमें कोई नवीनता भी है। पर जिज्ञासा का विषय तो यह है कि वे दोनों महापुरुष एक दूसरे के साहित्य-दर्पण में प्रतिबिम्बित हुए हैं या नहीं? यदि हुए हैं तो कैसे?

वर्तमान अनावृत होता है। अतीत होता है काल की अनन्त परतों से आवृत। उन परतों को दूरकर अतीत के पर्यवेक्षण के लिए साहित्य ही हमारा एकमात्र आधार हो सकता है। अतः दोनों महापुरुषों के जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले साहित्य के पठन से, हमारे कितने ही उभरते हुए प्रश्न स्वतः समाहित हो सकते हैं कि कालक्रम तथा जीवन व्यवहार से निकटतम होने वाली दोनों विभूतियाँ क्या कभी मिली भी हैं? यदि हाँ तो उनके तथा उनके अनुयायियों के पारस्परिक सम्बन्ध क्या तथा कैसे रहें होंगें? उनकी पारस्परिक तत्व-चर्चाएं क्या रही होंगीं? जैन और बौद्ध-साहित्य में क्रमशः महावीर का क्या स्थान रहा है आदि-आदि। वस्तुतः ये प्रश्न आज के चिन्तकों तथा इतिहासज्ञों को विशेष चिन्तन के लिए प्रेरित करते हैं।

दोनों परम्पराओं के साहित्य-पर्यवेक्षण से यह तत्त्व स्पष्ट हो जाता है कि वे दोनों महापुरुष एक ही ग्राम तथा नगर में, एक साथ कई बार विहार कर चुके हैं, लेकिन वे कभी साक्षात् मिलें हों या तत्त्व चर्चाएं की हों, ऐसा उल्लेख कहीं नहीं मिलता। हाँ, उनके शिष्य आपस में अनेकशः मिले हैं, अनेक बार चर्चाएं भी की हैं। हो सकता है वह युग आज की भाँति समन्वय प्रिय नहीं था। यही कारण हो सकता है कि किसी भी धर्माचार्य ने मिलन के मधुर वातावरण में समन्वय की बातें की हों, ऐसा उल्लेख उपलब्ध नहीं होता।

आश्चर्य तब होता है जबकि समसामयिक होने पर भी महात्मा बुद्ध के विषय में जैनागमों को हम नितान्त मौन पाते हैं। यद्यपि उनकी मान्यताओं

के बीज अवश्य यत्र-तत्र विकीर्ण मिलते हैं। सूत्रकृतांग में जहाँ इतर दर्शनों, अभिमतों की मीमांसा की गई है वहाँ स्वल्पतम बौद्ध-मान्यताओं का भी प्रसंगोपात जिक्र हुआ है। फिर भी नामोल्लेख पुरस्सर तत्सम्बन्धी कुछ भी वर्णन नहीं मिलता। इसके विपरीत बौद्ध साहित्य भगवान् महावीर के विषय में अतीव मुखर है। भ० बुद्ध सहित उनके समय में सात धर्मनायक भारतभूमि में विहार करते थे। जिनमें उनका (बुद्ध का) सम्बन्ध, अच्छा या बुरा सबसे अधिक महावीर के साथ रहा है, यह त्रिपिटक स्वयं बतला रहे हैं।

हमारा स्वतंत्र या मध्यस्थ चिन्तन यह निर्णय करता भी नहीं हिचकिचाता कि महात्मा बुद्ध, भ० महावीरके साथ आक्रामक, आक्षेपात्मक व निन्दात्मक दृष्टि से पेश आये हैं। उनकी खण्डनात्मक दृष्टि प्रखर रही है।

बौद्ध साहित्य में भ० महावीर का क्यों स्थान रहा है? इसी प्रतिपाद्य को लेकर लेखिनी मंजिल की ओर बढ़ेगी।

यह स्पष्ट है कि बौद्ध साहित्य के आधार पर हम महावीर के यथार्थ व्यक्तित्व को कभी नहीं पा सकते। पर इतना तो अवश्य जानेंगे कि बुद्ध महावीर को किस दृष्टि से देखते थे?

भगवान् महावीर तथा महात्मा बुद्ध दोनों ने ही तत्कालीन जनभाषा में अपनी उपदेश-सरिताएं प्रवाहित कीं। वह जन भाषा मागधी थी। भगवान् महावीर ने जिस भाषा को अपनाया वह अर्धमागधी कहलाई। समग्र जैनागम उसीमें संकलित हुए।

भगवान् बुद्ध के उपदेश वाक्यों को 'मागधी' में 'पलियाप' कहा जाता था। काल-प्रवाह से वही शब्द बुद्ध-वचनों की भाषा का प्रतीक बन गया। वही आज पाली भाषा के नाम से जन-जन के मुख पर मुखरित है। सारांश में महात्मा बुद्ध के उपदेशों का संकलन करनेवाली पाली भाषा है। महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद ई० पू० ४०० में राजगृही के वैभार गिरि की सप्तपर्णी गुहा में महाकाश्यप प्रभृति ५०० अर्हत् भिक्षुओं की विराट् संगीति हुई। उसमें बौद्धधर्म के आधार-ग्रन्थों—त्रिपिटक और निकायों का वर्तमान रूप में संकलन हुआ। उसी बौद्ध साहित्य में भगवान् महावीर, उनके सिद्धान्त, उनकी महत्ता या न्यूनता, संघ, सर्वज्ञता आदि को अभिप्रेत कर अनेकों उल्लेख मिलते हैं।

क्या बौद्ध साहित्य में उल्लिखित नाथपुत्तादि नाम महावीर के ही द्योतक हैं?

बौद्ध-साहित्य में सात तीर्थंकरों के अभिधान के साथ छठा नाम—निग्गण्ठ नातपुत्त, नायपुत्त तथा नाटपुत्त मिलता है। वह भगवान् महावीर के लिये ही प्रयुक्त हो सकता है। क्योंकि जैनागमों में प्रयुक्त णायपुत्त या णातपुत्त से यह बहुत साम्य रखता है।

जैन परम्परा के अनुसार नायपुत्त या ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर के पितृवंश से सम्बन्धित नाम है। उनके लिए ज्ञात, ज्ञातकुल निर्वृत्त और ज्ञातकुलचन्द्र विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। भगवान् के पिता को (सिद्धार्थ को) भी ज्ञातकुल निर्वृत्त नाम से अभिहित किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि भगवान् महावीर के कुल का नाम 'ज्ञात' था।

अगस्त्यसिंह स्थविर तथा आ० जिनदास महत्तर के अनुसार 'ज्ञात' क्षत्रियों की एक जाति थी। 'ज्ञात' से वे ज्ञातकुल उत्पन्न सिद्धार्थ का ग्रहण करते हैं और 'ज्ञातपुत्र' से भगवान् महावीर का।[1]

आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर को काश्यपगोत्री कहा गया है। वे इक्ष्वाकुवंश में पैदा हुए, यह भी उल्लेख मिलता है। भगवान् ऋषभनाथ इक्ष्वाकुवंशी और काश्यपगोत्री थे। अतः वे आदि काश्यप कहलाते थे और महावीर भी काश्यप नाम से प्रसिद्ध थे। इस दृष्टि से प्रतीत होता है कि ज्ञातृ या ज्ञात काश्यप-गोत्रियों का अवान्तर भेद रहा होगा।

हरिभद्रसूरि ने ज्ञात का अर्थ 'उदार क्षत्रिय सिद्धार्थ' किया है।[2] प्रो० वसन्तकुमार चट्टोपाध्याय ने लिखा है कि लिच्छवियों की एक शाखा 'नाय' या नात थी।

श्वेताम्बर अंग आगमों में 'नाय धम्मकहा' नामक एक आगम है। यहाँ प्रयुक्त 'नाय' शब्द भगवान् महावीर का ही द्योतक है। दिगम्बर आम्नाय में 'नायधम्मकहा' के स्थान पर 'नाथधम्मकहा' का प्रयोग हुआ है। महाकवि धनञ्जय ने भगवान् महावीर को 'नाथवंशी' माना है। अतः वे उनको 'नाथान्वय' नाम से सम्बोधित करते हैं।[3] अतः यह स्पष्ट है कि बौद्ध-साहित्य में 'नाथपुत्त' या नातपुत्त' भगवान् महावीर के लिये ही प्रयुक्त हुए हैं।

१—(क) णायकुलाप्पभूय, सिद्धत्थखत्तिय सुतेण। अ० चू०
(ख) णायानाम खत्तियाणं जातिविसेसो, तम्मि संभूओ सिद्धत्थो, तस्स पुत्तो णायपुत्तो। जि० चू० पृ० २२१

२—ज्ञातः—उदारः क्षत्रियः सिद्धार्थः तत्पुत्रेण। हा० टी० प्र० ११६

३— सम्मतिर्महति र्वीरो, महावीरोऽन्त्यकाश्यपो।
नाथान्वयो वर्द्धमानो, यत्तीर्थमिह साम्प्रतम्॥

बौद्ध विद्वान वर्तमान जैन परम्परा में प्रचलित णातपुत्त तथा नायपुत्त का हिन्दी रूपान्तर ज्ञातृपुत्र तथा ज्ञातपुत्र के समान ही नाथपुत्त या नाटपुत्त का भी ज्ञातृ पुत्र अर्थ करते है। इस 'ज्ञातृ' शब्द के आधार पर ही वे महावीर का सम्बन्ध विहार के भूमिहारों की 'जथरिया' जाति से जोड़ते हैं। जैन भी इसी शब्द के आधार पर भगवान महावीर को ज्ञातकुलोत्पन्न मानते है। लेकिन 'नाथ' 'नात' और 'नाय' का अर्थ अभी भी चिन्तनीय बन रहा है।

आचार्यश्री तुलसी और मुनिश्री नथमलजी टमकोर द्वारा लिखित 'भगवान् महावीर ज्ञातपुत्र थे या नागपुत्र ?' शीर्षक लेख से संकेत मिलता है कि उक्त ज्ञातृ या ज्ञात दोनों शब्द यथार्थ नहीं है। उसके अनुसार महावीर का कुल 'नाग' होना चाहिये।

'णाय' की संस्कृत छाया ज्ञात और नाग दोनों हो सकती है। आगमों का व्याख्यात्मक साहित्य, जिसमें चूर्णियों का स्थान सर्वप्राचीन तथा प्रमुख रहा है, में हमें ज्ञात या णायपुत्त ही मिलता है। टीकाकाल में इसके अर्थ का भ्रम हुआ है। लेकिन सर्वप्रथम टीकाकार श्री अभयदेवसूरिने 'णाय' का अर्थ 'नाग' भी किया है। उन्होंने औपपातिक सूत्र १४ की वृत्ति में नाय का अर्थ 'ज्ञात' (इक्ष्वाकुवंश की एक शाखा) अथवा 'नाग' (नागवंशी) किया है। इसी आगम के २७वें सूत्र की वृत्ति में उन्होने 'णाय' का मुख्य अर्थ नागवंशी' और गौण अर्थ 'ज्ञातवंशी' किया है।

इतिहासज्ञों की दृष्टि में 'ज्ञात' नाम का कोई प्रसिद्ध वंश नहीं हुआ है। 'नाग' वंश बहुत प्रसिद्ध रहा है। भगवान् महावीर के युग में 'नाग' लोग वैशाली या उसके आसपास रहते थे।

प्रश्न यह होता है कि यदि भगवान् महावीर को नागवंशी मानें तो जैनागमों में प्रयुक्त नात या णात्त तथा बौद्ध साहित्य में प्रयुक्त 'नाथ' शब्द कैसे संगत हो सकते हैं ? प्रश्न सहज है। प्रश्न का समाधान सहज न भी हों पर होता अवश्य है। हम जैनागमों के शब्द प्रयोग को ध्यान से पढ़ते हैं तो पता चलता है कि उनमें 'त' का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। अनेक वर्णों के स्थान में 'नकार' का आदेश हुआ है। जैसे :—पत्तोवग=पत्तोवते (स्थानांग १२८) सव्वाओ–सव्वातो (स्थानांग ३०६) रसायणे–रसात्तणे (स्था० ६११ सयं=सतं (स्था० ११३)। इसी प्रकार संभव है, बौद्ध साहित्य में 'ग' के स्थान पर 'थ' प्रयुक्त हुआ हो।

दूसरी दृष्टि से देखें तो पता चलता है कि मागधी भाषा के अनुसार ज्ञात

का नाथ नहीं बन सकता। वहाँ 'ज्ञ' के स्थान में 'न्यण्यज्ञजाञ्ञः' सूत्र के द्वारा 'ञ्ञ' आदेश होता है। इस दृष्टि से ज्ञाता का मागधी रूपान्तर 'ञ्ञाता' होता है।[१] अतः भगवान् महावीर यदि ज्ञातपुत्र होते तो वहाँ नाथपुत्त के बदले 'ञ्ञातपुत्त' प्रयोग मिलना चाहिये था। पर ऐसा नहीं हुआ। अतएव विदित हो कि 'नागपुत्त' के परिवर्तित रूप नातपुत्त की तरह बौद्ध-साहित्य में भी 'नागपुत्त' का ही रूपान्तर नाथपुत्त है।

अस्तु, एकबार हम अर्थ की गहराई तक न भी जाएं तो भी यह तो निःसंकोच मान सकते हैं कि 'नाथपुत्त' शब्द भगवान् महावीर के लिये ही व्यवहृत हुआ है। उसके सहचरित 'निग्गण्ठ' शब्द से यह विश्वास और भी दृढ़ हो जाता है। क्योंकि यह शब्द जैन श्रमणों का ही द्योतक तथा पर्यायार्थिक हैं।

उत्तराध्ययन की वृत्ति में पाँच प्रकार के श्रमणों का उल्लेख मिलता है। जैसे निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरुक तथा आजीवक। उनमें भगवान् महावीर तथा पार्श्व की परम्परा के श्रमणों को निर्ग्रन्थ कहा गया है। बौद्ध साहित्य में स्थान-स्थान पर उल्लिखित 'निगण्ठो नाथपुत्तो, संघीचेचगणीच गणायरिओ, ञ्ञाता, यसस्सी, तित्थकरो, साधु सम्मतो, रतञ्ञू, चिर पव्वजित्तो, अद्धगतो वयोअनुप्पतो' भी इसी ओर संकेत करते हैं।

बौद्ध साहित्य में भगवान् महावीर से सम्बन्धित अनेकों उल्लेख मिलते हैं। उनमें से कुछ घटना-प्रधान हैं, कुछ औपदेशिक तथा तात्त्विक हैं। प्रत्येक उल्लेख के पीछे भ० महावीर की, उनकी मान्यताओं की, उनके संघ की न्यूनता प्रदर्शित कर श्री बुद्ध के उन्नयन की भावना बलवती पाई जाती है। बौद्ध-साहित्य बहुत सज-धज के साथ हमारे सामने प्रस्तुत होता है। अपने सिद्धांतों को तथा शिक्षाओं को किसी घटना से जोड़कर प्रकाशित करना बौद्ध साहित्य की शैली का प्रमुख वैशिष्ट्य रहा है। जैनागमों में इस शैली का पूर्णतः अभाव है।

बौद्ध साहित्य में भगवान महावीर के विषय में कहाँ, क्या, किस प्रकार का उल्लेख मिलता है—यही इस प्रस्तुत निबन्ध का प्रमुख विषय है। उनका विश्लेषण तथा सूक्ष्म मीमांसा प्रस्तुत लेख का विषय नहीं। तथापि यथा संभव स्वल्पतम चिन्तन का भी प्रयास हो सकेगा, ऐसी आशा है।

१—दीर्घनिकाय ब्रह्मजाल सूत्र।

श्रामण्य फल पृच्छा :—

ऐसा[1] मैंने सुना :—भगवान (बुद्ध) राजगृह[2] के जीवक कौमार भृत्य[3] के आम्रवन में साढ़े चार सौ भिक्षुओं के महाभिक्षु संघ के साथ विहार करते थे। उस समय पूर्णमासी के उपोसथ के समय, चातुर्मास की कौमुदी से पूर्ण पूर्णिमा की रात को राजा मागध, अजातशत्रु वैदेहीपुत्र, राजामात्यों से घिरा हुआ, उत्तम प्रासाद के ऊपर बैठा हुआ था। तब उस दिन राजा अजातशत्रु ने पूर्णिमा के उपोसथ का उदान कहा—"अहो! कैसी सुन्दर चांदनी रात है? कैसी रमणीय दर्शनीय प्रासादिक लक्षणीय चान्दनी रात है!! किस श्रमण या ब्राह्मण का सत्संग करें? जिसका सत्संग हमारे चित्त को प्रसन्न करे।"

ऐसा कहने पर एक राजमन्त्री ने राजा अजातशत्रु से कहा—"महाराज! यह जो पूर्ण काश्यप, संघ-स्वामी, गण-अध्यक्ष, अनुभवी, चिरकाल से प्रव्रजित, बहुत लोगों से सम्मानित ज्ञानी यशस्वी तीर्थंकर वयोवृद्ध है। महाराज! उसी पूर्ण काश्यप से धर्मचर्चा करें। उसके साथ थोड़ी सी धर्म चर्चा करने पर आपका चित्त प्रसन्न हो जाएगा।"

उसके ऐसा कहने पर मगध राज मौन रहा। दूसरे मन्त्री ने कहा—"यह मंखली गोशाल संघस्वामी, इत्यादि है।" पर मगधराज चुप रहा।

इसी प्रकार अन्य मन्त्रियों ने, अजित केश कम्बली, प्रकुधकात्यायन, संजयवेलट्ठीपुत्त आदि के सत्संग के लिए कहा पर राजा मौन रहा।

अन्य मन्त्री ने कहा—"महाराज! यह निगण्ठ नाथपुत्त संघस्वामी है। उनसे धर्म-चर्चा करें।" पर राजा मौन रहा।

इस समय जीवक कौमारभृत्य मगधराज के पास बैठा था। मगधराज ने उसकी ओर संकेत करते हुए कहा—"सौम्य जीवक! तुम बिलकुल मौन क्यों हो?"

१—दीर्घनिकाय—सामञ्ञफलसुत्त १।२

२—यह मगध देश की राजधानी थी। मगध देश वर्तमान गया तथा पटना जिले के बीच फैला हुआ है। तात्कालिक समृद्धिशाली नगरों में वह एक था। प्रचुर वैभव के कारण ही वह मगध देशतिलक तथा सर्वकामप्रद कहलाता था। पाँच पर्वतों के मध्य स्थित होने के कारण वह पंचशैलपुर के नाम से भी प्रख्यात था।

३—राजगृह का प्रमुख राजवैद्य।

जीवक—"भन्ते ! ये अर्हत्, सम्यक्-संबुद्ध, मेरे आम के बगीचे में साढ़े बारह सौ भिक्षुओं के महाभिक्षु संघ के साथ विहार कर रहे हैं। उन भगवान् गौतम का ऐसा मंगलयश फैला हुआ है—वह भगवान् अर्हत्,—सम्यक् सम्बुद्ध, विद्या और चरण से युक्त, सुगत, लोकविद्, पुरुषों का दमन करने के लिए अद्भुत चाबुक सवार, देव मनुष्यों के शास्ता बुद्ध भगवान् हैं। महाराज ! आप उनके पास चलें। धर्म-चर्चा करें। ऐसा करने से कदाचित् आपका चित्त प्रसन्न हो जाए।"

यह सुन मगधराज ने हस्तिसैन्य तैय्यार करने का आदेश दिया। अन्तःपुर सहित राजा, जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। भगवान् को अभिवादन कर, भिक्षु-संघ को हाथ जोड़ एक ओर बैठ गया। भगवान् से निवेदन किया—"भगवान् ! मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ, कृपया अनुमति दें।"

"महाराज ! जो चाहें पूछ सकते हैं।"

"भन्ते ! जो हस्ति-आरोहण, अश्व-आरोहण आदि आदि अनेक प्रकार की कलाएं हैं उनके आधार पर, प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी जीविका का निर्वाह करते हुए सुखी रहता है। यह उनका प्रत्यक्ष फल हम देखते हैं। भन्ते ! क्या इसी प्रकार श्रामण्य (साधुत्व) का भी कोई प्रत्यक्ष फल मिलता है ?"

"महाराज ! क्या इसी प्रश्न का अन्य श्रमण-ब्राह्मणों से भी उत्तर जाना है ?"

"भन्ते ! जाना है।"

"महाराज ! यदि आपको भारी न हो तो बताइए, उन्होंने क्या उत्तर दिया ?"

"भन्ते ! मुझे कोई भारी नहीं, यदि भगवान् या उनके समान कोई बैठा हो।"

"तो महाराज ! कहें।"

"भन्ते ? मैंने पूर्ण काश्यप से श्रामण्य का प्रत्यक्ष फल पूछा तो उसने अक्रियावाद का वर्णन किया।

मक्खलिगोसाल ने दैववाद का,
अजितकेशकम्बली ने उच्छेदवाद का,
प्रकुद्धकात्यायन ने अकृतवाद का,
संजयबेलट्ठिपुत ने अनिश्चितवाद का वर्णन किया।

निग्गण्ठ नाथपुत्त से इसी प्रकार पूछने पर उसने चतुर्याम सम्वर का प्रतिपादन करते हुए कहा—महाराज ! निग्गण्ठ इन चार सम्वरों से संवृत रहता है। इसलिए वह निर्ग्रन्थ, गतात्मा, यतात्मा और स्थितात्मा कहलाता है।

भन्ते ! इस प्रकार श्रामण्य का प्रत्यक्ष फल पूछने पर निग्गण्ठ नाथपुत्त ने चतुर्याम सम्वर का वर्णन किया। जैसे कि भन्ते ! पूछे आम और जबाव दे कटहल का, पूछे कटहल और जबाव दे आम का। भन्ते ! मैंने सोचा—कैसे मेरे जैसा कोई राजा अपने देश में बसने वाले किसी श्रमण या ब्राह्मण को देश-निकाला दे। यह सोच मैंने न उनके वचन का अभिवादन दिया और न निन्दा। चुपचाप आसन से उठ चल दिया। भन्ते ! अब श्रामण्य का प्रत्यक्ष फल आप ही बताएं।"

समीक्षा

उपरोक्त उल्लेख सत्य के कितना निकट है यह जैन-दर्शन तथा महावीर के सिद्धान्तों के विज्ञ स्वतः ही निर्णय कर सकते हैं। जैन सिद्धान्त के अनुसार मध्य के बावीस तीर्थंकर ही चतुर्याम-संवर के प्ररूपक थे। प्रथम व अन्तिम तीर्थंकर तो 'पंचमहाव्रतात्मक' धर्म के प्रवर्तक थे।[1]

जब भ० महावीर चतुर्याम-संवर के प्ररूपक थे ही नहीं तो मगधराज के श्रामण्य फल विषयक पूछने पर उसका वर्णन ही कैसे कर सकते थे ? हो सकता है कि भ० पार्श्वनाथ के श्रमणों से मगधराज मिला हो तथा उस समय उक्त प्रसंग चला हो। क्योंकि भ० पार्श्वनाथ चतुर्याम संवर-धर्म के प्ररूपक थे। भ० महावीर के पश्चात् भी उनकी परम्परा अक्षुण्ण थी। पर उनके प्ररूपित सिद्धान्त को भगवान् महावीर के साथ अन्यथा जोड़ना तो उचित नहीं लगता।

भ० महावीर और गौतम बुद्ध दोनों में से वर्षों तथा प्रव्रज्या की दृष्टि से ज्येष्ठ या कनिष्ठ कौन थे ? —यह प्रश्न आज भी अनेकों मनीषियों को

१—(क) मज्झिमगा बावीसा अरहंता—भगवन्ता चाउज्जामं—धम्मं पण्णवेंति। तं जहा—सव्वातो पाणाइवायातो वेरमणं। एवं मुसावायातो वेरमणं, सव्वातो अदिन्नादाणातो वेरमणं, सव्वातो बहिद्धादाणातो वेरमणं॥ (स्थानांग सूत्र २६६)

(ख) अहिंससच्चं च अतेणगं च, ततो य बम्भं च अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंचमहव्वयाइं, चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ॥
[उत्तराध्ययन २१-१२]

उलझाए हुए है। कई विद्वान भगवान् बुद्ध की ज्येष्ठता स्वीकार करते हैं तो कई भगवान् महावीर की। दोनों ही अपनी मान्यता के आधारभूत पुष्ट प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं। पर निम्नलिखित प्रसंग में भ० बुद्ध स्वयं अपने को भ० महावीर से कनिष्ठ स्वीकार करते हैं।

ऐसा मैंने सुना[1]—एक बार भगवान् श्रावस्ती के अनाथपिण्डक के जेतवन में विहार करते थे, तब राजा प्रसेनजित् कौशल, जहाँ भगवान थे, वहाँ गया। कुशल प्रश्न पूछा, एक ओर बैठ भगवान् से बोला—' हे गौतम ! आप भी तो, अनुत्तर सम्यग् सम्बोधि को प्राप्त कर लिया है, यह दावा करते हैं ?"

"महाराज ! अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को जान लिया है—यह ठीक से बोलने पर मेरे लिए ही बोलना चाहिये।"

"हे गौतम ! ये जो श्रमण, ब्राह्मण, गणी, गणाचार्य, ज्ञात, यशस्वी, तीर्थंकर बहुत जनों से सम्मानित, जैसे पूर्णकाश्यप, मंक्खलि गोशाल, अजित केशकम्बली, प्रकुध कात्यायन, संजयबेलट्ठिपुत्त और निग्गण्ठनाथपुत्त, वे भी अनुत्तर, सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त करने का दावा नहीं करते। आप गौतम तो अवस्था में भी छोटे हैं और अभी नये-नये प्रव्रजित भी। अतः आपके लिए तो कहना ही क्या ?"

"महाराज ! क्षत्रिय, सर्प, अग्नि और भिक्षु इन चारों को छोटा नहीं समझना चाहिये। छोटा मानकर इनका परिभव नहीं करना चाहिये।"

उक्त निदर्शन से 'जैन धर्म, बौद्ध धर्म की एक शाखा है' का सिद्धान्त भी निर्मूल हो जाता है।

क्रियावादी और अक्रियावादी :—

यह हम पहले ही जान चुके हैं कि भगवान श्री महावीर तथा श्री बुद्ध का युग वैचारिक उथल-पुथल का युग था, और था वह नाना मतवादों से संकुल। मानव-मन स्वभावतः अनन्त जिज्ञासाओं का अजस्र प्रवहमान स्रोत है। अहर्निश समुत्पद्यमान जिज्ञासाएँ ही, उनके उदीयमान, समुन्नत जीवन की प्रतीक हैं। पर जब तरल जिज्ञासाओं के समाधान का एक केन्द्र निश्चित नहीं होता तब तक भावुक मन गन्तव्य पथ पर चलने के लिए दृढनिष्ठ नहीं हो पाता तथा अपने मार्ग के कदम-कदम को संशय की आँखों से देखता है। उस समय धर्मनायक तथा शास्ता एक नहीं था। परस्पर विरुद्ध अभिमत रखने वाले

१—सं० नि० प्र० ३-१-१ दहरसुत्त पृ० ६७।

अनेक सर्वज्ञों में से सत्य कौन है ? यह निर्णय करना दुरूह सा हो रहा था। क्योंकि एक दूसरे के सिद्धान्त और सर्वज्ञता का खण्डन करना तो सहज सा बन गया था।

सत्य सुखद होता है, पर उसमें आकर्षण नहीं होता। असत्य सुखद भले ही न हो, पर होता है वह आकर्षक। चाकचिक्य युक्त और आकर्षक आवेष्टनों से वह आवेष्टित होता है।

आकर्षणहीन पथरीले, पर गन्तव्य को शीघ्र पहुंचाने वाले पथ पर चलता हुआ पथिक, यदि मोहक वृक्षावलियों से युक्त नाना पुष्पों की परिमल को वहन करने वाली समीर-लहरी से संयुक्त, पर पथिक को मंजिल से भटका देने वाले मार्ग में लुभा जाए तो आश्चर्य ही क्या ? निम्नोक्त प्रकरण में इस तथ्य के स्फुट दर्शन होते हैं।

ऐसा मैंने सुना[1]—एक बार भगवान वैशाली[2] की कुटागारशाला में विहार करते थे। उस समय गणराज्य-भवन में एकत्रित हुए, प्रतिष्ठित लिच्छवि भगवान् की प्रशंसा कर रहे थे। निगण्ठों का श्रावक सिंह सेनापति भी वहाँ उपस्थित था। उसने सोचा—निश्चय ही वह भगवान अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध होंगे। तभी तो ये प्रतिष्ठित-प्रतिष्ठित लिच्छवि, इनकी प्रशंसा करते हैं। मुझे भी उनके दर्शनों से लाभान्वित होना चाहिये—यह सोच वह निगण्ठ नाथपुत्त के पास गया और गौतम के दर्शनार्थ जाने की भावना व्यक्त की।

"सिंह ! क्रियावादी होते हुए भी तूँ अक्रियावादी गौतम के पास जाएगा ? वह अक्रियावादी है। लोकों को अक्रियावाद का उपदेश देता है।" यह सुन सिंह की वहाँ जाने की भावना शान्त हो गई। फिर दूसरी बार, तीसरी बार भी उसने लिच्छवियों से भ० बुद्ध की प्रशंसा सुनी। जिगमिषा ने मन को

१—अंगुत्तर निकाय ८-१-२-२

२—वैशाली वज्जी-जनपद की राजधानी थी जो वर्तमान में बिहार प्रान्त के मुज्जफरपुर जिले के अन्तर्गत 'बसाठ' गाँव के रूप में मानी जाती है। उस समय वहाँ लिच्छवियों का गणतंत्र राज्य था। जनसंख्या की वृद्धि के कारण, नगर-प्राकार को तीन बार विशाल बनाने के कारण, इसका नाम वैशाली पड़ा। प्राचीन जैन मान्यतानुसार वैशाली में भ० महावीर का ननिहाल था। वर्तमान इतिहासकार वैशाली को भ० महावीर की जन्मभूमि के रूप में स्वीकार करते हैं।

व्याकुल बनाया। निगण्ठ नाथपुत्त के रोकने से मन शान्त हुआ। पर चौथी बार गौतमबुद्ध की प्रशंसा सुनकर गमन की प्रबल अभिलाषा को रोक नहीं पाया। मन ही मन उसने चिन्तन किया। निगण्ठ नाथपुत्त से पूछूं या नहीं। आखिर जाऊँगा तो वह मेरा करेगा भी क्या? क्यो न बिना पूछे ही श्रमण गौतम के दर्शनार्थ चला जाऊँ।"

उसी दिन पाँच सौ रथों को साथ ले भगवान् के दर्शनार्थ गया। अभिवादन के अनन्तर, एक ओर बैठ, भगवान् से कहा—"भन्ते! मैंने सुना है—श्रमण गौतम अक्रियावादी है। क्या यह आपके लिए संगत है?"

"सिंह! किसी कारण से मेरे लिए उक्त कथन संगत हो सकता है। क्योंकि मैं मन, वचन और काय-दुश्चरित को अक्रिया कहता हूं। शिष्यो को उससे बचने का उपदेश देता हूँ। इस दृष्टि से मैं अक्रियावादी हूँ। पर इसके साथ-साथ मैं क्रियावादी भी हूँ। क्योंकि मन, वचन और काय-सुचरित को मैं क्रिया कहता हूँ और उसीके अनुष्ठान का उपदेश देता हूँ। सिंह! इस प्रकार भिन्न-भिन्न कारणों से मुझे उच्छेदवादी, जुगुप्सु, तपस्वी, वैनयिक आदि आदि भी कह सकते हैं।"

सिंह—"आश्चर्य! भन्ते! आश्चर्य!! मुझे साञ्जलि शरणागत स्वीकार करें।"

"सिंह! सोच विचार के साथ यह कार्य करो।"

"यह भन्ते, मैं दूसरी बार भी आपकी शरण जाता हूँ। भन्ते! दूसरे तैर्थिक मुझे श्रावक पाकर, सारी वैशाली में पताका फहराते कि सिंह हमारा श्रावक बन गया। इसके विपरीत आप कहते हैं कि सोच-विचार कर करो।"

"सिंह! तुम्हारा घर दीर्घकाल से निर्ग्रन्थों के लिए प्याऊ सा बना हुआ है, अतः अब उनको भिक्षा नहीं देना चाहिए, ऐसा मत समझना।"

"भन्ते! यह और भी प्रसन्नता की बात है। मैंने सुना था, श्रमण गौतम कहते हैं कि मुझे ही दान देना चाहिये, अन्य किसी को नहीं। पर भगवान् तो निर्ग्रन्थों को देने के लिए भी कहते हैं, हम भी उसे युक्त मानते हैं। यह भन्ते? तीसरे बार भी मैं, भगवान् तथा भिक्षु संघ की शरण जाता हूँ। तब भगवान् ने सिंह सेनापति को आनुपूर्वी कथा कही। जैसे दानकथा, शीलकथा, स्वर्ग कथा, काम भोगों के दोष, अपकार, क्लेश और निष्कामना का माहात्म्य प्रकाशित किया। जब भगवान् ने सिंह सेनापति को अरोगचित्त, मृदुचित्त, अनाच्छादित चित्त, उदग्रचित्त, प्रसन्नचित्त जाना, तब जो बुद्धों की स्वयं

उठानेवाली देशना है उसे प्रकाशित किया—दुःख, समुदयः, मार्ग और निरोध।

जैसे कालिमा रहित शुद्ध वस्त्र अच्छा रंग पकड़ता है, वैसे ही सिंह सेनापति को उसी आसन पर बैठे विमल, विरज, धर्मचक्षु उत्पन्न हुआ, जो कुछ समुदय धर्म है, वह विरोध धर्म है। सिंह सेनापति दृष्टधर्म, प्राप्तधर्म, विदित धर्म, परिअवगाढ़ धर्म, संदेहरहित, वाद-विवाद रहित, विशारदताप्राप्त, शास्ता के शासन में स्वतंत्र हो, भगवान् से बोला—"भन्ते! भिक्षु संघ के साथ भगवान् मेरा कल का भोजन स्वीकार करें।" भगवान् ने मौन स्वीकृति दी। सेनापति, स्वीकृति जान, भगवान् को अभिवादन व प्रदक्षिणा देकर चला गया।

तब सिंह सेनापति ने नौकर से कहा—"जा तू तैयार मांस को देख तो।" फिर सिंह सेनापति ने रात के बीतने पर उत्तम खाद्य, भोज्य तैयार कर भगवान् को काल की सूचना दी।

भगवान् ············ (चीवर) पहनकर, पात्र चीवर ले सेनापति के घर गए। भिक्षुसंघ के साथ बिछे आसन पर बैठे। उस समय बहुत से निर्ग्रन्थ (जैन साधु) वैशाली में एक सड़क से दूसरी सड़क पर, एक चौराहे से दूसरे चौराहे पर बाँह उठाकर चिल्ला रहे थे—आज सिंह सेनापति ने श्रमण गौतम के लिए, मोटे पशु को मारकर भोजन पकाया है। श्रमण गौतम जान बूझ कर अपने उद्देश्य से किए गए उस मांस को खाता है। किसी पुरुष ने सिंह के कान में यह बात कही। सिंह ने कहा—"जाने दो आर्यों! चिरकाल से ये आयुष्मान् निर्ग्रन्थ बुद्ध धर्म-संघ की निंदा चाहनेवाले हैं। हम तो प्राण के लिए भी प्राण नहीं मारते।"

समीक्षा

उपर्युक्त उल्लेख हमें कुछ चिन्तन के लिए प्रेरित करता है। जैसे—निगण्ठ नाथपुत्त ने 'सिंह' से कहा—"तू क्रियावादी होते ही भी अक्रियावादी श्रमण गौतम के पास क्या जाएगा?" यह सर्वविदित है कि भ० महावीर स्याद्वादी थे। अतः वे अपने को सर्वथा क्रियावादी कह ही नहीं सकते थे। जिस दृष्टि से वे अपने को क्रियावादी मानते थे, उस दृष्टि से बुद्ध को भी मानते थे। जैसे जैन तथा बौद्ध दोनों आत्मवादी दर्शन हैं। अतः दोनों पुण्य-पाप, बन्ध और मोक्ष को भी मानते हैं। इसलिए "अस्ति आत्मा पुण्यादि च, इत्येवं क्रियां वदितुं, शीलं येषां ते क्रियावादिनः"—इस दृष्टि से जैन क्या, सभी आस्तिक-दर्शन क्रियावादी हैं। पर भ० महावीर ने कहा—जो एकान्त क्रियावादी

तथा अक्रियावादी है वह मिथ्यात्वी है। जो आत्मा, लोक, ज्ञान और क्रिया के समवेत स्वरूप को मानता है वही सम्यग् दृष्टि है। अतः यह सिद्ध है कि भ० महावीर एकान्त दृष्टि से क्रियावादी नहीं थे। जिस दृष्टि से वे क्रियावादी थे, उस दृष्टि से 'बुद्ध' को भी अक्रियावादी नहीं मानते थे। अतः उक्त कथन भ० महावीर के लिए संगत नहीं हो सकता। बल्कि भ० महावीर ने तो सूत्रकृतांग में तथागत को क्रियावादी सिद्ध कर उनके मत का निरसन किया है। उन्होंने कहा :—

अहावरं पुरक्खायं, किरियावाइ दंसणं।
कम्मचिन्ता पणट्ठाणं, संसारस्स पवड्ढणं॥

सू० कृ० १६१,२,२४

बौद्ध दर्शन प्राणियों के चतुर्विध कर्मबन्धन को नहीं मानता। वह यह है—अविज्ञोपचित, परिज्ञोपचित, स्वप्नान्तिक और ईर्य्यापथिक। अतः भ० महावीर ने कहा—जिनकी कर्मचिन्ता नष्ट हो गई, केवल चैत्यकर्मादिक क्रिया ही जिनके मोक्ष का प्रमुख अंग है, उन क्रियावादियों का दर्शन संसार-वृद्धि का हेतु है।[1] अस्तु, इस दृष्टि से प्रत्युत श्रमण गौतम क्रियावादी ही ठहरते हैं। अतः अं० नि० के उल्लेखानुसार भ० महावीर उन्हें अक्रियावादी कैसे कह सकते थे?

उक्त उल्लेख में तथ्य इतना ही लगता है कि भ० महावीर आमिष भोजन को, भले ही वह सहज निर्मित हो या उद्दिष्ट, किसी भी हालत में अभक्ष्य और अविहित ही मानते थे। श्रमण गौतम सहज बने हुए को अकल्प्य नहीं मानते थे ; अतः उसका प्रयोग करते थे। सम्भव है जैन लोग इसका विरोध करते थे कि यह तामसिक होने के कारण भिक्षु के लिए अभक्ष्य है।

अतः लगता है कि सहज बने मांसाहार को निर्दोष सिद्ध करने के लिए ही उन्होंने इस विस्तृत प्रसंग को गढ़ा है।

१—सू० कृ० १-१-२-२४ की टीका।

RESEARCH-PAPERS

[in English & Bengali read out in Bikaner Session (1964)]

of

Jain Darshan and Sanskriti Parishad

INDEX

(BENGALI)

(ENGLISH)

প্রাকৃত সাহিত্যের সংক্ষিপ্ত পরিচিতি

অধ্যাপক শ্রীসত্যরঞ্জন বন্দ্যোপাধ্যায়

প্রাকৃতভাষায় যে সব গ্রন্থ রচিত হয়েছে, সেগুলি নিয়েই প্রাকৃত সাহিত্য। খ্রীষ্টপূর্ব ষষ্ঠ বা পঞ্চম শতাব্দী হ'তে যখন বর্ধমান মহাবীর ও গৌতমবুদ্ধ তৎকালের প্রচলিত সাধারণের কথ্য ভাষায় ধর্মপ্রচার করতে লাগলেন, তখন থেকেই প্রাকৃত সাহিত্যের আরম্ভ বলা যায়। আসলে অশোকের অনুশাসনাবলীতে এবং অশোকের পরবর্তী কালে তাম্রপট্টে ও শিলাখণ্ডে উৎকীর্ণ প্রত্নলিপিতে এবং হীনযান বৌদ্ধদের পালিতে রচিত গ্রন্থে প্রাকৃত সাহিত্যের প্রথম প্রকাশ। এখানে পালি সাহিত্যকে বাদ দেওয়া হচ্ছে, যদিও ব্যাপকদৃষ্টিতে পালিও একটি প্রাকৃত ভাষাই। জৈন আগম সাহিত্যে, সংস্কৃত নাটকে (সংস্কৃতাংশ বাদ দিয়ে), সেতুবন্ধ, গৌড়বহ, কুমারপালচরিত, গাথাসপ্তশতী প্রভৃতি কাব্যে প্রাকৃত সাহিত্যের যথার্থ নিদর্শন পেয়ে থাকি। এই 'প্রাকৃত সাহিত্য' খ্রীষ্টপূর্ব ষষ্ঠ বা পঞ্চম শতাব্দী হ'তে চতুর্দশ বা পঞ্চদশ খ্রীষ্টাব্দ পর্যন্ত বহু শাখা-প্রশাখায় বিস্তারিত হ'য়ে সংস্কৃত সাহিত্যের প্রতিযোগরূপে বিরাজমান ছিল। এখানে প্রাকৃত সাহিত্যের একটু পরিচয় দেবার চেষ্টা করছি।

জৈন আগম সাহিত্য

প্রাকৃত সাহিত্যের প্রথম পরিচয় পাই জৈনদের ধর্মগ্রন্থে। মহাবীর মুখ-নিঃসৃত মধুর বাণী তাঁর শিষ্য ও গণধরগণ কর্তৃক লিপিবদ্ধ হওয়ার ফলে, এই 'জৈন আগম সাহিত্যের' উৎপত্তি। এই জৈন সাহিত্যকে সাধারণতঃ 'সিদ্ধান্ত' বা 'আগম' বলা হয়। এর রচনা কাল সম্ভবতঃ খ্রীষ্টাব্দ প্রথম শতকে। কারো মতে তৎপূর্বে, কারো মতে তৎপরে।

জৈনরা প্রধানতঃ দুই সম্প্রদায়ে বিভক্ত :—শ্বেতাম্বর ও দিগম্বর। সেজন্য তাদের ধর্মগ্রন্থ একটু ভিন্ন প্রকারের, যদিও মূলতঃ উৎপত্তিস্থল এক।

শ্বেতাম্বর জৈনদের মতে দ্বাদশ অঙ্গ গ্রন্থ 'দৃষ্টিবাদ' লুপ্ত ; আর দিগম্বরেরা

বলেন, 'দৃষ্টিবাদ' তাঁদের দ্বারা রক্ষিত। এবং এই দিগম্বর সম্প্রদায়গণ কর্তৃক রক্ষিত গ্রন্থই বর্তমানে 'দিগম্বর জৈনাগম' বলে বিখ্যাত।

দিগম্বরদের মতে 'দৃষ্টিবাদ' পাঁচ ভাগে বিভক্ত :—(১) পরিকর্ম, (২) সূত্র, (৩) প্রথমানুযোগ, (৪) পূর্বগত এবং (৫) চূর্ণিকা। এদের মধ্যে 'পূর্বগত' বাদে অপর চারিটির বিষয় কিছু জানা যায় না। 'পূর্বগত' আবার চৌদ্দটি উপবিভাগে বিষয়ীকৃত। যথা—

(১) উৎপাদপূর্ব, (২) অগ্রায়নীয়, (৩) বীর্য প্রবাদ, (৪) অস্তি-নাস্তি প্রবাদ, (৫) জ্ঞানপ্রবাদ, (৬) সত্যপ্রবাদ, (৭) আত্মপ্রবাদ, (৮) কর্মপ্রবাদ, (৯) প্রত্যাখ্যান, (১০) বিদ্যানুপ্রবাদ, (১১) কল্যাণপ্রবাদ (১২) প্রাণবায়, (১৩) ক্রিয়াবিশাল এবং (১৪) লোকবিন্দুসার। অধুনা উক্ত বিষয়সমূহ যথাযথভাবে আমাদের কাছে উপস্থিত না হলেও তাদের প্রতিপাদ্য বিষয় নিম্নলিখিত গ্রন্থ থেকে জানতে পারি।

ষট্খণ্ডাগম

পুষ্পদন্ত ভূতবলি প্রণীত ষট্খণ্ডাগম একটি প্রাচীন দিগম্বর জৈন ধর্মগ্রন্থ। ইহা (জৈন) শৌরসেনী ভাষায় রচিত; মধ্যে মধ্যে অর্ধমাগধী ও মাগধী ভাষার প্রভাব দৃষ্ট হয়। ইহার রচনাকাল সম্ভবতঃ প্রথম বা দ্বিতীয় শতকে। গ্রন্থখানি দর্শন বিষয়ক এবং কর্মপদ্ধতি দ্বারা প্রভাবান্বিত। ইহা ছয় খণ্ডে বিভক্ত :— যথা—জীবস্থান, ক্ষুল্লকবন্ধ, বন্ধস্বামিত্ববিষয়, বেদনা, বর্গনা ও মহাবন্ধ। পুষ্পদন্ত প্রথম ৭৭টি সূত্র রচনা করেন এবং তৎপরে ভূতবলি অবশিষ্টাংশ রচনা করেন। সর্বসাকল্যের ৬০০০ সূত্র দৃষ্ট হয়। বীরসেন কর্তৃক বিরচিত 'ধবলা' নাম্নী এর টীকা এরূপ প্রসিদ্ধ যে গ্রন্থখানি 'ধবলা' নামেও বিখ্যাত।

কসায় পাহুড় (কষায় প্রাভৃত)

গুণধরাচার্য কর্তৃক বিরচিত 'কসায় পাহুড়' আর একটি দিগম্বর জৈন ধর্মগ্রন্থ। ইহার রচনাকাল আনুমানিক দ্বিতীয় ও তৃতীয় শতকে। এই গ্রন্থে ক্রোধাদি কষায়ের রাগদ্বেষাদিরূপে পরিণতি, তাদের প্রকৃতি, অবস্থান, অনুভাগ, প্রদেশগত বৈশিষ্ট্য ইত্যাদি বিষয়ের আলোচনা আছে। এই গ্রন্থের প্রকৃত নাম 'পেজ্জ দোস পাহুড়' (পেজ্জ=পেয়স, রাগ; দোস=দ্বেষ এবং পাহুড়= প্রাভৃত)। অতএব দেখা যাচ্ছে যে, এই গ্রন্থে ক্রোধাদি চারটি বা হাস্যাদি

নয়টি রাগদ্বেষাদির কথা বলা হয়েছে বলে' এই গ্রন্থের নাম রাখা হয়েছে 'পেজ্জদোসপাহুড়'। বীরসেনাচার্য এর 'জয়ধবলা নাম্নী টীকা এবং বৃষভাচার্য এর চূর্ণিসূত্রের প্রণেতা। উক্ত গ্রন্থখানি 'জয়ধবলা' নামেও বিখ্যাত।

মহাবন্ধ

ষট্‌খণ্ডাগমকে যে ছয় ভাগে ভাগ করা হয়, তার অন্তিম ভাগের নাম "মহাবন্ধ"। সেই মহাবন্ধ এরূপ বিশাল যে কালক্রমে উহা ষট্‌খণ্ডাগম হ'তে পৃথক্ হয়ে গেল এবং পৃথক্ গ্রন্থ বলে বিবেচিত হলো। এই অংশের টীকাও পৃথক্। টীকার নাম "মহাধবলা"। ভূতবলি আচার্য গ্রন্থের প্রণেতা। রচনাকাল আনুমানিক দ্বিতীয় শতকে। গ্রন্থখানি জৈন শৌরসেনী ভাষায় লিখিত। গ্রন্থের প্রতিপাদ্য বিষয় হ'ল জীবের বন্ধন। কিসে জীব বন্ধনদোষ হ'তে মুক্তি পাবে এবং কত প্রকার বন্ধন আছে ইত্যাদি বিষয় নিয়ে আলোচনা আছে।

তিলোয়পন্নত্তি (ত্রিলোক প্রজ্ঞপ্তি)

বৃষভাচার্য কর্তৃক বিরচিত প্রাকৃত ভাষায় লিখিত 'ত্রিলোক প্রজ্ঞপ্তি' একটি প্রাচীন দিগম্বর গ্রন্থ। এতে ভূ-বিবরণ, বিশ্ব-নির্মাণকৌশল বিষয়ক বহু তথ্যমূলক তত্ত্ব আছে। প্রসঙ্গক্রমে এর মধ্যে জৈনদের পৌরাণিক কাহিনী, কালনিরূপণ এবং বিভিন্ন মতবাদের পরিচয় পাওয়া যায়। জম্বুদ্বীপ, ধাতকী খণ্ডদ্বীপ, পুষ্করদ্বীপ প্রভৃতি বহুদ্বীপের এবং জৈন কালচক্রের বিস্তৃত বিবরণ এর মধ্যে পাওয়া যায়। এক কথায়, জৈনশাস্ত্র ও তত্ত্ব উত্তমরূপে আয়ত্ত করতে হলে গ্রন্থখানি পাঠ করা আবশ্যক। গ্রন্থখানি মহাধিকার দ্বারা বিভক্ত এবং অতি প্রাচীন, কারণ, 'ধবলা' নামক টীকায় এর উল্লেখ আছে।

দিগম্বর জৈনদের আগম গ্রন্থ অতি বিশাল। কিন্তু এখন পর্যন্ত খুব বেশী ছাপা হয়নি। অধুনা বহু পণ্ডিতের দৃষ্টি এদিকে পড়েছে।

শ্বেতাম্বর জৈনরা কিন্তু পূর্বোল্লিখিত গ্রন্থগুলিকে তাঁদের আগম গ্রন্থের মধ্যে অন্তর্ভুক্ত করেন না। তাঁদের মতে 'দৃষ্টিবাদ' সম্পূর্ণ লুপ্ত এবং এর অন্তর্গত কোন গ্রন্থ নেই। সে যাই হোক, **দিগম্বর ও শ্বেতাম্বর গ্রন্থ নিচয়ের সংমিশ্রণে জৈনদের ধর্মগ্রন্থ পরস্পরের পরিপূরক ও সম্পূরক হয়েছে।** সুতরাং 'দৃষ্টিবাদ' বাদে শ্বেতাম্বর জৈনদের আগম গ্রন্থ ৪৫ খানি। নিম্নে এদের সংস্কৃত নাম দেওয়া হলো।

(ক) **একাদশ অঙ্গগ্রন্থ** (১) আচারাঙ্গ সূত্র, (২) সূত্রকৃতাঙ্গ সূত্র, (৩) স্থানাঙ্গ সূত্র, (৪) সমবায়াঙ্গ সূত্র, (৫) ভগবতী ব্যাখ্যা প্রজ্ঞপ্তি, (৬) জ্ঞাতৃধর্ম কথা, (৭) উপাসকদশা সূত্র, (৮) অন্তকৃদ্দশা সূত্র, (৯) অনুত্তরৌপপাতিকদশা সূত্র, (১০) প্রশ্নব্যাকরণানি, (১১) বিপাকশ্রুত।

(খ) **দ্বাদশ উপাঙ্গ সূত্র**—(১২) ঔপপাতিকদশা সূত্র, (১৩) রাজপ্রাশ্নীয়, (১৪) জীবাভিগম, (১৫) প্রজ্ঞাপনা সূত্র, (১৬) সূর্যপ্রজ্ঞপ্তি, (১৭) জম্বুদ্বীপ প্রজ্ঞপ্তি, (১৮) চন্দ্রপ্রজ্ঞপ্তি, (১৯) নিরয়াবলী, (২০) কল্পাবতংসিকা (২১) পুষ্পিকা, (২২) পুষ্পচূলিকা, (২৩) বৃষ্ণিদশা।

(গ) **দশপ্রকীর্ণ**—(২৪) চতুঃশরণম্, (২৫) আতুরপ্রত্যাখ্যানম্, (২৬) ভক্তপরিজ্ঞা, (২৭) সংস্তার, (২৮) তন্দুল বৈতালিক, (২৯) চন্দ্রবিদ্যা, (৩০) দেবেন্দ্রস্তব, (৩১) গণিতবিদ্যা, (৩২) মহাপ্রত্যাখ্যান, (৩৩) বীরস্তব।

(ঘ) **ষট্‌ছেদ সূত্র**—(৩৪) নিশীথ, (৩৫) মহানিশীথ, (৩৬) ব্যবহার, (৩৭) আচারদশা বা দশাশ্রুতস্কন্ধ, (৩৮) কল্পসূত্র বা বৃহৎকল্প, (৩৯) জিতকল্প বা পঞ্চকল্প।

(ঙ) **চত্বারমূল সূত্র**—(৪০) উত্তরাধ্যয়ন সূত্র, (৪১) আবশ্যক সূত্র, (৪২) দশবৈকালিক সূত্র বা ওঘনির্যুক্তি, (৪৩) পাক্ষিক সূত্র বা পিণ্ডনির্যুক্তি।

(চ) **স্বয়ংপূর্ণ গ্রন্থদ্বয়**—(৪৪) নান্দীসূত্র, (৪৫) অনুযোগদ্বার।

আগম বহির্ভূত সাহিত্য

এর পর আগম বহির্ভূত গ্রন্থের কথা বলছি।

(ক) নির্যুক্তি

জৈনগণ স্বীয় আগম গ্রন্থকে বোঝাবার জন্য সেই সেই গ্রন্থের ব্যাখ্যা লিখতে আরম্ভ করলেন। সেই ব্যাখ্যা গ্রন্থই পরবর্তীকালে এক সাহিত্যে পরিণত হলো। সেই জাতীয় সাহিত্যের নাম 'নিজ্জুত্তি' (নির্যুক্তি)। বেদের ব্যাখ্যা প্রসঙ্গে যেরূপ নিরুক্তের উৎপত্তি, সেরূপ জৈনাগম সাহিত্যের ব্যাখ্যা প্রসঙ্গে এই জাতীয় নির্যুক্তি গ্রন্থের উৎপত্তি।

কেহ কেহ অনুমান করেন যে, আগম গ্রন্থের রচনাকালে বা কিছু পরেই এই এই নির্যুক্তি গ্রন্থের আবির্ভাব। কারণ, আগম গ্রন্থের মধ্যে দেখা যায় দুটি নির্যুক্তি গ্রন্থের উৎপত্তি—পিণ্ডনির্যুক্তি ও ওঘনির্যুক্তি। বর্তমানে নিম্নলিখিত

আগমের নির্যুক্তি দৃষ্ট হয় :—(১) আচারাঙ্গ সূত্রের, (২) সূত্রকৃতাঙ্গ সূত্রের, (৩) সূর্যপ্রজ্ঞপ্তির, (৪) উত্তরাধ্যয়নের, (৫) আবশ্যক সূত্রের, (৬) দশবৈকালিকের, (৭) দশাশ্রুতস্কন্ধের, (৯) ব্যবহার সূত্রের, (১০) ঋষিবাসিষ্ঠ সূত্রের নির্যুক্তি।

ভদ্রবাহুকে এই জাতীয় গ্রন্থের রচয়িতা বলে ধরা হয়। নির্যুক্তিসমূহ আর্যাছন্দে জৈন মহারাষ্ট্রী ভাষায় রচিত। আচার্যগণ এই জাতীয় নির্যুক্তি কণ্ঠস্থ করে রাখতেন। পরবর্তীকালে এই নির্যুক্তিই বৃহৎ আকার প্রাপ্ত হ'য়ে চুর্ণী ও ভাষ্য গ্রন্থে পরিণত হ'য়ে নতুন সাহিত্যের আকার ধারণ করেছে। আবার তা' থেকে **টীকা, বৃত্তি, অবচুর্ণী, ইত্যাদির উৎপত্তি হয়েছে।** শ্বেতাম্বর জৈনাগম গ্রন্থেরই কেবল নির্যুক্তি দৃষ্ট হয়।

(খ) চূর্ণি

যেমন শ্বেতাম্বরদের নির্যুক্তি, তেমনি দিগম্বরদের চূর্ণিসূত্র। দিগম্বরেরা তাঁদের আগমগ্রন্থের ব্যাখ্যা প্রসঙ্গে এই চূর্ণির উৎপত্তি করলেন। কিন্তু উভয়ের মধ্যে মূলগত পার্থক্য আছে। নির্যুক্তি হ'ল, একটি কঠিন বা পারিভাষিক শব্দের ব্যাখ্যা, আর চূর্ণি হ'ল শব্দের এবং সূত্রের ব্যাখ্যা। নির্যুক্তি সাধারণতঃ পদ্যাত্মক ; আর চূর্ণি গদ্যাত্মক। চূর্ণি-সূত্রকে অবলম্বন করেই পরবর্তীকালে ভাষ্যটীকা প্রভৃতির উৎপত্তি হয়েছে। বর্তমানে নিম্নলিখিত চূর্ণি দৃষ্ট হয় :—(১) গুণধর প্রণীত 'কসায়পাহুড়' চূর্ণি, (২) শিববর্মার 'কম্মপয়ডী' চূর্ণি (কর্মপ্রকৃতি), (৩) শিববর্মার 'সতক' চূর্ণি (বা বন্ধশতক চূর্ণি), (৪) 'সিত্তরী' চূর্ণি (সপ্ততিকা চূর্ণি)। ইহা ছাড়া লঘুশতক চূর্ণি এবং বৃহচ্ছতক চূর্ণিও আছে।

(গ) পত্রাবলী।

পট্টাবলী (পত্রাবলী) বা থেরাবলী (স্থবিরাবলী) বংশপরিচয়াত্মক সাহিত্য। অর্থাৎ জৈন ধর্মগ্রন্থে যে সমস্ত আচার্য, তৎশিষ্য গণধরদের নামোল্লেখ আছে, তাঁদের পরিচয় পাওয়া যায় এই পট্টাবলী বা থেরাবলী সাহিত্যে। ক'জন আচার্য্যের ক'জন শিষ্য ও গণধর ছিল ; কে পূর্বে বা কে পরে, তাদের মোটামুটি একটা পরিচয় মেলে এ জাতীয় সাহিত্যে। এ সাহিত্যে প্রভূত গ্রন্থ বিদ্যমান তন্মধ্যে—(১) কল্পসূত্র থেরাবলী, (২) নংদীসূত্ত পট্টাবলী, (৩) দুসমাকালসমন-সংঘথয়ং, (৪) তপগচ্ছ পট্টাবলী ইত্যাদি উল্লেখযোগ্য।

প্রাকৃত রামায়ণ

যতদূর জানা যায়, প্রাকৃত কাব্যজগতে সর্বাপেক্ষা প্রাচীন কাব্যগ্রন্থ হচ্ছে বিমলসূরি কৃত 'পউমচরিয়ম্' (পদ্মচরিতম্)। গ্রন্থখানি জৈনমহারাষ্ট্রী ভাষায় আর্যাছন্দে রামায়ণের বিষয় অবলম্বনে লিখিত। লেখকের মতানুসারে গ্রন্থের রচনাকাল মহাবীরের নির্বাণলাভের ৫৩০ বৎসর পরে। ১১৮টি সর্গে ৯০০০ শ্লোকে গ্রন্থকার পদ্মের অর্থাৎ রামচন্দ্রের জীবনচরিত বর্ণনা করেছেন। এই গ্রন্থে রামচন্দ্রের নাম পদ্ম রাখা হয়েছে। ঐরূপে সীতা, হনুমান্, সুগ্রীব প্রভৃতির নামাবলীরও পরিবর্তন ঘটেছে। লেখক বহু ব্যাপারেই বাল্মীকিকে অনুসরণ করেন নি এবং সমস্ত ঘটনার মধ্যেই একটা জৈন ভাবের পরিচয় দিয়েছেন। গ্রন্থখানি পাঠে বিমল আনন্দ অনুভূত হয়।

প্রাকৃত মহাভারত

প্রাকৃত ভাষার আর একটি মহাকাব্য হচ্ছে, ধবলকবি কর্তৃক বিরচিত, 'প্রাকৃত মহাভারত' হরিবংশ-পুরাণ। গ্রন্থের রচনাকাল লেখকের মতে, দশম বা একাদশ খ্রীষ্টাব্দ। মহাভারতের কাহিনী সর্বাংশে অনুসৃত না হলেও, লেখক এতে কৃষ্ণ ও বলরামের এবং কুরু ও পাণ্ডবদের ঘটনানিচয় সুন্দরভাবে রূপায়িত করেছেন এবং সকলকেই, হয় জৈনধর্মে দীক্ষিত না হয় জৈন ভাবাপন্ন করে তুলেছেন।

প্রাকৃত পুরাণ বা চরিতাবলী

যেমন রামায়ণ ও মহাভারতের ঘটনা অনুসরণে প্রাকৃত রামায়ণ ও মহাভারত লেখা হয়েছিল, ঠিক তেমনি, পুরাণের পন্থা অনুসরণে, 'প্রাকৃত পুরাণ' রচিত হ'ল। অর্থাৎ জৈন মহাপুরুষ বা তীর্থঙ্করদের জীবনী অবলম্বনে এই 'প্রাকৃত পুরাণে'র সৃষ্টি হ'ল। দিগম্বরেরা এই জাতীয় গ্রন্থকে 'পুরাণ বলেন, আর শ্বেতাম্বরেরা 'চরিতাবলী' বলে আখ্যা দিয়ে থাকেন। এই প্রাকৃত পুরাণের রচনাকাল খ্রীষ্টাব্দ অষ্টম শতক থেকে ষোড়শ শতাব্দী পর্যন্ত। 'ত্রিষষ্টিলক্ষণমহাপুরাণে' 'ত্রিষষ্টিশলাকাপুরুষচরিত' প্রভৃতি গ্রন্থোক্ত তীর্থঙ্কর মহাপুরুষদের জীবনচরিত অবলম্বনে পরবর্তী কালে বহু গ্রন্থ রচিত হয়েছিল। তন্মধ্যে ১০৮২ খ্রীষ্টাব্দে গুণচন্দ্র গণির (১) 'মহাবীর চরিয়ম্', ১১৫৯ খৃঃ

হরিভদ্রের (২) নেমিনাহচরিউ (অপ), মানিক্যচন্দ্র ও সকলকীর্তির (৩) শান্তিনাথচরিত, ১২শ খৃঃ সোমপ্রভাচার্যের (৪) 'সুমতিনাহচরিউ', ১১৪৩ খৃঃ লক্ষ্মণগণির (৫) 'সুপাসনাহচরিয়ম্' প্রভৃতি প্রাকৃত পুরাণ বিশেষ উল্লেখযোগ্য। পুষ্পদন্তের 'মহাপুরাণ' (দশম শতকে) একখানি উৎকৃষ্ট দিগম্বর জৈন পুরাণ গ্রন্থ।

প্রাকৃত কাব্য

সংস্কৃত সাহিত্যের মত 'প্রাকৃত কাব্য' ও ভাবে-ভাষায়, ছন্দে-অলংকারে ও ঘটনার পারিপাট্যে মহীয়ান্। ভাষার নিমিত্ত প্রবেশ সহজসাধ্য নয় বলে সাধারণ পাঠক এর থেকে রস গ্রহণ করতে পারেন না। কিন্তু যদি একবার ভাষা আয়ত্তীকৃত হয়, তাহ'লে দেখা যাবে যে সংস্কৃত কাব্য থেকে এ কোন অংশে কম নহে। সংস্কৃত মহাকাব্যের যে সমস্ত লক্ষণ আছে, সে সমস্ত পুংখানুপুংখভাবে হয়ত এতে সব সময় পাওয়া যায় না, কিন্তু এ কাব্য নতুনভাবে ভাবিত হ'য়ে এক নতুন রূপ দেবার চেষ্টা করেছে। সংস্কৃত মহাকাব্যের ন্যায় কোনও এক গ্রন্থ থেকে এর ঘটনাসমূহ সচরাচরই নেওয়া হয় নি ; বরং অনেক কল্পনাশক্তি এ প্রাকৃত কাব্যজগতে আত্মপ্রকাশ করেছে। মূল কথা এই যে, প্রাকৃত কাব্য পাঠে যথার্থ আনন্দ পেতে কোন অসুবিধা হয় না।

এ ভাষায়, মহাকাব্য, খণ্ডকাব্য, কোষকাব্য, ধর্মকথাকাব্য, কথানককাব্য, গদ্যকাব্য, চম্পূকাব্য ইত্যাদি বহুজাতীয় কাব্য আছে। তন্মধ্যে কয়েকটির নামোল্লেখ করা যাচ্ছে—

মহাকাব্য—প্রবরসেনের সেতুবন্ধ, হেমচন্দ্রের কুমারপালচরিত, সর্বসেনের হরিবিজয়, হরিভদ্রের সনৎকুমারচরিয়ম্, ধনেশ্বরের সুরসুন্দরীচরিয়ম্, জোইন্দুর পরমপ্পয়াস, পুষ্পদন্তের নায়কুমারচরিউ, কনকামরের করকণ্ডচরিউ, হরিভদ্র-সুরির ধূর্তাখ্যান, রামপানি বাদের কংসবহো, উসানিরুদ্ধম্, কুতূহলের লীলাবতী ইত্যাদি।

খণ্ডকাব্য—হালের গাথা সপ্তশতী, জয়বল্লভের বজ্জালগ্গ ইত্যাদি।

কোষকাব্য—আনন্দবর্ধনের বিষমবানলীলা ইত্যাদি।

ঐতিহাসিক কাব্য—বাক্পতিরাজের গউডোবহো ও মহুমবিজয় ইত্যাদি।

ধর্মকথাকাব্য—পাদলিপ্তাচার্যের তরঙ্গবতীর ছায়া অবলম্বনে লিখিত তরঙ্গলোলা, ধনপালের ভবিসয়ত্তকহা, হরিভদ্রের সমরাইচ্চকহা, মলয়সুন্দরী কথা ইত্যাদি।

কথানককাব্য—কালকাচার্যকথানক, কথাকোষ, কথামহোদধি, কথারত্নাকর ইত্যাদি।

গদ্যকাব্য—সোমপ্রভাচার্যের কুমারপালপ্রতিবোধ, ধনপালের ভবিসয়ত্তকথা ইত্যাদি।

চম্পূকাব্য—যসোহরচরিয়চম্পূ, উদ্যোতনের কুবলয়মালাচম্পূ ইত্যাদি প্রধান।

প্রাকৃত নাটক

সংস্কৃত নাটকে সংস্কৃত ও প্রাকৃত উভয় ভাষাই বিদ্যমান। স্ত্রীলোক বাদে উচ্চশ্রেণীর পাত্রগণ সংস্কৃত বলেন, আর স্ত্রীলোকসহ নিম্নশ্রেণীর পাত্রপাত্রীগণ প্রাকৃত বলেন। কিন্তু প্রাকৃত নাটক তাদৃশ নহে। প্রাকৃত নাটকে উচ্চ-নীচ, স্ত্রী-পুরুষনির্বিশেষে সকলেই প্রাকৃত ভাষায় কথা বলেন। এই জাতীয় নাটককে সট্টক বলে। এই নাটকে চারিটি অঙ্ক থাকে এবং তার নাম জবনিকান্তর। বর্তমানে আমরা ছয়টি প্রাকৃত-নাটকের খোঁজ পাই। যথা—

(১) রাজশেখরের কর্পূরমঞ্জরী, (২) নয়চন্দ্রের রম্ভামঞ্জরী, (৩) রুদ্রদাসের চন্দ্রলেখাসট্টক, (৪) মার্কণ্ডের বিলাসবতী, (৫) বিশ্বেশ্বরের শৃঙ্গারমঞ্জরী এবং (৬) ঘনশ্যামের আনন্দসুন্দরী।

প্রাকৃতবৈজ্ঞানিক সাহিত্য

কেবল প্রাকৃত কাব্যাদি রচনা করে, প্রাকৃত সাহিত্য ক্ষান্ত হয়নি, বরং সংস্কৃতের ন্যায়, বিজ্ঞানমূলক রচনা পদ্ধতির দ্বারা একপ্রকার প্রাকৃতবৈজ্ঞানিক সাহিত্য ও সৃষ্টি করেছে। এ রচনার দ্বারা প্রাকৃত সাহিত্য পুষ্ট হয়েছে।

প্রাকৃত-কোষ বা অভিধান

সংস্কৃত সাহিত্যে কোষ বা অভিধান গ্রন্থ প্রচুর। প্রাকৃতে আমরা কেবল দুইটি কোষগ্রন্থের পরিচয় পাই—একটি ধনপালের '**পাইয়লচ্ছিনামমালা**' আর একটি হেমচন্দ্রের '**দেশীনামমালা**'। এদুটি গ্রন্থই বর্তমানে পাওয়া যায়। কিন্তু এ ছাড়া আরও প্রাকৃত অভিধান ছিল বলে অনুমান করতে পারি। কারণ, হেমচন্দ্রের দেশীনামমালার টীকায় অনেক প্রাকৃত অভিধানকারীর নামোল্লেখ আছে।

প্রাকৃত ব্যাকরণ

ব্যাকরণ রচনায় প্রাকৃত সাহিত্যের একটু বিশেষত্ব লক্ষিত হয়েছে। যদিও এরা প্রাকৃতভাষার ব্যাকরণ লিখতে বসেছেন, তথাপি তাঁরা সংস্কৃত ভাষার অবলম্বন করেছেন। কচ্চায়নের 'পালি ব্যাকরণ' যেরূপ পালিভাষায় রচিত, এ প্রাকৃতব্যাকরণ তাদৃশ নহে। সূত্র রচনায় এরা সংস্কৃতের পন্থাই অনুসরণ করেছেন। প্রাকৃত ব্যাকরণ বহুল পরিমাণে দৃষ্ট হয়। তন্মধ্যে—(১) বররুচির প্রাকৃত প্রকাশ, (২) চণ্ডের প্রাকৃত লক্ষণ, (৩) হেমচন্দ্রের প্রাকৃত ব্যাকরণ, (৪) ত্রিবিক্রমের প্রাকৃতব্যাকরণ, (৫) ক্রমদীশ্বরের সংক্ষিপ্তসারব্যাকরণ, (৬) লক্ষ্মীধরের ষড্‌ভাষাচন্দ্রিকা, (৭) সিংহরাজের প্রাকৃতরূপাবতার, (৮) মার্কণ্ডেয়ের প্রাকৃতসর্বস্ব (৯) শ্রুতসাগরের ঔদার্যচিন্তামণি, (১০) রামশর্ম তর্কবাগীশের প্রাকৃতকল্পতরু প্রভৃতি উল্লেখযোগ্য। এ সমস্ত ব্যাকরণে মহারাষ্ট্রী, শৌরসেনী, মাগধী, অর্ধমাগধী, পৈশাচী, অপভ্রংশ, প্রাচ্যা, আবন্তী, চাণ্ডালী, শাবরী, টাক্কী, নাগর, ব্রাচড় প্রভৃতি প্রাকৃতভাষার লক্ষণাদি লিপিবদ্ধ আছে।

প্রাকৃত ছন্দঃ শাস্ত্র

প্রাকৃত ছন্দোগ্রন্থ প্রভূত রচিত না হ'লেও, এর ছন্দোরাশি বিশাল। বিশেষ করে নব্যভারতীয় ছন্দের উৎপত্তির ব্যাপারে এর দান অনেক। পিঙ্গলাচার্যের 'প্রাকৃতপিঙ্গল' অপভ্রংশ ভাষায় রচিত একখানি প্রাকৃত ছন্দোগ্রন্থ। এতে 'মাত্রাবৃত্ত' ও 'বর্ণবৃত্ত' উভয় জাতীয় ছন্দই বিদ্যমান। গাহা, বিগ্‌গাহা, উগ্‌গাহা, রোলা, দোহা, ঘত্তা, কব্বলক্‌খণ, মল্লিকা, চচ্চরী প্রভৃতি ছন্দ বিশেষ উল্লেখযোগ্য। হেমচন্দ্রের 'ছন্দোনুশাসনম্‌', আর একটি বিশাল প্রাকৃত ছন্দোগ্রন্থ। কবিদর্পণও প্রাকৃতছন্দের একটি উৎকৃষ্ট ছন্দোগ্রন্থ।

প্রাকৃত ভাষায় দর্শন

জৈনগণ প্রাকৃতভাষায় স্বীয় ধর্মের দর্শন লিখতে আরম্ভ করলেন। আত্মার, অস্তিত্ব সম্বন্ধে উপনিষদের সারগর্ভ বাণী যখন বৌদ্ধদের মধ্যে অনাস্থা স্থাপন করল তখন সৃষ্ট হ'ল বৌদ্ধদের 'শূন্যবাদ' বা 'নাস্তিবাদ'। কিন্তু এতেও শেষ হয়নি। জৈনগণ 'অস্তি' ও 'নাস্তি'র মধ্যে আর একটু নতুন দর্শনের সৃষ্টি করলেন, যাকে বলা হয় 'স্যাদ্বাদ'। এ দর্শন উভয় দর্শনের মধ্যগা পন্থা অবলম্বন করল। এ দর্শনকেই ভিত্তি করে, জৈনগণ ন্যায়, তর্কশাস্ত্র প্রভৃতির প্রতিষ্ঠা করতে

লাগলেন। আবশ্যকনির্যুক্তিতে পাওয়া যায়, ভদ্রবাহু দশবিভাগে বিভক্ত করে 'ন্যায়' শিক্ষা দিয়েছিলেন এবং সূত্রকৃতাঙ্গনির্যুক্তিতে পাওয়া যায়, ভদ্রবাহু স্বয়ং 'স্যাদ্বাদ' শিক্ষা দিয়ে লোকের মন জয় করেছিলেন। জৈনদর্শনে পদার্থ (দ্রব্য), পদার্থজ্ঞান, কালচক্র, কালতত্ত্ব, সৃষ্টিপ্রকরণ, আত্মা ও দেহ, ইন্দ্রিয়বর্গ প্রভৃতির অপূর্ব ব্যাখ্যা আছে। এই ব্যাখ্যায় জৈন মনিষীরা তাঁদের প্রজ্ঞাশক্তির অপূর্ব পরিচয় দিয়েছেন। এ মনীষীদের মধ্যে কুন্দকুন্দাচার্য বা এলাচার্য প্রধান। তিনি প্রাকৃত ভাষায় ৮৩টি গ্রন্থ রচনা করেছিলেন। তন্মধ্যে—

(১) পঞ্চাস্তিকায় সময়সার, (২) প্রবচনসার, (৩) সময়সার, (৪) নিয়মসার, (৫) ষট্‌প্রাভৃত প্রভৃতি উল্লেখযোগ্য।

তৎপরে ভট্টকের স্বীয় প্রতিভার পরিচয় দিলেন প্রাকৃত ভাষায় লিখিত **'মূলাচার'** ও **'ত্রিবর্ণাচার'** গ্রন্থে। কার্তিকেয় স্বামীর **'কার্তিকেয়ানুপ্রেক্ষা**,; উমাস্বামিনের **'তত্ত্বার্থাধিগমসূত্র'**; হরিভদ্রের **'দ্রব্যগুণ'**. **'শ্রাবক প্রজ্ঞপ্তি'**, **'প্রশমরতিপ্রকরণ'** প্রভৃতি দর্শন বিশেষ উল্লেখযোগ্য।

এভাবে জৈনরা প্রাকৃত ভাষার মাধ্যমে ধর্মশাস্ত্রে, অর্থশাস্ত্রে, কামশাস্ত্রে এবং গণিতে, জ্যোতিষে, ফলিতজ্যোতিষে, এমনকি, আয়ুর্বেদে, ভূগোল, ইতিহাসে, সৃষ্টিপ্রকরণে বহুবিধ গ্রন্থ রচনা করে প্রাকৃত সাহিত্যের সম্পদ বৃদ্ধি করেছেন।

জৈনেতরন্যায়শাস্ত্রের প্রচার ও প্রসারে জৈনদের যোগদান

অধ্যাপক শ্রীঅনন্তলাল ঠাকুর

ভারতবর্ষে আন্বীক্ষিকী বিদ্যার প্রসার তিন ধারায় হইয়া ছিল। এই ধারাত্রয়ের মূল এক অথবা বহু ইহা বিবাদাস্পদ বিষয়। এই গভীর বিষয়ে প্রবেশের চেষ্টা বর্তমান নিবন্ধের ক্ষেত্র বহির্ভূত। কিন্তু পরবর্তীকালে আর্য, বৌদ্ধ এবং জৈন এই তিন বিশিষ্ট ন্যায় সম্প্রদায়ের ঘাত প্রতিঘাত এবং ক্ষেত্র বিশেষে ইহাদের পারস্পরিক আনুকূল্য এবং প্রাতিকূল্যের দ্বারা সামাজিক দৃষ্টিতে ভারতীয় যুক্তিবাদের যে শ্রীবৃদ্ধি হইয়াছিল আমরা এখানে তাহাই সংক্ষেপে আলোচনা করিব।

বৈদিক আন্বীক্ষিকী বিদ্যাকে আধার স্বীকার করিয়া বৌদ্ধ যুক্তিবাদ পুষ্টিলাভ করিয়াছিল এই কথা মহর্ষি গৌতমের ন্যায়শাস্ত্রের সহিত উপলব্ধ প্রাচীন বৌদ্ধবাদ গ্রন্থগুলির তুলনা হইতে স্পষ্ট প্রতিভাত হয়। প্রমাণ, হেত্বাভাস এবং নিগ্রহ স্থানাদি পদার্থের চর্চায় প্রাচীন বৌদ্ধাচার্যেরা অক্ষরশঃ গৌতমের অনুসরণ করিয়াছেন। উভয় পক্ষের তাত্ত্বিকদৃষ্টির বিভিন্নতা বশত: সিদ্ধান্তগুলিতে ইতস্ততঃ ভেদ দৃষ্টিগোচর হইলেও ন্যায়শাস্ত্রের পদার্থ বিবেচনার ক্ষেত্রে উভয় পক্ষের সৈক্য বিস্ময়াবহ। সম্ভবতঃ আচার্য বসুবন্ধুর কাল হইতে উভয় পক্ষের ব্যবধান বৃদ্ধি পায়। আচার্য দিগ্‌নাগ ন্যায়পদার্থ বিচার পরিত্যাগ পূর্বক বৈশেষিক পক্ষের অনুসরণ করেন। তৎকৃত প্রমাণসমুচ্চয়াদি গ্রন্থ প্রমাণও হেত্বাভাসের চর্চা পরীক্ষা করিলে বিষয়টি স্পষ্ট বুঝা যায়। দিগ্‌নাগ ন্যায়ভাষ্যকার বাৎস্যায়নের মত খণ্ডন করেন। বাৎস্যায়নের মত সমর্থন করিতে গিয়া ন্যায়বার্তিককার উদ্দ্যোতকর দিগ্‌নাগের মতে বহুস্থলে অনুপপত্তি প্রদর্শন করিয়াছেন। আবার দিগ্‌নাগের প্রশিষ্য ধর্মকীর্তি উদ্দ্যোতকরের সমালোচনা করিয়া বৌদ্ধপক্ষ স্থাপন করেন এবং ন্যায়বার্তিকতাৎপর্যটীকায় বাচস্পতি মিশ্র ধর্মকীর্তির সমালোচনার উত্তর দিয়া ন্যায়মতের সৌষ্ঠব সম্পাদন করেন। এই রূপে বাচস্পতি ও বৌদ্ধাচার্য প্রজ্ঞাকর ও জ্ঞান শ্রীমিত্রের কঠোর সমালোচনার সম্মুখীন হইয়াছিলেন। পরবর্তী ন্যায়চার্য উদয়ন জ্ঞান শ্রীমিত্র প্রভৃতির মত বিশেষভাবে খণ্ডন করিয়া বাচস্পতি প্রস্থানের বিশুদ্ধি বিধান করেন। অতঃপর রাজনৈতিক কারণে নালন্দা বিক্রমশিলা

প্রভৃতি বৌদ্ধবিদ্যা কেন্দ্রগুলি নষ্ট হওয়ায় হিন্দু নৈয়ায়িকদের শাস্ত্র বিবৃদ্ধির জন্য অন্যত্র প্রতিপক্ষ আবিষ্কার করিতে হইয়াছিল, ন্যায়শাস্ত্রের ইতিহাসে ইহার সমর্থনের অভাব নাই।

ভারতীয় যুক্তিবাদের ইতিহাসে উপরিনির্দিষ্ট সারস্বত বিরোধের ফল বিশেষ শুভ-দায়ক হইয়াছিল। উভয়পক্ষই নিজ নিজ ত্রুটি বিচ্যুতির পরিমার্জন স্ব স্ব শাস্ত্রের প্রগতির পথ প্রশস্ত করিবার সুযোগের যথেষ্ট সদ্ব্যবহার করিতে পারিয়াছিলেন।

কিন্তু হিন্দু এবং বৌদ্ধ নৈয়ায়িকের সম্বন্ধ মল্ল এবং প্রতিমল্লের সম্বন্ধ। প্রয়োজন অনুসারে স্বপক্ষ রক্ষার আগ্রহে ইহারা অসঙ্কোচে আপাতদুষ্ট ছল জাতি এবং নিগ্রহস্থানের প্রয়োগ করিয়াছেন। ফলে তত্ত্বজ্ঞান লাভের সাধন যুক্তিশাস্ত্র স্থান বিশেষে তত্ত্ববিঘাতকও হইয়া পড়িয়াছে।

জৈন ন্যায়ের স্থান বৈদিক এবং বৌদ্ধন্যায় হইতে স্বতন্ত্র। উভয়ের সঙ্গে ইহার সম্বন্ধ প্রায় সমান ছিল। এইধারা নিজ উৎস হইতে উৎপন্ন হইয়া উভয় বিবদমান ধারার সমান্তরাল ভাবে প্রবাহিত হইয়াছে। ইতস্ততঃ গ্রহণ বর্জন অবশ্যই হইয়াছে। তবে জৈন অনেকান্ত ভাবনা সর্বত্র তত্ত্ব জিজ্ঞাসার উপরই মহত্ত্ব দিয়াছে, সহানবস্থান অথবা বধ্যঘাতক বিরোধের পরিবর্তে তাত্ত্বিক সহাবস্থান সর্বক্ষেত্রেই জৈনাচার্যদের অভীষ্ট ছিল।

জৈনদৃষ্টির এই উদারতা কোন মতবাদের নাশক অথবা প্রচ্ছাদক হয় নাই, বরং ইহার সাহায্যে অজৈন মতবাদেরও যথাযোগ্য অভ্যুদয় হইয়াছে। আধ্যাত্মিক জ্ঞানের সঞ্চয় এবং সংরক্ষণ জৈন সংস্কৃতির এক বিশেষ গুণ। যুক্তিবাদের ক্ষেত্রেও ইহার অনেক উদাহরণ মিলিবে। অনেক বৈদিক এবং বৌদ্ধন্যায়গ্রন্থ নিজ নিজ সম্প্রদায় সম্পূর্ণ বিশ্লিষ্ট হইয়া গিয়াছিল। কিন্তু জৈন সম্প্রদায়ে উহার আদর অক্ষুণ্ণ ছিল। জৈনেরা অপক্ষপাত দৃষ্টিতে ভিন্ন সম্প্রদায়ের গ্রন্থগুলির অনুশীলন করিয়াছেন, নিজ নিজ গ্রন্থে পরগ্রন্থের সন্দর্ভ উদ্ধার করিয়াছেন, টীকা গ্রন্থ রচনা করিয়া তীর্থিকগ্রন্থের স্থায়িত্ব বিধান করিয়াছেন এবং সর্বোপরি, অসংখ্য জৈন গ্রন্থ ভাণ্ডারে অন্যান্য গ্রন্থের সঙ্গে অমূল্য ন্যায় গ্রন্থ সমূহের সংগ্রহ এবং রক্ষার ব্যবস্থা করিয়াছেন।

ভারতবর্ষের তপোলব্ধ অবদানমাত্রই মহান এবং সকলের সামান্য সম্পত্তি, উহা সংগ্রহের এবং সংভাবনার যোগ্য এই জৈনী ভাবনা বিভিন্ন একান্ত দর্শনকে এক নয়চক্রের বিভিন্ন 'অর' রূপে সুবিন্যস্ত করিয়াছে।

তত্ত্বানুধ্যায়ী মিত্রদের অনুগ্রহে আমরা কয়েকখানি অতিদুর্লভ ন্যায়গ্রন্থের ছায়ালিপি পর্যালোচনার্থ প্রাপ্ত হইয়াছি। প্রধানত উহার উপর নির্ভর করিয়া আমরা এখানে বিষয়টার স্পষ্টীকরণের চেষ্টা করিব।

মহর্ষি কণাদকৃত বৈশেষিক সূত্রে বৈশেষিকসূত্রের পরবর্তী তথা প্রশস্ত পাদের পদার্থ ধর্ম সংগ্রহের পূর্ববর্তী বৈশেষিক গ্রন্থ সমূহের প্রাপ্তি ত দূরের কথা, উহাদের নামও আধুনিক বৈশেষিক সম্প্রদায়ে অপরিচিত। এই অবস্থায় দ্বাদশারনয়চক্রের ন্যায়াগমানুসারিনী টীকায় সিংহসূরি বৈশেষিকবাক্য নামক বার্তিকগ্রন্থ, বৈশেষিক কটন্দী নাম্নী টীকা তথা প্রশস্তমতি কৃত ভাষ্যটীকার সামান্য পরিচয় দিয়া এবং ইতস্ততঃ সেই গ্রন্থের সন্দর্ভ উদ্ধার করিয়া এক অন্ধকার ক্ষেত্রে প্রভূত আলোকপাত করিয়াছেন। বৈশেষিক সূত্রপাঠও কালক্রমে নষ্ট ভ্রষ্ট হইয়া গিয়াছে, ইহা বিশেষজ্ঞেরা উপলব্ধি করিয়া থাকেন। জৈনদার্শনিক গ্রন্থ তথা জৈনভাণ্ডারস্থ অন্যান্য গ্রন্থ এই সূত্র গ্রন্থের পাঠ নির্ণয়েও প্রচুর সাহায্য করে। নব্য বৈশেশিক প্রস্থানে জৈনাচার্যদের অবদান সম্পর্কে বিশিষ্ট আলোচনা বন্ধুবর ডঃ শ্রীজিতেন্দ্র জৈতলী মহাশয় ইংরাজী ভাষায় করিয়াছেন।

বৈদিক ন্যায় পরম্পরায় মহর্ষি গৌতমের সূত্রের উপর বাৎস্যায়ণের ভাষ্য, উদ্দ্যোতকর কৃত ন্যায়বার্ত্তিক, বাচস্পতি মিশ্র প্রণীত ন্যায়বার্তিক, বাচস্পতি মিশ্র প্রণীত ন্যায়বার্তিকতাৎপর্য টীকা তথা উদয়নাচার্য নির্মিত তাৎপর্য পরিশুদ্ধি সম্মিলিতরূপে ন্যায় চতুর্গ্রন্থিকা নামে মিথিলা এবং বঙ্গদেশে প্রসিদ্ধ। জৈন পরম্পরায় সূত্রসহিত ন্যায় চতুর্গ্রন্থিকা পঞ্চপ্রস্থানন্যায়তর্ক নামে পরিচিত। অতি সমাদরে জৈনাচার্যেরা পঞ্চপ্রস্থান অধ্যয়ন করিতেন। ইহার প্রামাণিক এবং প্রাচীন মাতৃকা জৈন ভাণ্ডারে পাওয়া যায়। জৈনাচার্য অভয়-তিলক পঞ্চপ্রস্থানের উপর ন্যায়ালঙ্কার অথবা পঞ্চপ্রস্থান ন্যায়টীকা নামে প্রসিদ্ধ অতিবিস্তৃত এবং মার্মিক ব্যাখ্যাগ্রন্থ রচনা করিয়া গিয়াছেন। তিনি অতিনিপুণ ভাবে পাঠবিচার করিয়া ন্যায়সিদ্ধান্তের যথাযথ প্রতিপাদন করিয়াছেন। আচার্য অভয়তিলক খরতরগচ্ছের সুপ্রসিদ্ধ আচার্য জিনেশ্বর সূরির শিষ্য ছিলেন। তিনি হেমচন্দ্রকৃত দ্ব্যাশ্রয়কাব্যের বাক্যবৃত্তি, মহাবীররাস, বাদস্থল, যুগাদিদেবস্তোত্র, স্তম্ভনস্তোত্র তথা আদিনাথস্তব শীর্ষক অন্যান্য গ্রন্থও রচনা করিয়াছিলেন। [১]

---

[১] অভয় তিলকের গ্রন্থাবলীর নাম বিকানীরের বিশিষ্ট শাস্ত্রসেবী পণ্ডিত শ্রীযুত অগরচন্দ নহাটার সৌজন্যে প্রাপ্ত।

শ্রীকণ্ঠাচার্যকৃত ন্যায়টিপ্পণকের অনুসরণে অভয়তিলক অলঙ্কার রচনায় প্রবৃত্ত হইয়াছিলেন বলিয়া মনে হয়। এই ন্যায়টিপ্পণকের একমাত্র মাতৃকা জয়লমীরের জৈনভাণ্ডারে সুরক্ষিত আছে। অনিরুদ্ধাচার্যের ন্যায়বিবরণ পঞ্জিকা অতিপ্রাচীন এবং প্রামাণ্যগ্রন্থ। আচার্য উদয়ন অনিরুদ্ধের নাম শ্রদ্ধার সহিত উল্লেখ করিয়াছেন। গ্রন্থের মাতৃকাও জৈনভাণ্ডার পাওয়া গিয়াছে।

ভাসর্বজ্ঞকৃত ন্যায়সারের স্বোপজ্ঞ ব্যাখ্যার নাম ন্যায়ভূষণ। ইহা দীর্ঘকাল ভারতের বিভিন্নপ্রান্তে আদর লাভ করিয়া আসিয়াছে। দুঃখের বিষয় উহা অতিশয় দুষ্প্রাপ্য। স্যাদ্‌বাদ রত্নাকরাদি গ্রন্থে উপলব্ধ ন্যায়ভূষণের সন্দর্ভগুলি ভূষণমতের বৈশিষ্ট্যের প্রতিপাদক।

আচার্য হরিভদ্রের ষড্‌দর্শন সমুচ্চয় তথা শাস্ত্রবার্তা দ্বাত্রিংশতিকা গুলিতে ন্যায়-বৈশেষিক তথা বৌদ্ধদার্শনিকমতের মার্মিক প্রতিপাদন দেখা যায়। ষড্‌দর্শন সমুচ্চয়ের টীকায় গুণরত্নসূরি অনেক লুপ্ত ন্যায়গ্রন্থের সন্ধান দিয়াছেন। এই গ্রন্থে অধ্যয়ন নামক অল্প পরিচিত ন্যায়ভাষ্যটীকাকারের সন্দর্ভবিশেষ ও উদ্ধৃত হইয়াছে।

আত্মতত্ত্ববিবেক উদয়নাচার্যের অন্যতম প্রসিদ্ধ গ্রন্থ। এককালে ইহার মহত্ত্ব সর্বত্র স্বীকৃত ছিল। ইহার উপরে অনেক ব্যাখ্যাগ্রন্থ ও লিখিত হইয়াছিল। কিন্তু বিষয়গত কাঠিন্য, পূর্বপক্ষের অপরিচয় তথা সম্প্রদায় প্রচ্যুতির জন্য ইহার পাঠ এবং অর্থনির্ণয় প্রায় অসম্ভব হইয়া পড়িয়াছে। এই বিষয়ে আচার্য যশোবিজয়-কৃত খণ্ডখাদ্য হইতে আমাদের যথেষ্ট সাহায্য মিলে। সংভবতঃ জৈনসম্প্রদায়ে আচার্য যশোবিজয়ই সর্বপ্রথম নব্যন্যায়ের শৈলীতে জৈনসিদ্ধান্ত ব্যাখ্যা করিয়াছেন। তাঁহার গ্রন্থাবলী সম্পূর্ণ প্রকাশিত হইলে ন্যায়শাস্ত্রের তুলনা মূলক আলোচনার এক নূতন সরণি খুলিয়া যাইবে।

বৌদ্ধ দার্শনিক মত তথ্য গ্রন্থ সংরক্ষণের ক্ষেত্রেও জৈন আচার্যদের অনুরাগ সুবিদিত। দিগ্‌নাগকৃত বলিয়া পরিচিত ন্যায়প্রবেশের উপর হরিভদ্র তথা পার্শ্বদেব গণি ব্যাখ্যা তথা উপব্যাখ্যা রচনা করিয়াছেন। মল্লবাদীর ন্যায়বিন্দুটীকা প্রসিদ্ধ। প্রভাচন্দ্র ন্যায়নিবিনিশ্চয় বিবরণে প্রজ্ঞাকরকৃত প্রমাণবার্তিকলঙ্কারের বিস্তৃত আলোচনা করিয়াছেন।

ভারতীয় ন্যায়পরম্পরায় জৈনাচার্যদের এই অবদান অতীব মহত্ত্বপূর্ণ। অন্যত্র পরমতরক্ষণের জন্য এইরূপ একনিষ্ঠ চেষ্টা দেখা যায় না।

Reality of Soul & Matter

[In Jain Philosophy and Eddington's scientific Philosophy]

Munisri Mahendrakumar, 'Dwitiya'

Introduction :

"What is reality ?" or, "What is that which we see, perceive, experience or know ?"—Such questions involving the relationship between observer and reality, subject and object, have haunted man from the dawn of reason. Different scientists have given different answers to these questions[1] and these answers have striking similarities with those given by different philosophers. The present paper is based on the comparative study of the philosophical views of the famous physicist Sir Arthur S. Eddington with those of Jain philosophy.

Broadly speaking, we can divide the views of the scientists into two groups :—(i) Idealism and (ii) Realism. The former is accepted, amongst others, by the scientists such as Dr. Albert Einstein, Sir A. S. Eddington, Sir James Jeans, Hermann Weyl, Ernst Mach, Poincare. By idealism, is meant here the view which considers 'the self' or 'consciousness', or 'mind' as the only ultimate reality. The scientists' idealism propounds that the world of scientific investigation is essentially a subjective reality.

1. The well-known exponent of the modern scientific philosophy Prof. Henry Margenan clearly expresses this view : "It is well-known that the scientists, at least in those fields which we call the exact sciences, agree on matters falling in their specific domain but hold widely differing views with regard to reality." See the Nature of Physical Reality, p. 12.

A. Views Of Sir A. S. Eddington :

1. Selective subjectivism :

Sir A. S. Eddington calls the philosophy of science "selective subjectivism", which according to him is quite different from Berkelian subjectivism, which denies all objectivity to the external world. He observes : "In our view the physical universe is neither wholly subjective nor wholly objective nor a simple mixture of subjective and objective entities or attributes".[1]

2. Consciousness—The Ultimate Realty :

The most evident fact in Eddington's Philosophy is that consciousness is the ultimate reality. He believes that the experience of each individual is primarily the changing content of his consciousness.

Consciousness, according to him, is a succession of tableau accompanied by sensory feelings of various kinds, Memories, Abstract Thoughts, Emotions, etc.[2] Eddington considers 'mind' as the first and most direct thing in our experience and all else as remote inference.[3]

The epistemological reason for considering 'consciousness' as the ultimate reality, given by him is that if every element of experience was utterly unlike every other element of experience, there would be no subject-matter for either Science or Philosophy. "Progress", he maintains, "depends on recognising a common factor in two elements of experience."[4] According to him, Physics is based on the fact that there are resemblances between two elements of experience which have the same subject—the consciousness.[5]

---

1. The Philosophy of Physical Science, p. 27.
2. New Pathways in Science p. 280.
3. Science and the unseen world, p. 28.
4. The New Pathways in Science, p. 286.
5. Ibid p. 287.

3. Conscious—Objective
Physical—Subjective

Eddington denies the objectivity of the physical world, considering consciousness as the only objective reality. He has expressed this thus—"Our Philosophy has led to the view that in so far as we can separate the subjective and objective elements in our experience, the subjective is to be identified with the physical and the objective with the conscious and spiritual aspects of experience.[1]"

4. Scientific Knowledge—Wholly Subjective.

Because in Eddington's view the objective reality is different from the physical world, he contends that Physics can never know it. He, therefore, concludes, "The fundamental laws and constants of Physics are wholly subjective, being the mark of the observer's sensory and intellectual equipment on the knowledge obtained through such equipment ; for we could not have this kind of a *priori* knowledge of laws governing an objective universe.[2]

B. Jain Philosophy

1. Metaphysics :

In Jain Metaphysics, the following five substances are considered to be the ultimate realities constituting the universe[3] :—

(i) *Dharmastikaya*—Medium of motion
(ii) *Adharmastikaya* ,, ,, rest
(iii) *Akasastikaya*—Space
(iv) *Pudgalastikaya*—Matter
(v) *Jivastikaya*—Soul.

---

1. The Philosophy of Physical Science p. 184
2. The Philosophy of Physical Science, p. 104
3. Kala i.e. time is considered to be a substance ; all the same it is not an ultimate objective reality.

Here, we are concerned only with the last two realities.

'*Pudgala*' or 'Matter' is defined as that substance possessing colour, odour, taste and touch.[1] Soul is defined as that substance whose characteristic is *upayoga*[2], which means 'the activity of consciousness.'[3] The *pudgala* is inanimate, insentient, anti-conscious substance, while the soul is colourless, odourless, tasteless and touchless, anti-matter substance. Both—the *Pudgala* and the Soul are independent objective realities.

2. Epistemology :

As we have seen, it is the activity of consciousness, i.e., '*upayoga*' through which the soul perceives the objects. Every object essentially consists of infinite number of attributes which are of two kinds : (i) General and (ii) Particular. The 'general attributes' as well as the 'particular attributes' are considered to be existing objectively. That is to say, a general attribute always remains 'general' and a particular one always particular. Now, when a soul perceives a general attribute, its perception is known as intuition *(darsana)*[4] and when it perceives a particular attribute, it is called knowledge or cognizance *(jnana)*. Thus, the objectively divided attributes of the perceived substance are responsible for the bi-division of the percipient's *upayoga* into *darsana* and *jnana*, also called '*anakara upayoga*' (indeterminate-cognition) and '*sakara upayoga*' (determinate-congnition) respectively.

Another remarkable characteristic of Jain epistemology to be borne in mind is the classification of knowledge into two types : (i) Sensory and (ii) extra-sensory or transcenden-

---

1. Sparsa, (स्पर्श) Rasa, (रस) Gandha (गन्ध), Varnavan (वर्णवान), Pudgalah (पुद्गलः)—Jain Siddhanta Dipika I-11
2. Upayoga Lakṣaṇo Jivah—Ibid—2-1
3. Chetna-Vyāparo Upayogah—Ibid—2-2
4. This term 'darsana' is a technical term of Jain epistemology, defined as the perception of general attributes. It, therefore, should not be confused with the ordinarily used word 'darsana' meaning Philosophy.

tal. The knowledge obtained through the medium of the sensory and intellectual or mental equipment is 'sensory', while that obtained directly by the soul, without any assistance of the senses or mind, is 'transcendental'. The first two kinds of knowledge, vig., *mati-jnana* (Non-verbal sensory comprehension) and *sruti-jnana* (Verbal sensory comprehension) are, of course, sensory perceptions, while the last three, viz. *avadhi-gnana*, (clairvoyance), *manahparyava jnana*, (telepathy) and *keval-jnana* (Omniscience) are extra-sensory perceptions.

C. Comparision And Critique

1. Essence of Soul :

On the basis of the above succinct outlines of the philosophical views of Eddington and Jainism, we shall try to compare them.

As we had already seen, making the epistemological investigation as the basis of his Philosophy, Eddington has propounded that consciousness, which is the source of all our activities such as experience, thinking, memory and feeling is the objective reality. The Jain Philosophy also accepts the objective existence of soul and believes it to be the source of all the activities of consciousness. Thus both the philosophies hold identical views regarding the essence of spiritual reality.

2. Subjectivity & Objectivity of physical properties :

Though both the philosophies agree with each other regarding the objective existence of the 'external world' or 'physical world', they seem to differ widely in their concepts of its fundamental nature.

Eddington has clearly stated—"I therefore take it as axiomatic that the external world must have objective content."[1] Notwithstanding this statement, he has strongly

---

1. The Philosophy of Physical Science, P. 257.

criticized the realists. It is a general contention of all realists that all the physical objects have independent objective *existence* and that the physical properties -- such as colour, taste, odour and touch—too exist objectivly in them. Against this belief, Eddington makes the following statement, giving an example of an apple : "I might define my typical opponent as the man who believes in the existence outside the mind of 'an actual apple with an actual taste in it', I do not object to an actual apple external to the mind, and I am willing to be covinced as to the existence of an actual taste (as distinct from the physical interaction between the molecules of the apple and those of a particular tongue) external to the mind. Where the philosopher seems to fly against the plain teaching of science is in locating the actual taste, colour, sound inside the thing itself."[1] This statement of Eddington indicates that the physical properties such as colour, taste are not accepted by him as "objective". Contrary to this, Jain philosophy asserts them to be existing objectively in matter *(Pudgala)*, and not to have been created by consciousness.

3. Explanation by Jain Theory :

The above problem of "an actual taste in actual apple" can easily be solved on the basis of the Jain theory of atom. In the atomic theory of Jain Philosophy, it is stated that each atom—the ultimate particle of matter—possesses one colour, one odour, one taste and two touches.[2] Just as the existence of atom itself is objective and not subjective, so the existence of quartet properties in atom is also objective. The quartet of colour etc. does not depend upon the percipient for their existence. Not only this, but the existence of pluarality of colours, etc. is not also dependent on the knower. It is a fundamental assertion of Jain Metaphysics that there exists infinite number of atoms in the universe and the intensity of fourfold attributes existing in them also varies infinitely from atom to atom.

Thus, for example, we take the quality of colours Black,

---

1. The New Pathways of Science, P. 281
2. Bhagvati Sutra 8, VI.

blue, red, yellow and white—these are five fundamental colours. In each atom, there must exist one of these colours. But in the atoms of the same colour, the degree of intensity may vary. Thus in the realm of black atoms, some atoms may be one unit black, some two units, some three, and so on up to some infinite units. In this way, there exists difference in the quality and the quantity of all attributes in different atoms. And existence of this difference is neither dependent or nor created by consciousness.

Thus, an apple, according to Jain Philosophy, consists of infinite number of atoms, each possessing in itself a particular taste (out of the five fundamental tastes) in a particular intensity, and consequently, the apple, which is the collection of all these atoms, must possess an objective taste in itself.

4. Rabuttal of Eddington's Argument :

Though the modern physics has not yet reached the ultimate unit of matter, it accepts the atomic particles such as electron, proton, neutron as the practical units of all material elements. Now, Eddington accepts these particles as objective realities, all the same he is not prepared to accept the objectivity of these attributes like, colour, taste, etc. He is not able to comprehend at all as to how the atoms and the material objects themselves can possess colour, etc. without having any dependence on consciousness. This belief of the renowned scientist seems, however, to be due to his prejudiced idealistic concepts.

The plurality of colour, etc. is directly perceived by us, and even Eddington cannot deny it. Now, if the plurality were not existing objectively, how different objects possessing different colours etc. could have been perceived by a single consciousness, and also, if it was the consciousness which was responsible for 'spinning of colour etc.' and if the object itself were completely devoid of these properties as suggested by Eddington,[1] how a single object could have been perceived identically by different percipients (conscious-

1. The New Pathways in Science p. 88.

ness) ? It means that in case the object itself was totally colourless etc., it would not have been possible for different percipients to have congruous perception of the same object.

5. Possibility of Dissimilar Perceptions :

Here it should be noted that sometimes the same object is perceived by different consciousness to possess unidentical properties of colour etc. But this unlikeness is caused only due to the variance in the capacities of the percipients and means used by them. For example, colour-blind persons cannot distinguish between the various clours. But this is obviously due to their subjective inability, and not the objective unity of the colours. In the same way, it is possible that the same thing may be perceived to have two different tastes when it is perceived by two percipients. But this does not mean that there does not exist any taste objectively in the object. Actually, the dissimilarity in perceptions is caused by the difference in the construction and capability of the tasting equipments (i.e. tongues) of the two persons. It is clear that the 'taste' which is comprehended by us in our perception is actually created as a result of biochemical and physical interaction between the real taste existing objectively in the perceived object and the tasting equipment. Hence, in case there is the slightest variance in the tasting equipments of two percipients, the taste experienced by them would also be unidentical.

6. Mathematical Symbols :

The above phenomenon can easily be understood by simple mathematical symbols. Let L denote the objective taste, B_1 and B_2 denote the constants (or functions) of the tasting equipments of two percipients A and B resp. and, V_1 and V_2 denote the tastes perceived by A and B resp. then,

$$L + B_1 = V_1 \text{—(1)}$$

and $$L + B_2 = V_2 \text{—(2)}$$

Now, from these equations, it becomes clear that if $B_1 = B_2$

then, $V_1 = V_2$

That is to say that if the constants representing the tasting equipments of A and B were equal, the tastes perceived by them will also be the same. Actually, this happens generally ; for, in normal conditions, B_1, B_2, etc. have almost the same value for different persons.

The above equations also give us a further indication that V can become equal to L, in case B = O ; i.e. if the tasting equipment does not interfere in the process of perception, the perceived taste (V) will be equal to the objective taste (L). But this is possible only in the case of 'E.S.P.'

Another interesting inference from the above equations is that for the same percipient, the value of B may not remain the same, i.e. the construction and capacity of the tasting equipment may itself undergo change in diverse conditions. In such a case, the same percipient would experience the same object in different forms. For example, say, a person drinks milk containing sugar. In normal conditions, he will perceive the taste as "sweet". But if the same person first eats some sweetmeat and then takes the sugar-mixed milk, he will perceive it to be "unsweet". This happens because the value of B was changed in the second case due to the effect of sweetmeat on the tasting equipment But in normal conditions, B can be regarded to have identical value for all the percipients.

7. Phenomenon of Colour :

We have already seen that Eddington considers the consciousness as the spinner of the colours. Though the actual phenomenon of colour is very difficult to be explained and is also not completely known in the realm of science, it can easily be proved that the phenomenon of colour is essentially due to the objective attribute of matter.

All of us perceive grass as 'green'. Now, Eddington says :

that in this process there is no speciality whatsoever of the grass. But that on account of its own specific characteristic, the consciousness perceives the grass as 'green'. But such a view does not hold good either on the basis of common sense logic or the present day scientific theory of colour-phenomenon. It is contradictory to the fundamental assertion of the Jain Metaphysics too.

Our common sense rationality compels us to believe that ever in the absence of any percipient (consciousness) the grass will ever remain green.

Secondly, the modern Science explains the phenomenon of colour on the basis of the wave-theory. It is an undoubtedly proved fact of science that the whole visible spectrum is contained in the ordinary white light from the sun. When the light waves from the sun pass through any material object, all wave-lengths except a particular one, are absorbed by the object on account of same specific charge of its own. Thus, when the light-waves pass through the grass, the grass absorbes all wave lengths except one representing the green colour, due to its own specific objective property. Consequently, the only wave length representing green colour reaches our eyes, it stimulates optic equipment and we see the grass as 'green'. Thus, on the basis of scientific theory too, it becomes clear that the perception of grass (or rose as red), is not dependent upon the consciousness but on the fact as to which wave length is not absorbed by the object, and this, in turn, is decided by the structure of the object—some objective pecularity of the object itself. Hence we can say that the colour of an object is contained in its own nature, or more strictly, colour is an objective attribute of the matter. Thus, Eddington's contention that consciousness spins the colour, is completely blown into smithereens on the basis of the scientific theory itself.

Lastly, we examine the above view of Eddington in the light of Jain metaphysics. The Jain metaphysics clearly states that all the four properties of matter are objectively possessed by each atom. It is also asserted by the Jain metaphysics that in the grass there exist atoms of all the five colours, and

therefore, the objective colour of grass is not merely green. But, because in grass, there is a majority of atoms possessing green colour, we see it as green. Actually there is not at all much difference in the Jain view and the real scientific view for both of them assert the same fact viz. "The colour is essentially contained in the structure of object itself". Merging the two views, we can say that the absorption of wave lengths by the object depends upon the structure of the object—The natural objective colours of the atoms constituting the object.

8. Structure of Electron :

As we have already seen, Eddington does accept the real objective existence of the electron. But how an electron, devoid of all the physical properties can exist objectively, is not made clear by him. Probably, Eddington considers the mass and the electric charge as the objective properties of an electron, and colour etc , as its subjective qualities. Now, the Jain Metaphysics maintains that the quality of touch, which is an objective property of atom, is eight-fold, there being four pairs of opposite touches. Out of them, the pair of '*rukshtava*' and '*snigdhatva*' which should mean positive and negative electric charges, and the pair of '*sitatva*' and '*usnatva*' which should correspond to the objective causes of the phenomenon of temperature of the atom, are fundamental, while the remaining two pairs, one of '*Gurutva*' and '*Laghutva*' corresponding to 'mass' and the other of '*mridutva*' and '*kathotrava*' literally meaning 'softness' and 'hardness' are secondary. The ultimate atom in its separate form must possess two touches one out of the each of the first two pairs. Thus, electric charge which seems to be accepted by Eddington as an objective property of electron is, in fact, one of the fundamental objective touches, described by Jain Metaphysics. Also the mass though a secondary touch is considered to be one of the objective qualities of matter.[1]

1. It has been recently shown by the British Scientist Dr. Fred Hoyle and the young Indian Scientist Dr. Narlikar that mass is not the fundamental property of matter.

Thus, if Eddington does not mind accepting the touches such as electric charge and mass as the objective qualities of the electron, he should also not deny the objectivity to other qualities, like colour etc. of the same category.

9. Transcendental Perception :

Upto now, we have only discussed the bearings of sensory equipments on our perception. The Jain Philosophy gives also an elaborate description of extra-sensory-perceptions. According to it, in an E.S.P. the objective qualities of the object are comprehended by the percipient as they are. The disharmony which is created between the perceived quality and the objective quality due to the effect of the sensory equipments, is totally elminated in the E.S.P., for here there is no interference of any external equipment. In our symbolic language, here L=V, and B=O.

10. Limitations of Science :

The weakest factor of Eddington's philosophy is that it is based on modern physics, which has not yet been able to answer some of the most fundamental questions concerning the essence of matter such as 'what is the ultimate unit of matter and what is its actual structure ?' Mostly in modern science, the natural phenomenon are explained by using abstract symbols, the ultimate nature of which is left unexplained.

Take far example, the phenomenon of colour. Modern science explains it by the symbol of wave length of light-waves. But what is light ? Is it in the form of wave or in the form of particle ? What is the ultimate cause of absorption of particular wave-lenghts by the different objects? In answering all such questions satisfactorily, modern Physics has not been successful and it seems that it will not be successful until and unless the ultimate unit of matter is comprehended

---

For the discussion of the concept of massless matter, please refer to my paper on Reality and Relativity of space & time in modern Physics & Jain metaphysics.

by it. At present, numerous postulates and hypotheses are prevelent in modern science, on the basis of which the materialist scientists try to show that colour is an objective attribute whereas the idealist scientists exercise their intellectual power in proving it as a subjective quality. Such sorts of contentions seem not only to be speculative and conjectural but also contradictory to direct experience.

The Jain philosophers comprehended the essence of the ultimate unit *(the paramanu)* of matter through the perfect transcendental perception and on the basis of this, they have made a thorough elucidation of the atomic theory. Their assertion that the quartet of colour exists objectively in matter is based on their direct perception of the ultimate reality. In fact, the Jain Philosophy asserts that the ultimate unit of matter cannot be known through any kind of physical equipment.

11. Conclusions :

We can conclude the above discussion in the following six points :—

1. Eddington has accepted the existence of consciousness as the objective reality ; Jain Metaphysics too agree with it by enumerating soul under the five ultimate realities of the universe.

2. Eddington considers it impossible for the laws of Physics to know the ultimate objective reality i.e. consciousness. The Jain Philosophy also believes that soul being a non-physical reality cannot be perceived through sensory or external physical equipments. It can only be perceived through perfect transcendental perception.

3. Eddington's assertion that consciousness is a main source of all psychic, and psyhological phenomena such as perception, memory, thinking, emotion is also conceded by Jain Philosophy.

4. Though Eddington designates his philosophy as "the philosophy of physical science", it seems that his biased

idealistic views have tinted his philosophy. Hence it cannot be regarded as the Philosophy of physical Science.

5. Even though Eddington accepts the real existence of material world, his concept about its nature is not clear. He does not deny objectivity of the material bodies, all the same he believes colour etc. to be more subjective attributes. On this point, Jain Philosophy greatly differs from his view, for the former asserts matter as well as its qualities of colour, etc. to be objective.

6. The modern Physics has failed to apprehend the exact nature of the ultimate unit of matter. Thus, Eddington's Philosophy is based on the imperfect knowledge of present Physics. On the other hand, the Jain seers have made assertions about the ultimate atom only often having perceived it directly though their transcendental knowledge.

—: o :—

Antiquity And Origin Of Jain Iconography

Dr. L. M. Joshi, M.A., Ph. D., University of Gorakhpur, U. P.

Not sufficient work has been done in modern times in the domain of the study of Jain Art and Iconography. Although, much good literature has been published on the history, literature, philosophy and the moral culture of Jainism, in India and abroad, yet it appears that, the learned world has yet to realise the great antiquity and originality of Jainism. The object of the following few pages is to discuss the possible or, perhaps, probable, protohistoric origin of some basic elements of Jain sculpture and Iconography of historic times. Quite recently, Professor Dr. Hiralal Jain has drawn our attention to the similarities between the figures of "ascetics" or men in "meditative attitude" found in some seals of Mohenjodaro, and the sculpture in Padmāsana and a nude male torso of Lohānīpur, supposed to represent a Jina. He also notes the famous seal of Mohenjodaro which Sir John Marshall described as a "prototype of historic Śiva", and compares it with the image of Paśupatināth.[1] It may be noted that as early as 1932, Sir R. P. Chanda had also noticed this similarity.[2] But a detailed study of this important problem has yet to be attempted.

As is well known, the Jain tradition claims the existence of 24 Jinas ("Victors") or Tīrthankaras (lit. "Ford Makers); the historicity of 23rd Jina, Lord Pārśvanāth, the immediate predecessor of Lord Mahāvīra, has been eminently establish-

1. Hiralal Jain, Bhārtīya Sanskriti Main Jain Dharma Kā Yogadāna, Bhopal, 1962, pp. 342-343.
2. Vide: Modern Review, August, 1932, ; cf. R.K. Mookerji, Hindu Civilization, Part 1, Bombay, 1957, pp. 24-25.

ed and is admitted by modern critical scholars.[1] There is every possibility that some day in near future, we shall be in a position to prove the real historical existence of former 22 Jinas also, whose biographies and achievements are recorded in numerous ancient and medieval Jain texts, and are depicted in so many plastic productions of the land. For me however, the reality and existence of these so-called mythical Jinas is only as palpable and truthful as that of Mahāvīra or Tathāgata, the greatest teachers of Śramanology. As I have pointed out elsewhere also,[2] I strongly feel that a number of these Conquerers of Saṃsāra with all its vices, seem to have been portrayed in the most ancient plastic art of the Indian sub-continent. Not only the icons, but even the characteristic attitudes, attributes, and emblems of some Tīrthankaras are distinguishable in the art and letters of those Pre-Āryan, Pre-Vedic and the most ancient inhabitants of Bhāratavarṣa whose archeological remains have been laid bare in Punjab, Sindh, Rajasthan and Gujrat-Kathiawad.[3]

---

1. For an account of 24 Jinas and other great men of Jain tradition, see the Triṣaṣṭiśalākāpuruṣacharita, English translation published in G.O.S. Nos. 51, 77, (and others), Baroda, 1931, 1937, etc. on Pārśvanātha's life see Pārśvanātha-charitra of Vādirāja, Hindī trans. by Sri Lal Jai Chandra Jain, Calcutta, 1922 ; Uttarādhyayanasūtra, 23, S.B.E. vol. xlv, Introduction, pxxi ff ; Uvāsagadasāo, Eng. trans., A.F.R. Hoernle, Calcutta, 1890, p. 5, note ; Harmann Jacobi, "Jainism" in Encyclopaedia of Religion and Ethics, ed. by J. Hastings, vol. vii, pp. 466 ff. Dhammānanda Kosambī, Pārśvanātha kā Cāturyāma Dharma, Bombay, 1957 ; Hiralal Jain, op. cit. chapter 1.
2. L.M. Joshi, "The Greatest Factor In The Annihilation of Buddhism In India", contributed to 'Sramanology', volume 1, Sri Ganganagar.
3. See e.g , H.D. Sankalia, Prehistory and Protohistory of India and Pakistan, Bombay, 1963 ; A. Ghosh, Indian Archaeology, New Delhi, 1960 ; R.E.M. Wheeler, Early India and Pakistan, London, 1959.

But this fact has not attracted the attention of scholars. On the contrary, Dr. J. N. Banerjee doubts the authenticity of the well-known Jain tradition, according to which the practice of worshiping images of Tīrthankaras is as ancient as the foundation of the Doctrine itself.[1] It seems that this tradition can be supported by the oldest extant images discovered at Mohenjodaro. And if this be possible (we shall see below that it is possible), we shall be compelled to trace the antiquity of Jain Iconography to those distant protohistoric icons. Scholars have hithertofore taken the torso of nude male figure discovered from Lohnripur near Patna,[2] to be the earliest and the oldest Jain image. As noted above, Dr. Hiralal Jain has pointed out its almost identical counterpart exists in the remains of what is called the 'Harappan' Culture. This Harappan counterpart, made of red sandstone, which as Dr. Benjamin Rowland says, "must have been intended as a deity of same sort",[3] is unfortunately mutilated, and is without any attributes. But it is highly probable that this male torso is a figure of one of the earliest Jinas in Khaḍgāsana, standing upright posture, and sky-clad.[4] Although quite incomplete to make out any clear idea, this beautiful, youthful and sky-clad male figure reminds us of some of the marks of an icon of a Jina as prescribed by the author of the Bṛhat-Saṃhitā in these words :—

> Ājānulambabāhuh śrīvatsāṇkah praśāntamūrtiśca /
> Digvāsāstaruṇo rūpavāṇśca kāryyo Arhatam devāh //

(Bṛhat Saṃhitā, chapter 58, verse 45).

---

1. vide The History and Culture of the Indian People, vol. 2, The Age of Imperial Unity, Bombay, 1953 (2nd ed.), P. 425.
2. see The Journal of the Bihar and Orissa Research Society, vol. xxiii, pp. 130-132, and plates ; H. Zimmer, The Art of Indian Asia, vol. ii, New York, 1955, plate 244.
3. Benjamin Rowland, The Art and Architecture of India, 2nd ed. Penguin Books, 1959, p. 15, plate 2.
4. See Ancient India No. 9, 1953, Plate xxiiib.

Jain texts of early medieval date, such as the Abhidhāna Chintāmaṇi, the Triṣaṣṭiśalākāpuruṣacharita, and others contain details concerning the individual Jinas, their iconographic features, special symbols, associated animals, and the attending lesser divinities. Some older texts like the Samavāyāṅgasūtra, also contain important notices of cognate subjects, ofcourse, with a difference. From these texts we gather that bull (vṛṣabha) is the symbol or emblem of Ṛsabhanath, the Ādi Guru, elephant that of Ajitanāth the second Teacher, the rhinoceros that of Śreyāṃśa, the 11th Teacher, buffalo that of Vāsupūjya the 12th Teacher. monkey that of Abhinandananātha the 4th Teacher, snake that of Pārśvanāth and lion that of Mahāvīra. All these creatures, to wit, the bull, elephant, rhinoceros, buffalow, monkey, snake and the lion, are depicted in the Indus seals, some in association with anthropomorphic icons, and others in various situations. The fact that those very animals, which have been receiving veneration from devout votaries of Jainism, Buddhism and Hinduism throughout the historic times, are depicted and perhaps deified already in the fourth or the third millennium B. C., naturally attracts our attention. And one important result of these observations is that these respected animals are found associated for the first time and in the oldest antiquities of the land, with those anthropomorphic figures which can with great probability be associated with most ancient Jinas. In other words, it is possible to say without any fear of contradiction, that the animal symbolism of Jain iconography, which plays an imdortant part in Jain art and literature of historic epoch, is as old as the third millennium B. C., if not older still. The very famous steatite seal from Mohenjodaro, discovered by Dr. E. Mackay, studied and illustrated by Sir John Marshall, in his great work on Mohenjodaro and the Indus Civilisation, and popularised by the latter as a "prototype of historic Śiva",[1] bears the realistic figures of four important and sacred animals, grouped around a curious person who is seated in a very difficult ascetic posture on a pedestal. Following Sir Marshall, most

1. John Marshall, Mohenjodaro and the Indus Civilization, vol. 1, London, 1931, Plate xii, 17, pp. 52-54.

scholars take this figure as that of a Hindū God, Śiva, also called 'Trimūrti' (three-headed), and 'Paśupati' (lord of beasts). It appears that there are not three, but four faces of this Tapasvīn or Śramaṇa in samādhi, but only three are visible to us. The celebrated so-called "Lion Capital" (I say so-called, because it is a Dharma Chakra Capital, and not a lion capital), which crowned the Sārnāth copy of Aśokan monolithic Pillar, and which now adorns the National Emblem of the Indian Republic, is an instance, where there are four lions facing the four cardinal directions, but only three are visible to the onlooker. There are not only four faces of this ancient Teacher of Ahiṃsā, if I may be allowed to use this word in that distant context, but there are four animals also, a lion, an elephant, a rhinoceros, and a buffalo. Thus the symbolism of the four faces becomes more intelligible. We see the four faces and four animals in this picture, and we recall the four cardinal directions, the four ethical precepts associated with Lord Pārśvanāth and his predecessors, the four degrees of dhyānās, four categories of mahāpuruṣas, and etc. As if to negate its Śivaite character, the artist of Mohenjodaro has not depicted nandi (bull), the dear and tradional mount and emblem of Śiva, while all the animals pictured, have a manifest connection with the Jinas. The elephant, the buffalo, and the rhinoceros are, as noted above, the emblems of Ajitanāth, Vāsupūjya, and Śreyāṇśanātha respectively ; the lion has a very close relation with Jinas, especially with Mahāvīra as also with Buddha. But in symbolic scene under discussion, the presence of a lion is perhaps more than incidental. It seems to suggest that in the forest abode of that 'Victor' who wears four faces, even a lion becomes affable and non-violent, and there is an ideal peace and co-existence, things which has become so urgent but so scarce in modern times. I venture to make one more suggestion ; the object on the breast of this figure, taken to be a kavacha by Sir Marshall, may be considered as an original form of Śrīvatsa, a mark traditionally associated with Śītalanāth and which is usually placed at the breast in tradition.

There is yet another and more important figure, in the

artistic remains of Mohenjodaro. This is illustrated by Sir Marshall on Plates exvi, fig. 29 and cxiii, 11, of the said work. This small faience sealing displays an ascetic in an attitude of meditation, and the ascetic is flanked by serpents (nāgas) in reverential posture, with arms uplifted. It is quite possible that this figure is also of an ancient Jina. Pārśva-nātha, whose characteristic emblem is a serpent or nāga, is often sculptured with a serpent-hood. One such figure is preserved in the Mathurā museum.[1] The connection of Nāgas with Jinas is too well known.

Among the eight auspicious signs, the aṣṭa-maṇgalas, of the Jain iconography, the earliest traces of at least four signs are to be recognised in the letter-symbols of the script of Harappan culture. These are svastika, yugma-mīna, and kalaśa, the prototypes of which seem to be really existent among the pictographs and geometrical patterns of the oldest but enigmatic script of our country.[2] Likewise, there are many letters in these inscriptions which resemble a crescent on ardhachandra, a trident, a goat, a caitya, and a leaf of ficus religiosa or pippal.[3] That the pippal tree was a sacred tree in Pre-Āryan protohistoric India, is admitted by all scholars, and its specially religious character in Jainism and Buddhism and also in later Hinduism, is too well known. In early Buddhist art and iconography the Bodhi-Tree is the standard symbol of Buddha.[4]

---

1. V.S. Agrawala, Catalogue of the Mathurā Museum, Journal of the U.P. Historical Society, vol. xxiii, 1950, p. 61 ; there are numerous examples of this form in India, e.g. see H. Zimmer, op. cit. vol, 1, Plate B2b/c.
2. See John Marshall, op. cit. vol. 2, article on The Indus Script by Lagdon ; B.M. Barua, "Indus Script and Tantric Code", in B.C. Law Volume, part ii, ed. by D.R. Bhandarkar and others, Poona, 1946, pp. 461-467 plates i-v.
3. B.M. Barua, op. cit. plates iii-iv.
4. vide I. Fergusson, Tree and Serpent Worship, 2nd ed. 1883 ; A. K. Coomaraswamy, Elements of Buddhist Iconography, London, 1935.

Then, there are other figures of several sky-clad persons, standing in upright postures, extant among the remains of Mohenjodaro, which are very near to their historical plastic counterparts, such, for example, as are to be seen in the Jain rock-cut sanctuaries of Ellorā and a Tīrthankara statue near Dānvulapada, in Madras.[1]

It therefore stands to reason, in view of the above pieces bearing on Jain sculpture and iconography, that a number of fundamental elements of Jain icons and their symbolism are of greater antiquity than a assigned to them by our modern scholars, and may be supposed to have originated in the art and aesthetics of the Pre-Āryan Bhāratīya culture. We may also note in this context the well known and much debated references in the Ṛg Venda, to the Śiśnadevas, probably sky-clad (naked), and apparently despised by the Vedic priests.[2] The references is perhaps to the nude icons, or to sky-clad śramaṇas, the ascetics who practised austerity and were experts in contemplation, and who may have been wandering sky-clad. In historical times also the Jains were most probably the first to produce the images of their revered Teachers. We shall not be far from truth to maintain that the ancient Indians learned the production and veneration of images and icons of divinities and deified sages from the Jains. The famous Hāthīguṃphā Inscription of king Khāravela of Kaliṅga, datable in the first century before Christ, claims to have brought back from Magadha an image of a Jina, which had been taken away by a king of the Nanda Dyanasty, three hundred years before the time of

---

1. See B. M. Barua, op. cit. plates, and compare with V.A. Smith, History of Fine Art in India and Ceylon, Oxford, 1911, figure 110, p. 157, and H. Zimmer, op. cit., vol. ii, plate 245.

2. Ṛg Veda, vii, 21.5 ; and x, 99.3 ; A.B. Keith, Religion and Philosophy of the Veda and the Upanisads, vol. 1, H.O.S. 31., 1925, p. 75, takes them to be the "phallus worshippers", and this is also the view of many other scholars too, but see Hiralal Jain, op. cit., p. 342.

Khāravela.[1] This fact thus points to the existence of Jain icons in the first half of the fourth century B.C. The male torso from Lohanīpur near Patna, identified as an image of a Jina, as has been referred to above, is made of stone with distinct polish characteristic of the Aśokan monuments ; it is thus placeable in the third century B.C., probably in the reign of Emperor Aśoka.[2] The Yakṣas, so popularly worshipped especially by the ancient Jains and Buddhists, and subsequently also by the Hindūs, are among the earliest semi-divine and and semi-human beings to be sculptured in India. A large number of these Yakśas and Yakśinīs, discovered from several sites of Uttar Pradesh, Madhya Pradesh and Bihar, are assignable to the third century before Christ.[3]

There seems to be no doubt as to the origin of ɿhe Buddha image from these ancient anthropomorphic icons of the Jinas and Yakṣas.[4] That the images of Buddha and those of Jinas in Padmāsana, are very close and nearly akin, seems to be obvious. Although there is a very big gap between the icons of Mohenjodaro and Harappa, on the one hand, and those of the age of the Nandas and the Mauryas,

---

1. See R.D. Banerji, in Epigraphia Indica, vol. xx, p. 74 ; D:C. Sircar, Select Inscriptions, vol. 1, Calcutta, 1942, p. 206, note 1.

2. R.P. Jayaswal, "Jain Images of the Mauryan Period", I.B.O.R.S., vol. xxiii, 1937, pp. 130 ff. and plates.

3. See A.K. Coomaraswamy, Yakshas. 2 parts, Washington, 1928-31 ; V.A. Smith, op. cit. ; V.S. Agrawala, op. cit. Stella Rramrisch, Indian Sculpture, Calcutta, 1933 ; John Marshall. The Monuments of Sānchī, 3 vols. Delhi, 1940.

4. See A.K. Coomaraswamy, "INDIAN ORIGIN OF THE BUDHA IMAGE", J.A.O.S., vol, 46, 1926 pp. 165 ff ; U.P, Shah, "Yaksha Worship in Early Jain Literature", Journal of Oriental Institute, vol. iii, 1953 ; V.S. Agrawala, 'Pre-Kushana Art of Mathura', J.U.P.H.S., vol. vi. 1933.

on the other, and there is not a single male sculpture belonging to this artistically dark period, yet this negative argument at a stage when Indian Archeology is still in its infancy, and when numerous ancient sites are still awaiting exploration and excavation, can not or, perhaps, should not prevent us from tracing the germs of Jain images and their iconography to these most ancient sculptures of Bhāratavarṣa.

—o—

JAINISM AND BUDDHISM

Dr. JYOTI PRASAD JAIN

Indian soil has been, almost since the very dawn of human history, best suited to the growth of spiritual thinking, philosophical speculations and religious systems. And if it stands unique in the world for her achievements in these spheres it does so, apart from Brahmanism, mainly on account of Jainism and Buddhism.

These two are the living representatives of that ancient current of Indian culture which is known as the Śramana and which is in its origin purely indigenous, non-Vedic or non-Brahmanical, and perhaps non-Aryan and even pre-Aryan too. The Buddhist legends speak of the four previous Buddhas who had lived prior to the appearance of Śākyamuni Gautama, the Buddha, who is, however, unanimously regarded to be the real founder of Buddhism as a religious system and who lived in the sixth-fifth century B. C. The Jains claim for their religion a far more venerable antiquity and assert that twenty-four Tīrthaṅkaras (ford-finders or expounders of religion) appeared at intervals and preached the true religion for the salvation of mankind, and that Ṛṣabha was the first of these finders of the path. Since he finds mention in the *Rigveda* and *Yajurveda* and in a number of Brahmanical Puranas, as well as the Buddhist *Dhammapada*, *Satasastra* and *Nyaya-Bindu*, modern scholars find themselves reluctant in denying his existence notwithstanding the fact that his precise time is not easy to assess. Ṛṣabha's son was Bharata who is said to have been the first universal monarch and from whom this country is said to have derived its name. The twentieth Tirthankara, Munisuvrta, is said to have been a contemporary of king Rāmachandra, the hero of the *Ramayana*, and the twenty-second, Ariṣṭanemi, was a cousin of Krishna Vāsudeva of the *Mahabharata* fame. Some non-Jain scholars are, however, generally inclined to regard these

early Jain Tīrthaṅkaras as 'dim shadowy figures, wrapped up in mythology', but no doubt is now entertained as to the penultimate Tīrthaṅkara Pārśvanātha's being a real historical person. He lived in 877-777 B.C. and was a Kṣatriya prince of Vārāṇasi. Vardhamana Mahāvìra (599-527 B.C.), the Nigantha Nātaputta of the Buddhist texts was the Jain Tìrthaṅkara who reformed the creed, gave it its final shape and reorganised the fourfold order of Jain monks, nuns, laymen and laywomen. He was a contemporary of the Buddha and was like him a Kṣatriya belonging to eastern India.

In fact, as Jarl Charpentier observes, Jainism "represents, probably, in its fundamental tenets of the oldest modes of thought known to us, the idea that all nature, even that which seems to be most inanimate, possesses life and the capacity of reanimation ; and this doctrine the Jains have, with inflexible conservatism, kept until modern time". Similarly, in view of some of the peculiar tenets of Jainism another scholar, Dr. A. N. Upadhye, has advanced the postulate of a 'great Magadha religion, indigenous in its essential traits, that must have flourished on the banks of the Ganges in Eastern India long before the advent of the Aryans into Central India'. It is this stream of ancient Indian culture and religious thought which is known as the Śramaṇa and which has been quite distinct from and independent of the only other important stream, usually called the Brahmana or the Vedic. The chief supporters of the former were the Kṣatriyas or warrior classes while those of the latter were the Brahmanas. And it is this ancient Sramana stream of Indian culture which motherd and nursed the so-called sister ceeeds, Jainism and Buddhism. It is also very likely that prior to the rise of Buddhism in the sixth century B.C. what is now known as Jainism had been, if not the only, the principal representative of that stream. The Niganthas (Jains) are never referred to in the Buddhist texts as being a new sect, nor is their leader Nātaputta (Mahāvīra) spoken of as the founder of that sect, whence scholars like Jacobi have plausibly argued that the real founder of Jainism was much anterior to Mahāvīra and that this religion preceded Buddhism. The great Buddhist scholar Prof. Rhys

Davids also says, "The Jainas have been an organised community all through the history of India from before the rise of Buddhism down to the present time".

There is also no doubt that the Śramaṇa culture emerged as a world force only after the reformation of Jainism and the rise of Buddhism about the sixth century B.C. It was a cardinal epoch in human history, an age of extra-ordinary intellectual and spiritual unrest. The entire world atmosphere was electrified by a wide-spread awakening. Confucious and Lao-tse in China, Zoroaster in Persia, Moses in Palestine and Pythagoras in Greece promulgated their teachings about this time. In India, in the Brahmanic fold if on the one hand Vedic ritualism was being made more elaborate, obtruse and rigid, on the other the Upanishadic spiritualism, probably under the influence of the Śramaṇas, was sounding an anti-Vedic note and exploring the nature of soul and Brahma. The six sistems of traditional Brahmanical Philosophy also began to be evolved about this time. Then there were the materialists Lokāyatas or Chārvākas who believed neither in soul nor in the life before or after death. This was the time when the Śramaṇa world was on the basis of their traditional belief anxiously waiting for the appearance of Tīrthaṅkara or Tirthika. The bloody sacrifices, the pretensions and caste-exclusiveness of the Brahmanas, the inferior status allotted to women, the exclusion of the so-called lower-castes, who formed the bulk of the masses, from the benefits of active religion, inequity and injustice were galling to the people in general and had thus further prepared the ground for new doctrines to germinate. In fact, there was in that age an extra-ordinary impulse shown in the rise and development of new theological and philosophical ideas. Many ardent spirits were unusually active in the quest of truth, and the chief centre of this ferment was Magadha, including part of Kosala, where the Brahmanic influence was not yet so deep or potent. A host of teachers roamed about the country propagating their views through which they claimed to solve the obtruse problems of soul and God, help in escaping from the endless misery of the boundless cycle of births and deaths and make life and living happy. According to the

Buddhist tradition there were thus 63, and according to the Jain tradition 363 different sects or schools prevailing at that time. The most important of these teachers, or the so-called Tirthikas were Pūraṇa Kassapa, Maṅkhali Gosāla, Ajit Kesakambalin, Pakudha Kāchchayana, Sanjaya Velatthiputta, Nigaṅtha Natputta (Mahāvīra Jina) and Gautama Śākyaputta (the Buddha). Evidently they all belong to the Śramaṇa fold and primarily aimed at reforming the beliefs and practices of this system while incidentally they preached in a spirit of most conscentious and determined contradiction against the sanctity of Vedic lore, the sacrificial prescriptions of the ritualists, and the claims of spiritual superiority asserted by the Brahmanas. Most of these numerous schools, which sprang up or were prevailing about that time, however, either died out or outlived their utility in the course of time. The two which proved strong enough to survive are Jainism and Buddhism and even today they profoundly influence the thought and faith of mankind.

Though in their inception and development both these religious systems, Jainism and Buddhism, are entirely distinct from and independent of each other, they exibit many common factors. Both of them derive from the Śramaṇa culture system and represent the great Magadhan religion of ancient India. The culmination of the one and the rise of the other coincide in point of time (i.e , sixth century B.C.) Gautam Buddha, the founder of one of the most important religions of the world, and Vardhamāna Mahāvīra, the last and greatest reformer of the Jain church, were both Kṣatriya princes lived about the same time and belonged to the same region, their field of activity was also almost indentical, and both preached in the common speech, the language of the masses, which was known as Ardhamāgadhī and which in time developed into the Prakrita of the Jains and the Pali of the Buddhists. The doctrinal terminology used by them being also in many cases identical or similar, as well as certain practices like the rainy-season retreat, the 'long and short fasts'' abstaining from eating after nightfall, etc. None of these religions accepts the authority of the Vedas, both deny the efficacy of rituals, denounce animal sacrifices performed

in the name of religion and do not believe in the creation theory or in God as a supreme being and creator, ruler and destroyer of the world. Both decry distinctions based on birth and both uphold the effect of Karma, or one's own actions, upon an individual's future life. Above all, both of them lay the greatest emphasis on the principle of Ahimsa, non-violence on non-injury to life, and incidentally therefore advocate vegetarianism.

It is true that the Jains are probably the only people in the world who take the law prohibiting killing quite seriously and are strict vegetarians. The very first condition of initiation into Jainism even for a layman is the giving up altogether of eating meat and drinking wine. Many Buddhists, on the other hand, are meat-eaters and they seek to find sanction for doing so in their scriptures. It is said that General Sīha, a Lichchavi prince of Vaiśālī who was Jain and a follower of Mahāvīra, became under the influence of the Buddha a convert to Buddhism and a liberal supporter of the Buddhist monks whom he kept constantly supplied with 'good fresh food'. When it was noised abroad that the bhikṣus were in the habit of eating such food the Tīrthikas (other Śramaṇa teachers) made the practice a matter of angry reproach. According to the Vinaya text, it was after a breakfast given by Sīha to the Buddha and some of the monks, for which the carcase of a large ox was procured, that the Nirgranathas (Jains) reviled them. At this the Buddha instituted the new rule declaring fish and flesh 'pure' (that is, lawful) in the three conditions—they were not to eat the flesh of any animal which they had been put to death for them, or about whtch they had been told that it had been killed for them or about which they had reasons to suspect that it had been slain for them. The animal food thus said to have been permitted by the Buddha himself came to be known as the 'three pures' or 'three pure kinds of flesh', tersely described as 'unseen, unheard, unsuspected'. Later on two more kinds are said to have been declared lawful—flesh of animals which had died a natural death, and that of animals which had been killed by a bird of prey or other savage creature. Still later, the number of kinds of 'pure flesh' was increased to

nine, and a professed Buddhist was at liberty to use them as food.

In this connection it will be interesting to note that the Buddha's personal teachings were originally divided into two categories—"gradual or progressive" and 'instantaneous'. The former is said to have contained all those scriptures which incorporated the Buddha's early teaching and the rules and regulations which constituted the Vinaya-piṭaka. In these he is said to have suited his sermons and precepts to the moral and spiritual attainments and requirements of his audience, imposing mild restrictions as regards life and conduct on those who were low in the scale. At a later period, he is said to have taught higher truths and inculcated a stricter purity and more thorough self-denial. Thus, in the beginning he seems to have sanctioned the use of flesh as an ordinary article of food by his own example and implied permission. But when he saw that the monks were misusing the sanction by begging for beef and mutton, asking to have animals killed for them, and eating as daily food flesh which should only be taken in exceptional circumstances, he imposed the above-mentioned restrictions. The 'instantaneous teaching', on the other hand, were not guided by circumstances and environments. They revealed sublime spiritual truths to be comprehended and accepted at once by higher minds, taught for these a morality absolute and universal and instituted for the professed desciples the rules which were to be of eternal and unchanging obligation. The 'gradual teaching' is taken to be co-extensive with the Hīnayāna system whereas the 'instantaneous' with the Mahāyāna the scriptures of which prohibit absolutely the use of flesh of any kind as food particularly by the Buddhist monks. According to them animal food retards the spiritual developemet of one who eats it and entails evil consequences in the lives to come. The result of this teaching was that some Mahāyānist Buddhists have been quite strict in abstaining, not only from all kinds of flesh food, but also from milk and its products. The followers of Devadattā, a cousin and rival of the Buddha, the Ājīvikas of Mankhali Gosāla and several other Śramaṇa sects were also strict vegetarians. This

prohibition of flesh food, which apart from other defects, must necessarily involve destruction of life was based on the grounds of universal compassion and the doctrine of Karma. And the Buddha seems to have been fully conscious of this thing and accordingly preached Ahimsa without reservation, at least in theory.

If there are these noteworthy and obvious common features between Jainism and Buddhism, there are some deep rooted differences too between the two systems. Their approach towards certain fundamental problems, such as the nature of soul, conceptions of deliverance and salvation and some other metaphysical, ontological and epistemological beliefs are widely divergent. The pre-Mahāvīra traditions preserved by the Jains also do not tally with the pre-Buddha traditions preserved by the Buddhists. If the Jains lay particular stress on severe austerties and penances as the means to purifying and perfecting the soul, the Buddha recommended the middle path, avoiding the extremes of sensualism and asceticism. Lastly, Buddhism very early exhibited a tremendous energy for proselytisation and spread, within less than a millenium of its founders nirvana, over the greater part of Asia and succeeded in covering the majority of the then civilized and semi-civilized population of the world, but could not prevent itself from almost total extinction from the land of its birth. Jainism, on the other hand, never showed much large scale proselytising activity, and seldom penetrated beyond the frontiers of the subcontinent, but here it deffused in all parts of the country and in all classes of the people. For a considerable time it came to exercise great influence and stood as a formidable rival to Hinduism. Moreover, it has continued to be a living force in this country to this day.

Jainism, or the religion of the Jains who are the followers of the Jina (the conqueror), an epithet used for the Tīrthaṅkaras (including Mahāvīra), has also been known as the Śramaṇa, Nirgrantha or Ārhata dharma (or creed). In its essential nature Jainism is an ethical religion *par excellence*, and aims at the individuals salvation which

consists in the freeing of oneself from bondage of Karma by the fullest unfolding of the perfection inherent in the human soul. Like Buddhism it believes in the moral perfe-tion of man and like it, too, it displays an undercurrent of spiritual isolationism or loneliness of the soul on its upward journey. As soon as one attains Keval-jnana or absolute knowledge, he becomes a Kevalin or Jina. Cleansed of Karmic matter, and thereby detached from bondage this perfect one finally ascends to the summit of the universe, isolated yet unlimited and all-pervading in its omniscience. This is the final stage of infinite knowledge, power and bliss and the ultimate goal of all religious pursuits, according to Jainism.

The universe is believed to have been made up of two principal categories—The Jiva (animate substances) and the Ajiva (inanimate substances), the former being the enjoyer and the actor, the latter the enjoyed and the acted upon. It is the concourse and the action and interaction of these two which keeps the world going. By its association with matter and material forces the soul has since ever engulfed itself in *sansara* (or the world becoming, the endless round of births and deaths) which is full of pain, suffering, anxiety, struggle, hatred, despair, etc. But when the individual becomes conscious of the dynamism inherent in himself he with heroic fortitude launches upon the path of fresh endeavour and struggles for freedom, for liberation from the Karmic bondage, and thus turns what was the vale of tears into the vale of soul-making. The journey's end is reached when the soul has purged itself of all impurities alien to its essential nature, when it has freed itself entirely from all Karmic fettres and thus has attained the sublime, transcendental solitariness and absoluteness of the Kavalin.

The religion preached and propagated by such Kevalins (The Jain Tirthankaras) is not only predominately humanistic, it is full of pragmatism because of its workability and feasibility in action. Even knowledge is not to be pursued for its own sake, but it is to be pursued so as it may serve the chief objective of liberating the soul. 'Do not live to know, but know to live', is the maxim. But in order to

acquire the capability of comprehending the nature of things including the self, one has first to clear his mind of all passions and emotions like infatuation, delusion, attachment, aversion, hatred, greed, anger, pride and deceitfulness, and above all, the lusts of the flesh. All the penances, austerities and bodily discipline are practised with the sole aim of making the soul master of the body. The pampered body can never carry the soul across the ocean, that is, Samsara.

To the Jains 'man is the measure of all things'. He is more favoured than the gods, for no god can attain *nirvana* without being born as a man. Man himself is therefore God in the making, no extra-cosmic being need be worshipped or believed in. Perfection and bliss lie inherent in oneself waiting to be made manifest. That though evil exists and is very real, it can be overcome by one's spiritual force, is the eternal hope that enlivens human efforts for liberation. The pursuer of the path should aim at and exert himself for acquiring the capacity to overcome the limitations of bodily nature by the aspirations of his spiritual nature. Even the worship of the Jinas or Tīrthaṅkaras is recommended, not because they can help the worshipper in or hinder him from working out salvation, but because of the inherent power of all forms of true worship to elevate the soul of the worshipper, just as giving away in charity alone is good for the giver.

The path to liberation or Moksha consists in the Triratna or Three Jewels : Saṁyak-darśana (Right Faith), Saṁyak-jnāna (Right Knowledge) and Saṁyak-chāritra (Right Conduct), the first of these implying profound faith in Deva (the liberated souls), Śāstra (the scriptures expounded by the Kevali Jinas) and the Guru (Nirgrantha ascetics). The four *saranas* or places of refuge are the Arhaṁttas (Jinas or kevalins), the Siddhas (liberated bodyless pure souls), the Sadhus (Nirgrantha ascetics) and the Dharma as expounded by the Kevalins. *Pramoda*, *maitri*, *Karunya* and *madhyasthata* are the four noble aspirations. The five most worshipful personages are the Arhaṁtas, Siddhas, Ācharyas, Upādhyāyas and Sādhus. The five sins to be shunned and

abstained from are *himsa* (injury to life), untruthfulness, stealing or misappropriating other person's property, sexual indulgence, and limitless desire for the acquisition of possessions. And the corresponding five merits to be cultivated are ahimsa, truthfulness, honesty, celibacy and possessionlessness. The ten-fold *dnarma* consists in forgiveness, humility, simplicity, truthfulness, cleanliness, self-control, penance, charity; non-covetousness, and celbacy.

An important feature of the Jain philosophy is its doctrine of Syādvāda or Anekāntavāda according to which it is impossible for a person to have absolute incontrovertible knowledge of reality. He can know it only from his own perspective or point of view and therefore must recognise that it is not the whole truth. When one realises that reality has many aspects not all of which are known to him, he is apt to grow tolerant of other people's point of view. Two seemingly contrary statements may be found to be both true, if we take the trouble of finding out the two points of view from which the statements were made. This Syādvāda of the Jains has not only made them tolerant of other religions and philosophies, it also tends to make them habitually tolerant in their general attitude towards their fellow beings.

Thus pragmatic humanism, a practical ethical code, spiritual aspiration, equality and fraternity of all souls, an elaborate and scientific doctrine of Karma, tolerance of outlook, optimism, and Ahimsa aiming at peaceful co-existence of all living beings, are the chief characteristics of Jainism which is so close to Buddhism in many respects as no other religious system is.

The Jains of India usually possess a considerable knowledge about Buddhism, its doctrines, its history and its culture. But the Buddists, who mostly inhabit countries outside India, are generally ignorant about what is Jainism, perhaps most of them do not know of its existence even. This brief comparative study of these two almost sister creeds, it is hoped, may arouse an interest in their followers to know more of each other and to establish a better understanding between them.

———

Spread And Development Of Jainism In Orissa.

[SRI SADANANDA MISRA.]

Origin of Jainism goes back to hoary antiquity. Jain scholars go beyond Vedic age to trace the origin of Jainism. The first soul Philosophy of the world was a gift of Risabha Deba, the first Jain Tirthankara. He being the source of soul Philosophy (Atma Vidya) was afterwards regarded as Ādinath (Vide : Kalpa Sutra 194). But modern historians do not go beyond Pārsvanāth and regard all other 22 Tirthankara as mythological figures. Jainism, being a pre-vedic religion has casted considerable influence upon the other religions which preceeded it. Most probably Ahimsā of Budhism and Pātanjali's Yoga has had its origin in Jainism. Risabha Deba of Bhāgabata is also identified by some scholars with the Ādi Tirthankar of Jainism. Pandit Nilakantha Das, an eminent scholar of Orissa holds that the word 'Jagannath' the name of the presiding deity of Puridhām has a Jain origin.

Though Jainism with its rigid austerity and stern rules of self discipline unlike Tathāgata Buddha's middle path could hardly earn popular favour in India and further could not cross the frontiers of ancient Indian teritory and still it has an uniqueness of its own. Especially it has at present, a message for the modern world which is disintigrating fast yielding place to moral nilisim. That is the conception of Ahimsa of Jainism. If this panacea is successfully administered to the sick persons of the modern world, then it will not be irrational to anticipate that the enimity existing between persons and countries to-day shall be instantly extirpated. The fall of mankind in near future into an precipice of ignoble destruction can be averted if the doctrine of Ahiṃsa is closely followed by all to-day.

Jainism in Ancient Kalinga :

Though modern Orissa State to-day has only a handful of persons belonging to Jain order mostly migrated from Rajasthan and Jainism seems non-existence here still has a glorious past in Ancient Kalinga. The last two Jain Tirthankars troded this holy land with their mission and found responses from all quarters of ancient Kalinga. Late Nagendra Nath Basu holds that Parswanāth came from Tamralipti Port to Kalinga and arrived at Popakatak village which is identified with the Kupari village in Balasore District of Orissa. It is needless emphasise that many persons were attracted by his religion and were consiquently converted. Mahabir, the last Tirthankar was invited to come to Kalinga by the then King of Kalinga for the propagation of his creed. "Tato Bhagabam Tosalim Gao" of Abasayak Sutra substanciates this view. Dr, Jayaswal further re-inforces this view, with the help of the 14th line of Hathigumpha rock inscription of Kharvela where the sojorn of lord Mahabir in Kumari Parbat is clearly hinted. Dr. L. N. Sahu surmises that the mention of the word "Sramana" in the 13th anuśasana of Asoka proves that Jain Sramanas were abandantly found in Kalinga at the time of his invasion. All these evidences prove beyond doubt that in ancient Kalinga Jainism gained foot-hold to be sprouted in the regime of Kharvela which preceeded it.

Jainism and Kharavela :

Khāravela, a powerful and accomplished ruler of ancient Kalinga was the third King of the Chedi dynisty who ruled some time during 1st century B.C. His famous Hathigumpha Rock Inscription is the only source of evidence to prove that he was a Jaina and enthusiastically patronised Jainism as Aśoka patronised Budhism. His date is in a highly controversial topic. Scholars are not yet unanimous regarding it. Late Dr. L. N. Sahu taking 'Tibasa Sata' as 500 years has arrived at the conclusion that he flourished in 1st century B.C. which seems most convincing.

In the 13th year of his rule, he excavated in Kumari

Parbat (Udayagiri and Khandagiri) some hundreds of caves for Jain ascetics. Inspite of his eclectic attitude and generosity towards all other sects, he was avowedly a Jain. He was a champion of his faith and made in his state religion and actively norished it as it had then become moribund.

The beginning of his incription with reverence to the Jain Arhatas (Namo Arhananam) and Jain symbols such as Swastik and Baddha Mangala prove beyond doubt that he was a Jain. Though he did not send Jain missioneries to other countries, he did much in his own state to uphold the causes of his faith. Ofcourse it was the most congenial atmosphere for the spread and development of Jainism. It was the golden age of Jainism in Orissa when thousands of Jain Sramanas ran to Kalinga to reside in the honey-combed Kumari Parbat. Enjoying the royal patronage of Mahameghabahan Kharvela, Jainism saw one of its most glorious day. The next phase of Jainism of Orissa was that of decadene despite of patronage of Murunda Kings during 3rd and 4th century A.D.

Later Petrons of Jainism :

Never after Kharavelas regime Jainism got a patron like him. The murunda kings those which invaded Orissa are considered as Jains. Dr. N. K. Sahu identifies Murunda invasion with the Raktabahu invasion of 'Madalapanji', the chronicle of Jagannath Temple. The excavation of Sisupal Gada near Bhubaneswar rose light on the regime of the Murunda Kings. Dr. Altekar holds that they were Jains. History is silent as to what development Jainism saw during this age. Though Jainism had patrons still the development was not tangible. In the post-Maurya period in the regime of Ganga, Sailodbhaba and Bhauma dynisty Jainism declined.

Jaina Shrines of Orissa :

Of the Jain shrines of Orissa the twin hills of Khandagiri and Udayagiri are most important and attractive, located at a distance of six miles from the west of Bhubaneswar Railway

Station, and approachable of good motorable roads, these two hills attract thousands of visitors every year. There are some more than thirty important caves built for the retreats of the Jain ascetics, on the top of these hills. There are two Jain temples of modern construction on the top of Khandagiri. In the central temple a noble image of Risabhanatha is worshiped. In the other side of temple there is a huge structure of nude Parswanath in black stone which is recently installed. Jain devotees from different parts of India and other visitors from all over the world frequent this place to have a sight of the ancient place of glory of Jainism. The sanctity and seclusion of the place is entirely lost at present due to connecting motor roads and frequent haunt of visitors.

The second famous Jain shrine of Digambar Jains is at Cuttack. There are some images of Jain Tirthankaras including Risabhanath and Parswanath. Most of the images belong to medieval age. The Jains dwelling in the city and other devotees in different places frequent the temple. A Jain-Nibas is newly constructed there in the temple terrace to accomodate casual visitors.

Besides these there were many Jain shrines in different parts of Orissa which are demolished, transformed and often become extenct in course of time. Jain images traced from different parts of Orissa bears testimony of this.

Impact of Jainism on the life and culture of the people of Orissa :

As Jainism one day reached its apex in this land, it is very natural and reasonable that some of its customs and practice must have influenced the other creeds and the society which were living closely. The Jain customs and practices are so inextricably and homogeneously intermixed with the life and culture of Orissian People that it seems a very hard and formidable task to trace and detect them. A careful scrutiny is sure to reveal that some festivals and customs of Orissa have their Jain origin. Most probably Snanajatra of Jagannatha and Sivachaturdasi had their Jain origin. Dr. L. N. Sahu has shown that the Baula story and Padmatola song

has their Jain origin. Mahimadharma, a minor sect of Orissa and Nathdharma a sub-branch of Hinduism seem to be evolved form of Jainism. These evidences show that Jainism had casted considerable influence upon the culture of Orissa.

Development of Jainism in recent past :

In the last few decades Jainism has undergone some development. Jain shrines which were receiving scanty attention previously have now become attractive and people irrespective of cast and creed are frequenting these places. Researches on the history of Jainism in Orissa has undergone rapid development during these years. Jains residing in Orissa have formed an Association in a organised way to bring together the persons interested in Jainism and Jainalogy.

The Present Scene :

Jaina movement in Orissa at present is not so active like that of West Bengal, Bihar and U.P. as one would expect. Nor a single Jain Muni comes here to like here in Chaturmas to propagate Jainism. The Terapanthi Swetambar Mahasabha should take proper initiative to sponser movements in Orissa and thereby upon the cause of Jainism.

Lastly let me repeat that the sick world of to-day must focus its attention on this religion and avidly crave its doctrine of Ahimsa to avoid an impending neuclear hold-caust and the present exponders of Jainism must take pain to interpret Jainism in its correct perspective.

—o—

ANTI-MATTER

[Ramchandra Jain, Advocate]

The problem of Sprit and Matter is eternal. It was a real problem when the mankind based its activities on its inner-effortiveness. This state of human society came to complete abnegation by the third century B.C. Then an era of intellectual quibbling set in. Brain, rather than soul, exercised itself the most. Thinking became unreal, imaginary and idealistic. Life divorced of reality became the ideal of intellectual pursuits. The age of science opened for us new dimensions of knowledge. Life rooted in earth began to attract the new seers. Science gave us phenomenal knowledge of external reality. Outer-effortiveness became the foundation of the human activities in our present age of science.

The basic problem of Sprit and Matter is : Whether these are two independent substances or one projected out of the other. The one view is that spirit alone exists ; Matter is only the external manifestation of spirit. Śankara is the best example of this spiritual monism. The different religions of the world ; the Brāhmaṇism, Judaism, Christianity and Islam emphasise one or the other aspect of this intellectual brainry but very far from approaching Śankara's Advaita. Śankara is the highest stage of brainy achievement. The other view is that Matter alone exists ; Spirit is only the highest stage of Matter ; its most beautiful projection. Marx is the father of this Materialistic Monism. Sankara's view stands annihilated because of its total unrelation to reality ; internal or external ; by the achievements of the age itself ; the reality of irrefutable existence of Matter and its dialectical transformations. The Marxist ideology poses to base itself on the reality of scientific truths ; hence this needs analysis and right understanding.

Motion, in the most general sense, conceived as the mode

of existence, is the inherent attribute of matter. In the historical evolution of the natural sciences, the forms of motion governing non-living nature has advanced in proportion with the progress of Mechanics, Physics and Chemistry. Hence the Causa finalis is matter and its inherent motion.[1] From matter develop various kinds of physiological mechanisms. Changes in matter are always arising out of the situation caused by the self-development of a given situation. All nature is made up of processes. The living man, the corpse, death, are processes.[2] It is an eternal cycle in which matter moves, a cycle that certainly only completes its orbit in periods of time. Eternal cycle of matter in motion is the ultimate conclusion of science.[3] Mind is the mere effect of matter At one level matter is mindless, at the next, it is *minded.* Matter itself thinks when organised in a brain. Mind is a characteristic of matter at a high stage of its development.[4] There is unity and identity of matter and mind.

So far science is quite correct. Science lands itself in difficulty when it deals with life. Life is the mode of existence of albuminous substances. The organic exchange of matter is the most general and most characteristic phenomenon of life. Non-living bodies change, decompose and enter into combinations in the course of natural processes ; but in doing this they cease to be what they were. But what with non-living bodies is the cause of destruction, with albumen is the fundamental condition of existence. When the uniterrupted metamorphosis of its constituents, the canstant alternation of nutrition and excretion, no longer takes place in an albuminous body itself comes to an end, it decomposes ; that is, dies. Life, the mode of existence of albuminous substance, therefore, consists primarily in the fact that at each moment it is itself and at the same time something

---

1. Fredrich Engels ; Dialectics of Nature ; 1954 ; Pages 92, 322
2. M. Shirokov ; A Text-Book of Marxist Philosophy ; 1944 ; Pages 16, 229
3. F. Engels ; op. cit ; Pages 54, 40
4. M. Shirokov ; op. cit ; Pages 40, 10, 11

else ; and this does not take place as the result of a process to which it is subjected from without, as is the way in which this can occur in the case of *inanimate* bodies. On the contrary life, the exchange of matter which takes place through nutrition and excretion, is a self-completing process which is inherent in and native to its bearer, albumen, without which it can not exist. From this essential function of albumen, spring the characteristics of life ; Response to stimuli, contractibility, the possibility of growth and internal movement.[1] These characteristics of life are non-existent in matter in spite of its inherent quality of motion. The difference between animate and inanimate, life and non-life, thus, becomes clearer. Motion is common both to animate and inanimate objects. Life exhibits itself in internal motion while non-life in external motion. Non-life is influenced by external forces. Life is influenced by internal forces. Motion, thus, means ; change, transformation, a cycle. The inherent internal motion expresses itself in inner-effortiveness. External motion or external influences do not lead to any inner or outer effortiveness. Difference between life and non-life, hence, is that of inherent effortiveness. This makes a world of difference. Materialistic monism has not hit upon this fundamental difference and here lies its basic failure.

Materialistic monism makes a fundamental mistake. It identifies mind with spirit. Diatectical materialism does not believe in the dualism of soul and body. But it does not therefore deny the existence of mind. Materialistic monists use the words spirit and mind indiscreetly interchangeable. To them, there is no difference between spirit and mind. Then they land themselves in their self-created contradiction. They know by pragmatic experience that there are certain species of life which possess no brain, no mind. Life does exist without brain, without mind. Hence they had to make the concession that form and matter are inseparable but at the same time distinct. But they also have no belief in hylozoism or panpsychism. They do not believe that life and mind have always existed in imperceptiable degree and had only to grow

1. F. Engels ; Anti-Dubring ; 1947 ; Pages 121-124

in quantity until they are big enough to be noticed, thus emerging. It believes that they appeared for the first time at a definite period in the history of matter, and that they are inevitable consequence or concomitant of certain material patterns.[1] Materialistic monists, here, make the confusion worse confounded. If the two substances are distinct, one can not be the projection of another. This confusion has arisen out of the absence of clear understanding of the properties of form and spirit, life and mind and spirit and matter.

The causes of these confused conclusions are twofold. In their overzealousness for the so-called scientific materialism, its fathers over-valued the results of science. They fell prey to the logical fallacy of over-valuation (Ativyāpti). They made a "leap" and an unscientific leap. Science has not yet been able to demonstrate that the organic can grow out of the inorganic, the living from the non-living and animate from the inanimate. But the materialistic monists presumed, though unfounded and unwarranted and at the face of the challenge of science, that there is a transition from the non-living to the living. A living organism is something that arose out of inorganic matter.[2] Secondly, they believe in the emergance of the new substance. Science has not yet proved the Theory of Emergent Evolution. The theory of emergence may at the best be regarded as a mere possibility.[3]

The materialistic monists have a very dim conception of the substance called Consciousness. They pervesely understand it only as a category. They believe that consciousness is a process, that it develops, that it does not amount to a mechanical union of diverse thoughts and feelings. Consciousness is no lifeless miror. They consider those materialists wrong who deny the active role of consciousness and assert that it merely reflects processes that are going on in nature. Consciousness is creative, free.[4] Though experience of

---

1. M. Shirokov ; op. cit ; Pages 11-13
2. M. Shirokov ; op. cit ; Pages 318, 322.
3. J.W.N. Sullivan ; Limitations of Science ; 1953 ; Pages 104-105.
4. M. Shirokov ; op. cit ; Pages 36, 48

consciousness is not very clear to the materialists but their acceptance of the existence of free and creative consciousness points to the inherent inner working of their own consciousness, though unconsciously, towards the truth about consciousuess. By postulating some rudimentary form of consciousness even for the ultimate particles of matter, involves a sort of dualism. For consciousness is something peculiarly different from the other fundamental properties attributed to matter.[1] Consciousness is fundamentally different from matter, nay, a contradiction of matter. Matter is Anti-Consciousness.

We have now to understand the characteristics of Matter. Dialectics is the best and the greatest of all the conclusions arrived by natural science. We are indebted to Marx for extending the dialects of nature to the domains of humanistic sciences. Marxisim or communism, as we today understand it, is one single system constituted of the Marxist Economism, the Morganic Sociology and the Engelic Philosophy. Science is the very basis of Engelic Philosophy. The processes of Nature are dialectical. The basis of the dialectics of nature is law of the positive and the negative. The evolution in nature reflects itself in the evolution of a concept, or of a conceptional relation (positive and negative, cause and effect, substance and accidency) in the history of thought.[2] Positiveness and negation are the two fundamentals of the law of evolution. These two concepts of Physics are called North and South respectively in geography.

This proposition leads us to the very heart of the phenomenon of science. Science deals with matter. Matter is animate and inanimate. Scientific account of universe appears clearest and most convincing when it deals with Inanimate Matter. When we come to the sciences dealing with life, the state of affairs is less satisfactory. Many of the fundamental questions have not been met.[3] When science talks of matter,

1. J.W.N. Sullivan ; op. cit ; Page 107
2. F. Engels ; op. cit ; Pages 287, 295 (D.N.)
3. J.W.N. Sullivan ; op. cit ; Pages 125

it really means inanimate matter but it wrongly poses to deal with matter both animate and inanimate or the materialistic monists have misinterpreted the meaning of science wrongly transferring and transposing the conclusions of the Inanimate to the Animate just like the Puraṇic transferences and transpositions of Vedic men, matters and events. We now go to the very fundamental of Matter.

Newton conceived attraction as an essential property of matter Attraction is a necessary property of matter but not repulsion. This is very important ; the crux of the whole problem. This is the whole truth if Inanimate Matter is meant by concept Matter. But the materialistic monists can never forget that matter is always and constantly in motion ; hence the above statement is immediately supplemented by the statement that the essence of matter is attraction and repulsion. Where there is attraction, it must be complimented by repulsion. Kant conceives matter as the unity of attraction and repulsion. All motion consists in the interplay of attraction and repulsion. Attraction and repulsion are the basic forms of motion. Attraction and repulsion are as inseparable as positive and negative and hence the true theory of matter must assign as important a place to repulsion as to attraction and that a theory of matter based on mere attraction is false, inadequate and one-sided. Attraction and repulsion are essence of Matter.[1]

This is another big instance of the great confusion of the materialistic monists. The materialistic theory of emergence is responsible for this confusion. We find only attraction in inanimate matter. Inanimate matter does not possess the property of repulsion. Only animate matter possesses the property of repulsion. This proposition indicates that the theory of motion has also not rightly been understood by the materialistic monists. Matter is unthinkable without motion. Subject-matter of natural science is matter in motion. Nothing is eternal but eternally changing, eternally moving matter and the laws according to which it moves and changes.[2] We

1. F. Engels op. cit ; Pages 95, 323 (D.N.)
2. F. Engels ; op. cit ; Pages 93, 329, 54, 40 (D.N.)

have earlier seen that the inanimate matter in motion is due to external causes and the animate matter in motion is due to internal causes. Hence the motion in each case is conditioned by two independent, distinct and mutually opposed causes. To assign only one law of motion is total untruth. Inanimate matter in motion and animate matter in motion are governed by two contradictory laws. This fundamental truth has to be accepted by the doctors of science.

The doctors of science do, though unconsciously, recognise the existence of this problem. We have earlier noticed the utter failure of science when it deals with life, with consciousness. The scientists are very strongly in favour of the principle of continuity. There are philosophers who believe that the world is a plurality, that it is composed of things essentially distinct. The principle of continuity will probably long remain as a working hypothesis in science. It will be noted that this way of securing continuity, by postulating some rudimentary form of consciousness even for the ultimate particles of matter, involves a sort of dualism.[1] The comradeship between Science and Dualist Philosophy has been firmly well-laid. They have to further march in comradeship to discover new and higher truths of nature, that is constituted of dual substances of spirit and matter in unity. The ultimate justification of any intellectual activity is, it appears, its effect in increasing our awareness or degree of consciousness. Increase of consciousness appears, too, to have been one of the process of evolution, if we are to attribute purpose to that process. Certainly the most significant factor in the development from amoeba to man seems to us to have been the increase in consciousness.[2] The greatest truth ever spoken in our age.

The emergence of the science of nuclear physics has further much advanced our knowledge about the substratum of all matter. The particles have been classified into photons, protons, neutrons, electrons and pions and many more. We

1. J.W.N. Sullivan ; op. cit ; Page 107

2. J.W.N. Sullivan ; op. cit ; Page 175

know munus and K-Mesons. We also know six different kinds of hyperons, particles heavier than neuclons. Furthermore, to each particle there exists antiparticle, having electric and magnetic properties. The current list includes 30 in all. The existence of 30 elementary particles as the substratum of all matter is among the greatest enigma of physics. Will we ever reduce their complexity to an ultimate pattern, is a living challenge to physicists. Matter contains in itself also Anti-Matter. Matter and Anti-Matter also self-annibilate.[1] This is the greatest discovery of our age.

Science has travelled through the whole long dark night and is now standing at the door of the dawn. The light of the rising sun is in sight. Let us only accept the hypothesis of the distinct and independent existence of the substance of negation, repulsion and anti-matter as contradictory to the substance of positiveness, attraction and matter. Science and Philosophy both lead to the acceptance of the principle of dualism. I, therefore, hold, though on circumstantial evidence yet provided by science, that Anti-Matter has to be identified with spirit, soul or Ātmā.

These conclusions of science seem to have stārtling similarities with the dualistic Jaina Philosophy. Jaina Philosophy believes in the independent existence of the two substances spirit (Jiva) or consciousness[2] and Matter (A-jiva) or unconsciousness[3] eternally united. Consciousness (upayoga) is formate (Sākāra) and in-formate (Anākāra). Formate consciousness knows specific qualities of objects in desonance to common ones and hence is called knowledge (Jñana). Informate consciousness knows common qualities of objects in desonance to specific ones and hence is called Perception

1. O.R. Frisch ; The Elementary Particles ; Discovery, December 1961 Issue ; Pages 518-524.
   "Frisch has also given in this important research paper figure I depicting the annihilation of matter and anti-matter."
2. Āchārya Śri Tulsī ; Jaina Siddhānta Dipikā ; 2002 S.Y. ; Page 33.
3. Āchārya Śri Tulsī ; op. cit ; Page 61

(Darśana).[1] Spirit is parmanence. Matter is impermanence. Spirit is life. Matter is non-life. It also believes in the laws of motion (Gati), emergence (Guṇasthāna) and cycles.[2] Spirit acts as negation, repulsion and anti-matter and causes the real change in positiveness, attraction and matter. The correct persepective to understand the true nature of these laws would be to rightly understand the characteristics of spirit and matter. Spirit is consciousness : knowledge and perception ; the substance permanent with inherent movement. Spirit in motion is its inner-effortiveness. It changes when it itself or its other partner, the matter, increases or decreases, dominates or subordinates. Matter exists in space and form. Its inherent characteristics are division, disruption and disintegration. The materialistic monists, have correctly analysed the nature of inanimate matter and its highest development, the mind. But they have confused with the concepts of life, motion and emergence and hence have arrived at untenable conclusions. They have misinterpreted the conclusions of science. The socalled dialectical materialists have proved themselves to be the mechanistic materialists basing their dogma on the perverted materialistic interpretations of the conclusions of science. Materialistic monism has failed to provide hope for the truth, the reality and the mankind.

The attitude of right inner-effortiveness of spirit in relationship with movement of matter is the correct and scientific ideological attitude. I call it Śramaṇism. The Śramaṇic ideology should provide the formation of the laws of our activities-political, social and economic. The science of Śramaṇology should scientifically formulate them. They have to be consciously accepted and scientifically implemented by humanity. The only hope of humanity is Scientific Śramaṇism.

I propose the scientists and the dualist philosophers to forge an indissoluble partnership with a Saṅkalpa to redis-

1. Āchārya Śri Tulsī ; op. cit ; Pages 33, 39
2. Āchārya Śri Tulsi ; op. cit ; Pages 5, 133, 63 :
   "Living beings undergo eternal cycles due to Kārmic existences."

cover the reality of the two substances : The spirit and the Matter. If they succeed, and I do hope that they shall succeed, in establishing the identity of Spirit and Anti-Matter ; the whole of mankind shall be in eternal debt to them. The era of peace and hope, then, will set in. It shall start our Utsarpiṇi on which we so dearly cherish. The humanity has to accept this purpose and live and die for it. This is the clarion call of our Age.

—:o:—

जैन पत्र-पत्रिकाओं का परिचय

१ **सुघोषा**—प्रकाशन वर्ष ३—वार्षिक मूल्य ५)५०—भाषा गुजराती—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था मंदिरमार्गी—दृष्टिकोण वही—ठि० जीवन निवास सामे, पो० पालीताना (सौराष्ट्र)—सम्पादक श्री सोमचन्द डी० शाह—स्वामी वही।

२ **स्थानकवासी जैन**—प्रकाशन वर्ष ३१—वार्षिक मूल्य ५)२५—भाषा गुजराती—आवृत्ति पाक्षिक—व्यवस्था स्थानकवासी—दृष्टिकोण वही—ठि० पंचभाइनी पोल, पो० अहमदाबाद (गुजरात)—सम्पादक जीवनलाल छगनलाल संघवी—स्वामी वही।

३ **जैन प्रकाश**—प्रकाशन वर्ष ५२—वा० मू० ७)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति साप्ताहिक—व्यवस्था स्थानकवासी—दृष्टिकोण वही—ठि० जैन भवन, १२, लेडी हार्डिंग रोड, नई दिल्ली—सम्पादक शान्तिलाल वनमाली सेठ—मुखपत्र, अ० भा० श्वे० स्था० जैन कान्फ्रेन्स, दिल्ली।

४ **जैन संदेश**—प्रकाशन वर्ष २६—वा० मू० ७)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति साप्ताहिक—व्यवस्था दिगम्बर—दृष्टिकोण वही तथा शोध—ठि० चौरासी, मथुरा (उ० प्र०)—सम्पादक, कैलाशचन्द्र शास्त्री, जगन्मोहनलाल शास्त्री—मुखपत्र, भारतीय दिगम्बर जैन संघ, मथुरा—विशेषता समय-समय पर शोध-अंक प्रकाशन।

५ **प्रबुद्ध जीवन**—प्रकाशन वर्ष २६—वा० मू० ४)००—भाषा गुजराती—आवृत्ति पाक्षिक—व्यवस्था निःसम्प्रदाय—दृष्टिकोण निरपेक्ष—ठि० ४५।४७ धनजी स्ट्रीट, पो० बम्बई ३—सम्पादक परमानन्द कुंवरजी कापड़िया—मुखपत्र, श्री बम्बई जैन युवक संघ, बम्बई।

६ **सम्यक् दर्शन**—प्रकाशन वर्ष १५—वा० मू० ६)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति पाक्षिक—व्यवस्था स्थानकवासी—दृष्टिकोण वही—ठि० जैन प्रिन्टिंग प्रेस, पो० सैलाना (म० प्र०)—सम्पादक रतनलाल डोसी—मुखपत्र, अ० भा० साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ।

७ **सन्मति संदेश**—प्रकाशन वर्ष १०—वा० मू० ५)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था दिगम्बर—दृष्टिकोण वही–ठि० ५३५, गान्धी नगर, पो० दिल्ली ३१—सम्पादक प्रकाशहितैषी शास्त्री—स्वामी वही।

८ **जैन**—प्रकाशन वर्ष ६४—वा० मू० १०)३७—भाषा गुजराती—आवृत्ति साप्ताहिक—व्यवस्था मंदिरमार्गी—दृष्टिकोण उदार मंदिरमार्गी—ठि० वडवा, पो० भावनगर (सौराष्ट्र)—सम्पादक सेठ गुलाबचन्द देवचन्द—स्वामी वही।

९ **जैन गजट**—प्रकाशन वर्ष ७०—वा० मू० ७)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति साप्ताहिक—व्यवस्था दिगम्बर—दृष्टिकोण वही—ठि० जैन गजट कार्यालय, रंगमहल, अजमेर—सम्पादक अजितकुमार शास्त्री—ठि० अभय प्रिन्टिंग प्रेस, अहाता केदारा, पहाड़ी धीरज, दिल्ली—मुखपत्र, अ० भा० दिगम्बर जैन महासभा।

१० **जैन दर्शन**—प्रकाशन वर्ष १५—वा० मू० ६)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति पाक्षिक—व्यवस्था दिगम्बर—दृष्टिकोण वही—ठि० इन्द्र भवन, तुकोगंज इन्दौर—सम्पादक लालबहादुर शास्त्री—मुखपत्र, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन सिद्धान्त संरक्षणी सभा।

११ **अनेकान्त**—प्रकाशन वर्ष १८—वा० मू० ६)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति द्वयमासिक—व्यवस्था दिगम्बर—दृष्टिकोण उदार तथा शोध—ठि० २१, दरियागंज, पो० दिल्ली ६—सम्पादक, डा० ए० एन० उपाध्ये, डी० लिट्० ; डा० प्रेमसागर जैन ; यशपाल जैन,—मुखपत्र समंत भद्राश्रम, वीर सेवामन्दिर, दिल्ली।

१२ **अहिंसा वाणी**—प्रकाशन वर्ष १५—वा०मू० ५)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था दिगम्बर—दृष्टिकोण समन्वय—ठि० अलीगंज, एटा (उ०प्र०) स्टेशन दरियावोगंज (N. E. R.)—सम्पादक वीरेन्द्र प्रसाद जैन आदि—संस्थापक, स्व० डा० कामताप्रसादजी जैन—मुखपत्र, अखिल विश्व जैन मिसन।

१३ **वायस आफ अहिंसा** (Voice of Ahimsa)—प्रकाशन वर्ष १५—वार्षिक मूल्य ५)००—भाषा अंग्रेजी—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था दिगम्बर—दृष्टिकोण समन्वय—ठि० पो० अलीगंज, एटा (उ० प्र०)—सम्पादक ज्योतिप्रसाद जैन वीरेन्द्रप्रसाद जैन आदि—मुखपत्र, दि वर्ल्ड

जैन मिसन'—स्व० अजितप्रसाद जैन, अजिताश्रम, लखनऊ के जैन गजट के उत्तराधिकार में स्व० कामताप्रसाद जैन द्वारा संस्थापित।

१४ **जिन वाणी**—प्रकाशन वर्ष २२—वार्षिक मूल्य ६)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था स्थानकवासी—दृष्टिकोण वही—ठि० जिनवाणी कार्यालय, जौहरी बाजार, कोटेवालों का रास्ता—सम्पादक चम्पालाल कर्णावट आदि—प्रकाशक सम्यग् ज्ञान प्रचारक मंडल, जयपुर—संस्थापक श्री जैन रत्न विद्यालय, भोपालगढ़—प्रबन्ध सम्पादक, भंवरलाल बोथरा।

१५ **श्रमण**—प्रकाशन वर्ष १६—वार्षिक मूल्य ५)०० भाषा हिन्दी—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था स्थानकवासी—दृष्टिकोण वही व शोध - ठि० जैनाश्रम, हिन्दू विश्वविद्यालय, पो० वाराणसी ५—सम्पादक डा० मोहनलाल मेहता, पी-एच० डी०—मुखपत्र, श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान का मुखपत्र।

१६ **जैन जगत्**—प्रकाशन वर्ष १८—वार्षिक मूल्य ४)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति मासिक—दृष्टिकोण निरपेक्ष—ठि० ५०५ कालबा देवी रोड, बम्बई-२—प्रकाशन स्थान पूना—सम्पादक ऋषभदास रांका—ठि० लक्ष्मी महल, फ्लैट नं० ६, बामनजी पेतित स्ट्रीट, बम्बई २६—मुखपत्र, भारत जैन महामण्डल।

१७ **सुधर्मा**—प्रकाशन वर्ष ६—वा० मू० ६)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था स्थानकवासी—दृष्टिकोण वही - ठि० ८३२, जूना बाजार पो० पाथर्डी (अहमदनगर)—सम्पादक शोभाचन्द भारिल्ल आदि—मुखपत्र श्री तिलोकरत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड।

१८ **जैन महिलादर्श**—प्रकाशन वर्ष ४४—वार्षिक मूल्य ५)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था दिगम्बर—दृष्टिकोण वही—ठि० खपाटिया चकला, पो० सूरत—सम्पादिका ब्रह्मचारिणी चन्दाबाई, आरा—प्रकाशक, मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत—मुखपत्र, भारतवर्षीय दि० जैन महिला परिषद्।

१९ **वीर वाणी**—प्रकाशन वर्ष १७—वार्षिक मूल्य ४)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति पाक्षिक—व्यवस्था दिगम्बर—दृष्टिकोण वही—ठि० वीर प्रेस, मनिहारों का रास्ता, पो० जयपुर—सम्पादक चैनसुखदास न्यायतीर्थ आदि—प्रकाशक भँवरलाल जैन।

२० **विजयानन्द** – प्रकाशन वर्ष ६—वार्षिक मूल्य ३)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था मंदिरमार्गी—ठि० ४११४।२, पो० अम्बाला—सम्पादक पृथ्वीराज जैन—स्वामी, श्री आत्मानन्द जैन महासभा, पंजाब, अम्बाला।

२१ **शाश्वत धर्म**—प्रकाशन वर्ष १३—वा० मू० ५)००—भाषा गुजराती हिन्दी—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था मंदिरमार्गी—प्रकाशन स्थान द्वारा राजमल लोढा, पो० मन्दसोर—सम्पादक सौभाग्यमल सेठिया—ठि० महावीर मार्ग, पो० निम्बा हेड़ा—संचालक, अखिल भारतीय श्री राजेन्द्र जैन नवयुवक परिषद्।

२२ **हिंसा विरोध**—प्रकाशन वर्ष १६—वा० मू० २)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था मन्दिरमार्गी—ठि० अहिंसा भवन, नगर रोढ का बण्डा, पो० अहमदाबाद—सम्पादक, बाला भाई गिरधरलाल शाह—मुखपत्र, हिंसा विरोधक संघ।

२३ **जैन धर्म प्रकाश**—प्रकाशन वर्ष अज्ञात—भाषा गुजराती—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था मन्दिरमार्गी-ठि० पो० भावनगर—सम्पादक, दीपचन्द जीवनलाल शाह—प्रकाशक जैन धर्म प्रसारक सभा।

२४ **आत्मानन्द प्रकाश**—प्रकाशन वर्ष ६२—भाषा गुजराती—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था मन्दिरमार्गी—दृष्टिकोण वही—ठि० पो० भावनगर (सौराष्ट्र)—सम्पादक,—प्रकाशक आत्मानन्द जैन सभा।

२५ **कल्याण**—प्रकाशन वर्ष २२—वा० मू० ५)५०—भाषा गुजराती—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था मन्दिरमार्गी—दृष्टिकोण वही—ठि० पो० वढवाण शहर (सौराष्ट्र)—सम्पादक वीरचन्द्र जगजीवन सेठ—स्वामी, कल्याण प्रकाशन मन्दिर।

२६ **अमीधारा**—प्रकाशन वर्ष २—वा० मू० ५)००—भाषा गुजराती—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था मन्दिरमार्गी—दृष्टिकोण वही—ठि० रिसाला बाजार, पो० डीसा (बनसकांठा)—सम्पादक मफतलाल संघवी—स्वामी वही।

२७ **जैन मित्र**—प्रकाशन वर्ष ६६—वा० मू० ७)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति साप्ताहिक—व्यवस्था दिगम्बर—दृष्टिकोण वही—ठि० गाँधी चौक, चांदावाड़ी पो० सूरत—सम्पादक, मूलचन्द किसनदास कापड़िया—मुखपत्र, दिगम्बर जैन प्रान्तिक सभा, बम्बई।

२८ **सेवा समाज**—प्रकाशन वर्ष ११—वा० मू० ८)००—भाषा गुजराती—आवृत्ति साप्ताहिक—व्यवस्था मन्दिरमार्गी—ठि० १३६ एस्प्लेनेड मैन्सन फुलर रोड, बम्बई-३१—सम्पादिका प्रमिला ओसवाल—स्वामी वही।

२९ **जैन सेवक**—प्रकाशन वर्ष ४—वा० मू० २)००—भाषा गुजराती—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था मन्दिरमार्गी—ठि० १२, अमर निवास, न्यू चार्नी रोड, बम्बई-४—सम्पादक, नटवरलाल एस० शाह, हनुमान भवन, बीजे मार्लो, २ पीकेट रोड, बम्बई-२—मुखपत्र, भारतीय जैन स्वयं-सेवक परिषद्, बम्बई।

३० **हितमितपथ्यसत्यम्**—प्रकाशन वर्ष ७—वा० मू० ३)००—भाषा गुजराती—आवृत्ति मसिक—व्यवस्था मन्दिरमार्गी—ठि० १, कृष्ण गली, स्वदेशी मार्केट, कालबा देवी रोड, बम्बई-२—सम्पादक, अरविंद एम० पारख—स्वामी वही।

३१ **वीर**—प्रकाशन वर्ष ४१—वा० मू० ४)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति पाक्षिक—व्यवस्था दिगम्बर—ठि० २०४, दरीबांकला, पो० दिल्ली-६ सम्पादक, मुकेश जैन, बनवारीलाल, परमेष्ठीदास,—मुखपत्र, श्री अखिल भारतीय दिगम्बर जैन परिषद्।

३२ **रत्न ज्योत**—प्रकाशन वर्ष २०—वा० मू० ३)७५—भाषा गुजराती—आवृत्ति पाक्षिक—व्यवस्था स्थानकवासी—ठि० रत्न ज्योत कार्यालय, पो० सुरेन्द्रनगर (सौराष्ट्र)—सम्पादक, अमृतलाल सवचन्द गोपाणी—मुखपत्र पं० श्री रत्नचन्द्रजी जैन ज्ञान मन्दिर।

३३ **श्वेताम्बर जैन**—प्रकाशन वर्ष १८—वा० मू० ८)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति साप्ताहिक—व्यवस्था मन्दिरमार्गी—ठि० १६२५, मोती कटरा, पो० आगरा-३०—सम्पादक, जवाहरलाल लोढा—स्वामी वही।

३४ **जैन**—प्रकाशन वर्ष ७—वा० मू० ३)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति साप्ताहिक—दृष्टिकोण निरपेक्ष—ठि० द्वारा श्री जैन सभा, ७—शम्भू मल्लिकलेन, कलकत्ता—७—सम्पादक, पन्नालाल नाहटा,—मुखपत्र, जैन सभा, कलकत्ता।

३५ **ओसवाल**—प्रकाशन वर्ष १२—वा० मू० ५)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति पाक्षिक—व्यवस्था ओसवाल—ठि० मानमल जैन, कड़क्का चौक, पो० अजमेर (राजस्थान)—सम्पादक, मानमल जैन 'मार्तण्ड'—स्वामी वही—मुखपत्र, ओसवाल समाज।

३६ **गुरुदेव**—प्रकाशन वर्ष ६—वा० मू० ३)००—भाषा कन्नड—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था दिगम्बर—ठि० C/O गुरुदेव कार्यालय, २५३—पेरालेल रोड, दर्जी गली पो० शिमोगा, (मैसूर)—सम्पादक, श्री देवेन्द्र कीर्ति स्वामीजी, पो० मूडविद्री (S. K.)

३७ **जैसवाल जैन बन्धु**—प्रकाशन वर्ष अज्ञात—भाषा हिन्दी—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था दिगम्बर -ठि० आदर्श प्रेस, पो० मुरैना (म० प्र०), सम्पादक, सुमतिचन्द्रजी शास्त्री—स्वामी वही

३८ **श्रमणोपासक**—प्रकाशन वर्ष २—वा० मू० ६)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति पाक्षिक—व्यवस्था स्थानकवासी—ठि० यगंड़ी मुहल्ला, पो० बीकानेर (राजस्थान)—सम्पादक, जुगराज सेठिया, देवकुमार जैन—मुखपत्र, अ० भारतीय साधुमार्गी जैन संघ।

३६ **वर्णी सन्देश**—प्रकाशन वर्ष २—वा० मू० ३)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था—दिगम्बर—ठि० ४८७६, धुलियागंज, पो० आगरा (उत्तर प्रदेश)—सम्पादक, सूरजभान प्रेमी—स्वामी वही।

४० **जैन भारती**—प्रकाशन वर्ष १४—वा० मू० १५)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति साप्ताहिक—व्यवस्था तेरापन्थी श्वेताम्बर—ठि० ३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-१—सम्पादक, मोहनलाल बाँठिया, बच्छराज संचेती—मुखपत्र, जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता

४१ **वर्णी प्रवचन**—प्रकाशन वर्ष ६—वा० मू० १)८०—भाषा हिन्दी—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था दिगम्बर—ठि० सुमति प्रसाद जैन, २१ ए, दालमण्डी सदर, मेरठ (उ० प्र०)—सम्पादक, जितेन्द्र कुमार जैन, द्वारा श्री लाला जोधमल कैलाशचन्द्र जैन,—प्रकाशक, वर्णीप्रवचन प्रकाशिनी संस्था, सदर बाजार, मेरठ।

४२ **अमर भारती**—प्रकाशन वर्ष २—वा० मू० ५)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था स्थानकवासी—ठि० द्वारा सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा (लोहामण्डी) पो० आगरा (उ० प्र०)—सम्पादक, वीरेन्द्र सिंह सकलेचा, एम० ए०—मुखपत्र, श्री सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा।

४३ जैन प्रकाश—प्रकाशन वर्ष ५२—वा० मू० ७)००—भाषा गुजराती—आवृत्ति पाक्षिक—व्यवस्था स्थानकवासी—ठि० १, पाचुनी, बम्बई-३ चौथे माले—सम्पादक, खीमचन्द मगनलाल वोरा—मुखपत्र, अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेन्स।

४४ **अहिंसा**—प्रकाशन वर्ष ११—वा० मू० ५)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति पाक्षिक—व्यवस्था दिगम्बर—ठि० अहिंसा कार्यालय, बोरड़ी बाजार, पो० जयपुर (राजस्थान)—सम्पादक, पण्डित इन्द्रलाल शास्त्री, विद्यालंकार, जयपुर—स्वामी वही।

४५ **जैन सिद्धान्त भास्कर**—प्रकाशन वर्ष २३—वा० मू० ६)००—भाषा हिन्दी, अँग्रेजी—आवृत्ति अर्धवार्षिक—व्यवस्था दिगम्बर—दृष्टिकोण निरपेक्ष—ठि० जैन सिद्धान्त भवन, पो० आरा (बिहार)—सम्पादक, ज्योतिप्रसाद जैन, नेमीचन्द्र जैन शास्त्री—मुखपत्र देवकुमार जैन ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, आरा।

४६ **तरुण जैन**—प्रकाशन वर्ष १२—वा० मू० ७)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति साप्ताहिक—व्यवस्था स्थानकवासी—ठि० महावीर प्रेस, त्रिपोलिया बाजार, पो० जोधपुर—सम्पादक, फतेहसिंह जैन—स्वामी वही—संस्थापक स्व० बा० पद्मसिंहजी जैन।

४७ **जैनोदय**—प्रकाशन वर्ष १—वा० मू० १०)००—भाषा गुजराती—आवृत्ति साप्ताहिक—दृष्टिकोण निरपेक्ष—ठि० जगजीवन चतुरनी पाल, पो० सुरेन्द्रनगर (सौराष्ट्र)—सम्पादक, श्रीकांत जैन—स्वामी वही।

४८ **आत्म धर्म**—प्रकाशन वर्ष २०—वा० मू० ३)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था दिगम्बर (आत्मवादी)—ठि० श्री दिगम्बर स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, पो० सोनगढ—सम्पादक, जगजीवन बावचन्द डोसी—मुखपत्र, दिगम्बर स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट।

४९ **जैन प्रचारक**—प्रकाशन वर्ष ५७—वा० मू० अज्ञात—भाषा हिन्दी—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था दिगम्बर—ठि० करकर जैन बालाश्रम (अनाथाश्रम), दरियागंज, पो० दिल्ली—सम्पादक, चन्द्रमौलि जैन शास्त्री, न्यायतीर्थ—मुखपत्र, श्री भा० अनाथ रक्षक जैन सोसाइटी।

५० **ज्ञान**—प्रकाशन वर्ष १७—वा० मू० अज्ञात—भाषा हिन्दी—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था दिगम्बर—ठि ३५, डिप्टीगंज (महावीर नगर), पो० दिल्ली—सम्पादक, जैन वैद्य मामनसिंह 'प्रेमी'—मुखपत्र, जम्बूकुमार संघ।

५१ **दिगम्बर जैन**—प्रकाशन वर्ष ५८—वा० मू० ३)५०—भाषा हिन्दी गुजराती—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था दिगम्बर—ठि० खपाटी चकला, गाँधी चौक, पो० सूरत—सम्पादक, मूलचन्द किसनदास कापड़िया—स्वामी वही।

५२ **जैन संगम**—प्रकाशन वर्ष ३—मू० ३)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था दिगम्बर—दृष्टिकोण, सर्व जीव समाज—ठि० द्वारा युगल किशोर जैन, एन० ७, गणपतिनगर, पो० जयपुर (राजस्थान)—सम्पादक, महावीर कोटिया, एम० ए०, बी० टी०, ४३१६।३, तोता मोहल्ला, अनाजमण्डी, अम्बाला केण्ट—मुखपत्र, पल्लीवाल जैन समाज, जयपुर।

५३ **जैन शिक्षण साहित्य पत्रिका**—प्रकाशन वर्ष ६—वा० मू० ३)००—भाषा गुजराती—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था मन्दिरमार्गी—ठि० श्री शान्तिनाथजी जैन हैहयमर, पामधुनी, बम्बई ३—सम्पादक, केशवलाल मोहनलाल शाह—मुखपत्र, श्री जैन धार्मिक शिक्षण संघ, बम्बई।

५४ **जैन सिद्धान्त**—प्रकाशन वर्ष १६—वा० मू० ५)००—भाषा गुजराती—आवृत्ति मासिक—दृष्टिकोण, मूर्ति पूजा समाज—ठि० जैन सिद्धान्त सभा, शान्ति सदन, २५६ लेमिंग्टन रोड, बम्बई ७—संपादक नगीनदास, गिरधरलाल सेठ—स्वामी जैन सिद्धान्त सभा, बम्बई।

५५ **जैन प्रवचन**—प्रकाशन वर्ष अज्ञात—भाषा गुजराती—आवृत्ति साप्ताहिक—व्यवस्था मंदिरमार्गी—ठि० जैन प्रवचन कार्यालय, सेठ श्रीमान् सुख भाई की पोल दवाखाना, मेड़ापुर कालुपुर, पो० अहमदाबाद।

५६ **महावीर शासन**—प्रकाशन वर्ष १३—वा० मू० ५)००—भाषा गुजराती—आवृत्ति साप्ताहिक—व्यवस्था मंदिरमार्गी—ठि० श्री महावीर शासन प्रकाशन मंदिर, शाक मार्केट सामे पो० जामनगर (सौराष्ट्र)—संपादक मंगललाल चतुर्भुज मेहता—मुखपत्र, महावीर शासन प्रकाशन मंदिर, लाखा बावल।

५७ **दिव्य दर्शन**—प्रकाशन वर्ष अज्ञात—भाषा गुजराती—आवृत्ति साप्ताहिक—व्यवस्था मन्दिरमार्गी—ठि० दिव्यदर्शन प्रकाशन समिति, पो० बदवान शहर (सौराष्ट्र)—संपादक चतुरदास चिमनदास शाह।

५८ **अहिंसा शोध पीठ न्यूज लेटर**—प्रकाशन वर्ष अज्ञात—भाषा अंग्रेजी—आवृत्ति साप्ताहिक—व्यवस्था स्थानकवासी—दृष्टिकोण अंतर्राष्ट्रीय—ठि० १२, लेडी हार्डिंग रोड, नई दिल्ली-१—संपादक डा० बूलचन्द—मुखपत्र अहिंसा शोधपीठ, समाधि राजघाट, नई दिल्ली।

५९ **कथा भारती**—प्रकाशन वर्ष अज्ञात—भाषा गुजराती—आवृत्ति मासिक —ठि० शान्तिलाल, अमृतलाल, रतनपोल, हाथीखाना, पो० अहमदाबाद —संपादक बाबूलाल चुन्नीलाल शाह—स्वामी वही।

६० **वर्धमान**—प्रकाशन वर्ष ३८—वा० मू० अज्ञात—दृष्टिकोण निरपेक्ष—भाषा हिन्दी—आवृत्ति मासिक—ठि० २३५५, देहली—संपादक दीपचन्द्र जैन—स्वामी वही।

६१ **श्रेयोमार्ग**—प्रकाशन वर्ष अज्ञात—वा० मू० ६)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था दिगम्बर—ठि० शांतिवीर जैन सिद्धान्त प्रचारिणी सभा, श्री महावीरजी पो० जयपुर (राजस्थान)—सम्पादक पं० श्री लालजी जैन, काव्यतीर्थ।

६२ **जैन बोधक**—प्रकाशन वर्ष ८१—वा० मू० ६)००—भाषा मराठी—आवृत्ति साप्ताहिक—व्यवस्था दिगम्बर—ठि० जैन बोधक कार्यालय, कल्याण भवन, पो० शोलापुर—सम्पादक पं० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री —मुखपत्र, श्री धर्मवीर स्व० रावजी सखाराम दोषी स्मारक संघ।

६३ **सन्मति**—प्रकाशन वर्ष १५—वा० मू० ६)००—भाषा मराठी—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था दिगम्बर—ठि० पो० बाहुबली (कुंभोज) जि० कोल्हापुर—सम्पादक मा० ज० भीसीकर डा० हेमचन्द्र जैन, सुमेर के० जैन—स्वामी श्री बाहुबली ब्रह्मचर्याश्रम, बाहुबली।

६४ **बुद्धिप्रभा (जैन डाइजेस्ट)**—प्रकाशन वर्ष ६—वार्षिक मूल्य ५)००—भाषा गुजराती—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था मन्दिरमार्गी—ठि० जे० एन० दंताय, १२-१६ तीजा माला, बम्बई-१२ भाडवाड़ों ; या भगवान शाह, १७०।७२ गुलालवाड़ी, १ माले, बम्बई-४—सम्पादक गुणवंत शाह—स्वामी इन्दिरा गुणवंत शाह।

६५ **ज्योत्स्ना**—प्रकाशन वर्ष अज्ञात—भाषा गुजराती—वा० मू० अज्ञात—ठि० ओसवाल यूथ लीग, पोस्ट बाक्स नं० २३६४, नैरोबी, केन्या, पूर्व अफ्रीका—सम्पादक नेमीचन्द्र वी० शाह।

६६ **प्रगति जिन विजय पत्र**—प्रकाशन ६४—वा० मू० ५)००—भाषा मराठी—आवृत्ति साप्ताहिक—व्यवस्था दिगम्बर—ठि० दक्षिण भारत जैन सभा, पो० सांगली (कोल्हापुर), सांगली—सम्पादक बी० वी० मालगवी, कार्यकारी सम्पादक एम० एस० चौगुले—ठि० बेलगांव—मुखपत्र दक्षिण भारत जैन सभा।

६७ **मणिभद्र**—प्रकाशनवर्ष षष्ठ पुष्प—वा० मू० अज्ञात—भाषा हिन्दी—आवृत्ति अनिश्चित—व्यवस्था मन्दिरमार्गी तपागच्छ—ठि० घीवालों का रास्ता, आत्मानन्द सभा भवन, जयपुर (राजस्थान)—सम्पादक अज्ञात—मुखपत्र श्री जैन श्वेताम्बर तपागच्छ संघ।

६८ **कच्छमित्र**—प्रकाशन वर्ष ११—वा० मू० ६)००—भाषा गुजराती—आवृत्ति साप्ताहिक व दैनिक—ठि० कच्छमित्र कार्यालय, वाणियावाड़ पो० भुज (सौराष्ट्र)—सम्पादक रूपखलाल मेहता—स्वामी सौराष्ट्र ट्रस्ट।

६९ **विश्व वात्सल्य**—प्रकाशन वर्ष १६—वा०मू० ६)०० भाषा गुजराती—आवृत्ति पाक्षिक—व्यवस्था स्थानकवासी—ठि० विश्व वात्सल्य कार्यालय, हठीभाई नी वाड़ी, अहमदाबाद,—प्रेरक मुनिश्री संतलालजी।

७० **दशाश्रीमाली**—प्रकाशत वर्ष १४—वा० मूल्य ४)००—भाषा गुजराती—आवृत्ति पाक्षिक (ता० १ व १५)—व्यवस्था दशाश्रीमाली—ठि० सौराष्ट्र दशाश्रीमाली सेवा संघ, रणवीर बिल्डिंग, बिजे माले, ६४ प्रिन्सेस स्ट्रीट, बम्बई-२—सम्पादक एम० जे० देसाई, २७ गुरुकुल चेम्बर्स, १८७-६ मुम्बादेवी रोड, बम्बई-२—मुखपत्र श्रीसौराष्ट्र दशाश्रीमाली सेवासंघ।

७१ **झालावाड़ स्थानकवासी जैन सभा पत्रिका**—प्रकाशन वर्ष ११—वा० मू० २)००, ३ वर्ष ५)०० भाषा गुजराती—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था झालावाड़ी स्थानकवासी—ठि० झालावाड़ी स्थानकवासी जैन सभा, ४७ कोल मोट लेन, पहला माला, कालबादेवी रोड, बम्बई-२—सम्पादक खींवचन्द वोहरा, केशवलाल शाह—स्वामी झालावाड़ स्थानकवासी जैन सभा, बम्बई।

७२ **वढ़वाण मित्र मण्डल पत्रिका**—प्रकाशन वर्ष ४—वा० मू० १)००—भाषा गुजराती—आवृत्ति पाक्षिक—ठि० २१४—जगर निवास, ब्लाक नं० १०, शिवं (Sion) बम्बई-२२—सम्पादक प्राणलाल वीरचन्द बोहरा—संचालक वढ़वाण मित्र मण्डल, बम्बई।

७३ **ओसवाल गजट**—प्रकाशन वर्ष ५—वा० मू० ७)६२ भाषा उर्दू—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था ओसवाल समाज—ठि० पो० कुम्बा भाइका (फिरोजपुर)—सम्पादक पूरनचन्द ओसवाल।

७४ **कच्छी दशा ओसवाल प्रकाश समीक्षा**—प्रकाशन वर्ष ४४—वा० मू० ३)००—भाषा गुजराती—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था मन्दिर-

मार्गी—ठि० ६, केशवजी नायक रोड, बम्बई-६—सम्पादक सनत् शाह, बी० ए० (आनर्स), एल-एल बी०—स्वामी प्रकाश समीक्षा समिति, बम्बई।

७५ **आत्मधर्म**—प्रकाशन वर्ष अज्ञात—वा० मू० ४)००—भाषा गुजराती—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था दिगम्बर (आत्मवादी)—ठि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, पो० सोनगढ़—सम्पादक जगजीवन बावचन्द डोसी—मुखपत्र, जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट।

७६ **सत्यार्थ**—प्रकाशन वर्ष प्रथम—वा० मू० २)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था निरपेक्ष—ठि० कैलाशचन्द्र जैन पंचरत्न, मकान नं० ४११।७६, गामा पुल के पास, चौक, लखनऊ-३—स्वामी—कैलाशचन्द्र जैन।

७७ **दिव्यद्वीप**—प्रकाशन वर्ष अज्ञात—वा० मू० अज्ञात—भाषा गुजराती—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था मंदिरमार्गी—ठि० दिव्य ज्ञान संघ, १३७, सुभाष रोड, बम्बई-१।

७८ **पद्मावती पुरवाल**—प्रकाशन वर्ष २—वा० मू० ३)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था दिगम्बर—ठि० १५७, नेताजी सुभाष रोड, कलकत्ता-१—सम्पादक जुगमन्दिरदास जैन—स्वामी वही—मुखपत्र, दिगम्बर जैनों के पद्मावती पुरवाल समाज।

७९ **जैन ज्योति**—प्रकाशन वर्ष २२—वा० मू० २)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति त्रैमासिक—ठि० जैन ज्योति कार्यालय, गंज, पो० अजमेर—सम्पादक प्रकाशमल जैन।

८० **धर्म-वाणी**—प्रकाशन वर्ष १—वा० मू० १)००—भाषा हिन्दी—आवृत्ति मासिक—व्यवस्था दिगम्बर समाज—ठि० मकान नं० ४१।७६, गामा पुल के पास, चौक, लखनऊ—सम्पादक कैलाशचन्द्र जैन—स्वामी वही।

८१ **श्री नाकोड़ा अधिष्ठायक भैरव**—प्रकाशन वर्ष १—वा०मू० अज्ञात—भाषा हिन्दी—आवृत्ति पाक्षिक—व्यवस्था मन्दिरमार्गी—ठि० मेवानगर, बालोतरा (राजस्थान)—सम्पादक अज्ञात—स्वामी अज्ञात।